समर शेष है...

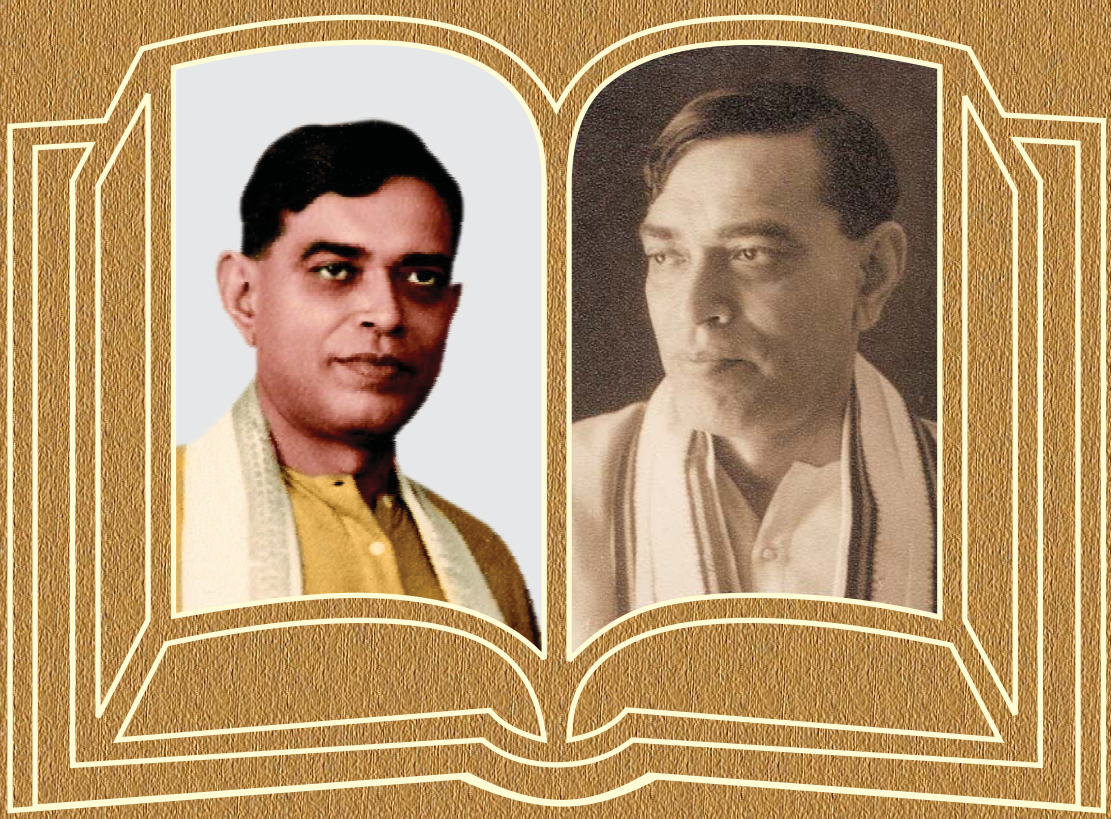

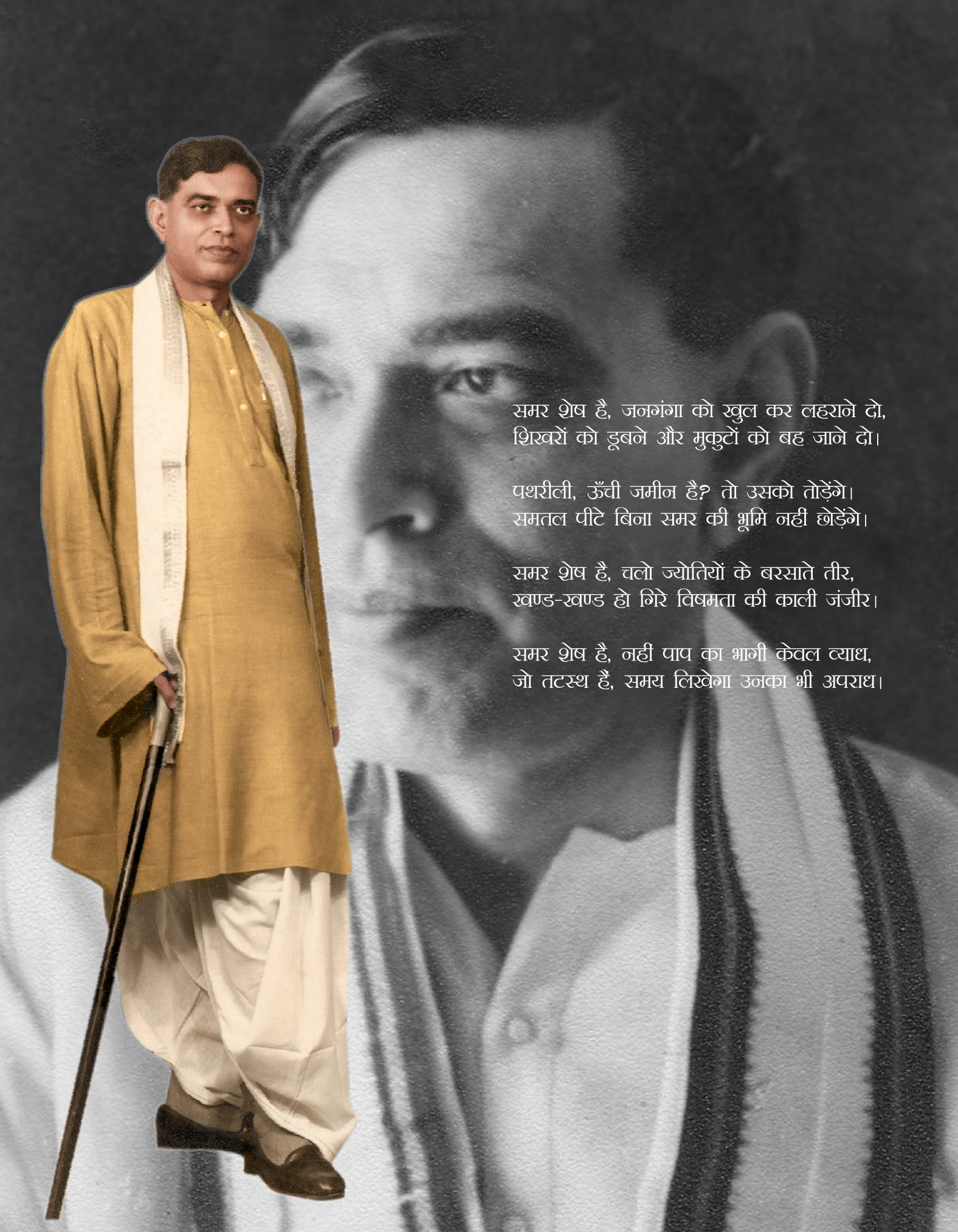

समर शेष है, जनगंगा को खुल कर लहराने दो,
शिखरों को डूबने और मुकुटों को बह जाने दो।

पथरीली, ऊँची जमीन है? तो उसको तोड़ेंगे।
समतल पीटे बिना समर की भूमि नहीं छोड़ेंगे।

समर शेष है, चलो ज्योतियों के बरसाते तीर,
खण्ड-खण्ड हो गिरे विषमता की काली जंजीर।

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

संपादकीय

दिनकर की लेखनी गहन भावनाओं की प्रवाहमान धारा है। उसमें अगर उल्लास मौजूद है, तो यथार्थबोध की पीड़ा भी है। अगर हर्ष का प्रकाश है, तो विषाद का धुँधलका भी है। दृढ़-निश्चय का स्वच्छ आकाश है, तो द्वंद्व का कुहासा भी। गर्जन है, तो वेदना की लकीरें भी। व्यवस्था के प्रति क्षोभ है, तो एक बेहतर विश्व की आशा भी। सौभाग्य की मंजूषा है; तो अपनों के कष्टों का दुर्भाग्य भी, मुसीबतों का अम्बार भी, क्षुब्धता का पारावार भी और मौन का हाहाकार भी। शायद इसीलिए बहुरंगी विचारों के धनी दिनकर के बगीचे में सभी रंगों के फूल खिलते हैं। उनके व्यक्तित्व का व्यापक धरातल और मस्तिष्क की उर्वर खाद ही वह आधार है, जहाँ से ये फूल खुशबू और रंगत बटोरकर दुनिया को खूबसूरत बनाते हैं। उसमें ताजगी भरते हैं।

यह दिनकर हैं जिन्हें हालात ने वेदनाओं से नहलाया है, आँसुओं से धोया है और काँटों से पिरोया है: *जलन हूँ, दर्द हूँ, दिल की कसक हूँ; किसी का हाय, खोया प्यार हूँ मैं।* दिनकर की रचनाओं में संवेदनाओं के दर्शन बड़ी आसानी से किए जा सकते हैं- 'प्रणभंग' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक। उनमें वेदना की अनुभूति कर पाने की सामर्थ्य है। शायद इसीलिए उनका हृदय व्योम-सा है क्योंकि वे जानते हैं :

हृदय छोटा हो,
तो शोक वहाँ नहीं समाएगा।
और दर्द दस्तक दिए बिना लौट जाएगा।

हृदय की यह विशालता उन्हें राष्ट्रकवि ही नहीं; महान गद्यकार, चिंतक, संस्कृति-विद्वान और सबसे बढ़कर एक उम्दा इंसान बनाती है। ऐसा इंसान जिसे आम जन-जीवन की चिंता है; देश, समाज, संस्कृति और विश्व की चिंता है। युद्ध जैसी वैश्विक समस्या को लेकर लिखी गई उनकी कृति 'कुरुक्षेत्र' क्या यह साबित नहीं करती कि युद्ध में चाहे जो पक्ष जीते, हार तो मानवता को ही झेलनी पड़ती है? मानवता की रक्षा के लिए लेखनी उठाना क्या एक महान रचनात्मक कर्म नहीं? मानवता

को हार से बचाने के लिए जब दिनकर अतीत की खिड़कियाँ खोलकर बाहर झाँकते हैं और परदों की धूल झाड़ते हैं तो यह क्या! वहाँ भी वही बेबसी। विनाश। चीत्कार। धधकता अंबर! दूर तक चीखता सन्नाटाः *वह कौन रोता है वहाँ- इतिहास के अध्याय पर!*

राष्ट्रीय भावना का उद्घोष करने वाले दिनकर चिरयुवा हैं, उनके काव्य में अपार ऊर्जा और प्रेरणा के ओजस्वी स्वर हैं। वे लिखते हैं कि व्यास ने भीष्म का जो चरित्र अंकित किया है, वह अत्यंत उच्चकोटि का है। आश्चर्य है कि उतना बड़ा मनुष्य दुर्योधन के अत्याचारों को चुपचाप सहता रहा। महाभारत में भीष्म के मुख से कहलाया गया है कि वे चुप्पी इसलिए साधे हुए थे कि उन्होंने दुर्योधन का नमक खाया था। दिनकर मानते हैं कि वास्तविक कारण यह था कि वे वृद्ध हो गए थे और कोई भी क्रांतिकारी निर्णय वृद्ध मनुष्य नहीं ले सकता। इन बातों से युवावस्था में, ऊर्जा में और कर्मठता में दिनकर की गहरी आस्था प्रकट होती है। उद्यमिता में अटूट विश्वास प्रकट होता हैः *प्रकृति नहीं डरकर झुकती है, कभी भाग्य के बल से; सदा हारती वह मनुष्य के उद्यम से, श्रमबल से।*

दृष्टि सभी में होती है, अंतर्दृष्टि विरलों में। सवाल है कि बाह्य जगत् को देखने वाली आँखें क्या कभी मन के दरवाजे पर दस्तक दे पाती हैं? भीतर के आलोक और अंधकार को महसूस कर पाती हैं? 'उर्वशी' दिनकर की काव्य-प्रतिभा की ऐसी ही फल-सिद्धि है जो उनके मन में पहले से ही 'कहीं पड़ी हुई' थी। 'उर्वशी' वास्तव में ऐन्द्रिकता के सहारे अतीन्द्रिय जगत् के संस्पर्श का सफल प्रयास है; काम, अध्यात्म और प्रेम का साहित्यिक चित्रांकन है। मानव-मन की सहज भावनाओं को समेटने वाली उर्वशी को छेड़ना जितना सरल है, छोड़ना उतना ही कठिन। अपनी इस कृति में राग के अतुल्य उद्गाता दिनकर ने एक सहज मानवीय कथ्य को सरल किंतु सशक्त शिल्प में ऐसा आकार दिया है कि हृदय के तार झंकृत हुए बिना रह ही नहीं सकतेः

और वक्ष के कुसुम-कुञ्ज, सुरभित विश्राम-भवन ये
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।

प्रेम क्या है? क्या कोई शर्त, कोई आकांक्षा, कोई संतुष्टि, कोई तर्क, कोई भावना, किसी इच्छा की पूर्ति, कोई कामना या फिर वासना? प्रेम के आयामों का क्षितिज कितना विस्तार ग्रहण कर सकता है? क्या पुरूरवा का भौतिक प्रेम उसे आध्यात्मिक जगत् में नहीं पहुँचाता? उसमें काम का कौन-सा रूप विद्यमान था जिसने उसे ईश्वर की ओर उन्मुख किया? काम, जिसका अर्थ आज के भूमंडलीकृत विश्व में 'सेक्स' तक ही सिमटकर रह गया है, की प्रेम में क्या भूमिका है? क्या 'सेक्स' जैसा शब्द काम के उचित महत्व को समग्रता में रूपायित कर पाता है? और फिर काम, प्रेम के मार्ग में साधक है या बाधक? या इन दोनों से परे, पलायनवाद का आराधक? 'उर्वशी' में ऐसे कितने ही सवाल हैं जो अनुत्तरित मौन के दायरे में भयंकर तूफान खड़ा करते हैं। दिनकर लिखते हैं कि *उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है; पुरूरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलनेवाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य। पुरूरवा द्वंद्व में है, क्योंकि द्वंद्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी। नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में संतोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग रहने नहीं देती, और जब वे मिल जाते हैं, तब भी,*

उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।

नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का संधान पुरुष तब पाता है, जब शरीर की धारा, उछालते-उछालते, उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँच कर निस्पन्द हो जाता है।

और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है, जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुँचना चाहती है।

परिरम्भ-पाश में बँधे हुए प्रेमी, परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके, किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है। इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।

कवि और कविता का अपने समय के सभी सरोकारों से गहरा रिश्ता होता है। कवि की दृष्टि बहुत सूक्ष्म होती है। दिनकर के शब्दों में कवि *सामाजिक जीव* होता है। इसीलिए समर्थ रचनाकार सृजन की प्रक्रिया के दौरान काल के विशाल खण्डों में व्याप्त सार्थक चरित्रों को उठाता है। ऐसा करते हुए वह संकुचित दुनिया और सीमित बुद्धि जैसे अनेक कारकों के खिलाफ विद्रोह का झण्डा बुलंद करता है जो कला की दुनिया को परंपराओं और रूढ़ियों में कैद किए रखना चाहते हैं। 'रश्मिरथी' कर्ण के चरित्र के उद्धार के लिए दिनकर द्वारा किया गया एक ऐसा ही महान प्रयास है, जहाँ सामाजिक विसंगतियाँ भलीभाँति रेखांकित कर ली गईं हैं। दानवीर कर्ण का चरित्र निखरकर हमारे सामने पूरे औदात्य के साथ आता है : *मित्रता बड़ा अनमोल रतन, कब इसे तोल सकता है धन?* दिनकर की ऐसी अनेक कविताएँ हैं जो काव्य की सोद्देश्यता की अनुपम व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं, कला के मानवीय प्रयोजन को रेखांकित करती हैं और साहित्य की सार्थकता को सिद्ध करती हैं।

किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व की व्यञ्जना उसकी कृतियों से होती है। दिनकर की, गद्य और पद्य मिलाकर, कुल तकरीबन साठ कृतियाँ हैं। इसके अलावा 'दिनकर की डायरी' भी दिनकर को समझने में काफी मदद करती है। उनकी डायरी इन्द्रधनुषी भावजगत के विविध आयामों से हमारा साक्षात्कार कराती है। पत्रों और डायरियों में दिनकर ने लिखा है कि जो पद हमें नहीं मिला है, अपने को उसके योग्य सिद्ध करना आसान है; किंतु जिस पद पर हम हैं, उसकी योग्यता सिद्ध करना बड़ा कठिन काम है। ...छलपूर्ण प्रशंसा से उपयोगी आलोचना श्रेष्ठ है, मगर कम ही लेखक उसे पसन्द करते हैं। ...महापुरुषों की कीर्ति उन साधनों से नापी जानी चाहिए, जिनका प्रयोग कीर्ति पाने के लिए किया गया हो। ...जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, आदमी के ज्ञान के साथ उसकी मूर्खता में भी वृद्धि होती है। ...विरह छोटे प्रेम को संकीर्ण और बड़े प्रेम को विस्तृत बनाता है। तूफान दीये को बुझा देता है किंतु होली की आग को खूब भड़काता है। दिनकर की लेखनी में ऐसी अनेक बातें हैं, जो साहित्यकारों समेत सभी के लिए उपयोगी और प्रासंगिक हैं। आगे भी रहेंगी।

जनतंत्र का जन्म में *सिंहासन खाली करो, कि जनता आती है...* लिखकर कवि ने यही साबित किया है कि राजनीति और प्रशासन को जनता के हित के लिए काम करना चाहिए क्योंकि *जनता, सचमुच ही बड़ी वेदना सहती है।* फावड़े और हल को राजदंड बनाने का दिनकर का स्वप्न

क्या हमें एक शांतिपूर्ण समाज-रचना की ओर अग्रसर नहीं करता! सिमरिया में जन्मे दिनकर को खेतों-खलिहानों और मजूरों-किसानों से बहुत प्रेम रहा है। जिस तरह सामरसेट माम को भारत में और कुछ चाहे दिखा हो या न दिखा हो, यहाँ के किसान उन्हें जरूर दिखे थे; उसी तरह दिनकर की दृष्टि भी कोमल संवेदनाओं से युक्त है। शायद इसीलिए पक्षियों और बादलों को *भगवान के डाकिये* मानने वाले दिनकर ने वैभव की दीवानी दिल्ली को *कृषक-मेध की रानी* कहा है।

दिनकर के पास सुस्पष्ट ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का एक मजबूत हथौड़ा है, जिससे वे अतीत की चट्टान तोड़कर वर्तमान की वेगवान धारा निकालते हैं। समकालीन समस्याओं के निदान और मानवता के संकटों को सुलझाने के लिए उन्होंने कई बार इतिहास का सहारा लिया है। लेकिन उनका उद्देश्य क्या इतिहास को दुहराना भर ही था? नहीं। उन्होंने अनेक स्थलों पर लिखा भी है कि उनके लक्ष्य उच्चतर रहे हैं। आखिर वर्तमान की उत्पत्ति अतीत के गर्भ से ही होती है! अतीत के दुर्भेद्य किले की ऊँची-ऊँची चारदीवारें लाँघकर ही समकालीनता की एक विधायक समझ बनायी जा सकती है। कच्ची पगडंडियों और पथरीली राहों पर चलने वाले साहसी पथिकों की यात्राएँ दुर्गम, बीहड़ और पीड़ादायी तो होती हैं, लेकिन बिना प्रसव-पीड़ा के कोई जन्म भी तो नहीं होता! 'उर्वशी' के लिए दिनकर ने यह पीड़ा लगातार आठ वर्षों तक झेली है।

क्या कोई रचनाकार न्याय और अन्याय, सृजन और विनाश या स्वार्थ और परमार्थ जैसी विरोधी स्थितियों के बीच उदासीन बना रह सकता है? तटस्थ बना रह सकता है? तटस्थ रहने में सुरक्षा तो मिल सकती है; दायित्व-निर्वहन का तोष नहीं मिल सकता, समरभूमि में शहीद होने का आनंद नहीं मिल सकता। दिनकर ने तटस्थता को कोई मूल्य नहीं माना है। वे तटस्थता के बहेलिये हैं। उन्होंने लिखा है :

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

दिनकर की जन्मशती के सुअवसर पर *'समर शेष है...'* के संपादन का दायित्व, जो मुझे सौंपा गया, निभाने की मैंने पूरी कोशिश की है। फिर भी मैं मानता हूँ कि गलतियाँ रह गईं होंगी। देश-परदेस के अनेक सहयोगी रचनाकारों का मैं आभारी हूँ कि उन सबने दिनकर जी से जुड़ी रचनाएँ भेजकर मुझे कृतज्ञ किया है। बहुत कम रचनाएँ *'समर शेष है...'* में प्रकाशित हो पा रही हैं क्योंकि मेरा मानना है कि संपादक की शक्तियाँ बहुत कम, सीमाएँ बहुत ज्यादा होती हैं। मैं सभी सहयोगियों को कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ। *राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास* के अध्यक्ष नीरज कुमार को तो खासतौर पर, जो दिनकर के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए पूर्णतः कटिबद्ध और समर्पित रहे हैं। *समर शेष है...* उनके अनेक प्रयासों की शृंखला की एक कड़ी मात्र है, उन प्रयासों की, जो आगे भी और मजबूती से जारी रहेंगे।

23 सितम्बर, 2007
विक्रम संवत् 2064, भाद्रपद शुक्ल पक्ष

प्रांजल धर

(प्रांजल धर)

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास का सफरनामा

सदियों पुरानी बहुआयामी गंगा-जमुनी तहजीब, जहाँ बुद्ध और महावीर की अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय; गुरुनानक और कबीर का अप्रतिम भाईचारा, विश्व-बन्धुत्व, सहिष्णुता; शंकराचार्य, गांधी और विवेकानंद की सत्यनिष्ठा गुँजायमान होती रही, उस भूमि पर आज वसुधैव-कुटुम्बकम् की अवधारणा और भी प्रासंगिक हो गई है। आज सर्वत्र हिंसा, आतंक, अत्याचार, अनाचार, शोषण, उत्पीड़न, विषमता एवं भ्रष्टाचार ने रौद्र रूप धारण कर रखा है। जीवन का कोई भी क्षेत्र शायद ही अछूता हो, जहाँ मानवीय मूल्यों में गिरावट न आयी हो। निश्चित रूप से इस संक्रमण के दौर में जन-कल्याणकारी और मानवतावादी संगठनों का निर्माण समय की जरूरत है। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास वर्तमान समय में विद्यमान विसंगतियों के विरोध में एक स्वतःस्फूर्त प्रयास है। समय की माँग और इन विसंगतियों को देखते हुए न्यास की स्थापना के विचारों का अंकुर फूटा। ज्ञान की भूमि नालंदा, न्यास की जन्मभूमि बनी। जिस भूमि से ज्ञान की रश्मियाँ प्रस्फुटित होकर पूरे विश्व में फैलीं, उसके गर्भ से अगर राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास की उत्पत्ति हुई है तो यह सहज और स्वाभाविक ही है।

ऊर्जस्वित विचारों और गरिमामयी अनुभूतियों से ओत-प्रोत संकल्पों के साथ राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास ने साहित्य एवं समाज के सूर्य रामधारी सिंह 'दिनकर' के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया। दिनकर का व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी जन-चेतना का संवाहक है। 11 जून 1996 को मैंने शिक्षाविद् और तत्कालीन विधान-पार्षद डॉ. अरुण कुमार, वरीय अधिवक्ता

मारीशस के राष्ट्रकवि डॉ. ब्रजेन्द्र भगत 'मधुकर', स्मारिका का विमोचन करते हुए, साथ में हैं राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास के अध्यक्ष नीरज कुमार

दिनकर नगर के शिलान्यास के अवसर पर श्रीमती मधुकर, डॉ. अरुण कुमार और राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास के सचिव सुनील कुमार

बुनियादी प्रयासों की एक झलक, दिनकर नगर, नालंदा

रमेश प्रसाद सिंह एवं सुनील कुमार से परामर्श एवं सुझाव लेकर न्यास के गठन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। इसके बाद इन्हीं गणमान्य व्यक्तियों के मार्गदर्शन में 23 सितम्बर 1996 को (दिनकरजी के 89वें जन्मदिवस के सुअवसर पर) राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास का विधिवत गठन हुआ। वास्तव में दिनकर जैसे निष्काम कर्मयोगी, जिनका जीवन मानवता, शैक्षणिक उन्नयन एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए समर्पित था, के नाम पर न्यास का नामकरण गौरव की बात है। जनचेतना के उद्घोषक, क्रांतिवीर, राष्ट्रकवि दिनकर आजीवन ज्ञान-साधना में रत रहते हुए अपनी अद्भुत साहित्यिक सृजनशीलता के द्वारा ज्ञान की मशाल जलाकर जनमानस को आलोकित करते रहे। सच्चे मायने में इस महामानव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जनमानस से अवगत कराने की दिशा में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास एक छोटा-सा प्रयास है।

न्यास विगत् ग्यारह वर्षों से दिनकर के सपनों को साकार कर सबल, आत्मनिर्भर एवं समृद्ध भारत के निर्माण में अनवरत अपना योगदान दे रहा है। न्यास देश की एकता एवं अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु राष्ट्र की मुख्यधारा से कदम से कदम मिलाकर चल रहा है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। यहाँ हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि अनेक धर्मों के लोग आपस में मिल-जुलकर रहते हैं। इनके रहन-सहन, वेश-भूषा आदि में बाहरी फर्क जरूर है, लेकिन सुदृढ़ आंतरिक एकता ही हमारी सामासिक संस्कृति की आत्मा और हमारी विशिष्ट व अद्वितीय पहचान है। आज जबकि देश बाह्य एवं आंतरिक, दोनों मोर्चों पर चुनौतियों का सामना कर

राष्ट्रकवि दिनकर की जयंती पर न्यास द्वारा बिहार में आयोजित एक कार्यक्रम के उद्घाटन के क्षण

हर्ष के क्षण : न्यास परिवार

रहा है, अनेक प्रकार के खतरे भी बराबर बने हुए हैं: *तड़प रही धायल स्वदेश की शान है... संकट में हिन्दुस्तान है।* जीवन के हरेक क्षेत्र में क्षरण की प्रक्रिया जारी है। इसे देखते हुए न्यास एकता और अखण्डता की भावना को बनाए रखने एवं चुनौतियों का सामना करने के लिए यथासंभव प्रयास कर रहा है। दलित-शोषित, पीड़ित और क्षुधित वर्ग की समृद्धि और खुशहाली के लिए न्यास का यह प्रयास है कि इन्हें इनका हक मिल सके और हाशिए पर डाल दिए गए प्रत्येक व्यक्ति को समाज में उसका सही स्थान प्राप्त हो सके:

छोड़ो मत अपनी आन, सीस कट जाये,
मत झुको अनय पर, भले व्योम फट जाये।

न्यास ने शैशवकाल से लेकर किशोरावस्था तक की यात्रा दुर्गम, पथरीले और बीहड़ रास्तों से होकर पूरी की है। न्यास की इस यात्रा में अनेक कार्यक्रम मील का पत्थर साबित हुए हैं। कुछेक कार्यक्रम; जैसे - हिन्दी विकास यात्रा, पर्यावरण सुरक्षा अभियान, सामाजिक समरसता, साम्प्रदायिकता सौहार्द्र मिशन, जल संरक्षण अभियान एवं सांस्कृतिक क्षरण को रोकना न्यास के संघर्ष के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इन बीहड़ रास्तों पर दिनकर जी के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए अनेक लोगों ने हमारा मार्गदर्शन किया है, अँधेरी राहों में हमारा साथ दिया है। खासतौर से डॉ. मुरली मनोहर जोशी, भूतपूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री, भारत सरकार; डॉ. रत्नाकर पाण्डेय, भूतपूर्व सांसद एवं श्री वशिष्ठ नारायण सिंह, सांसद; ने अपने अनेक प्रयासों से हमें कृतज्ञ किया है।

राष्ट्रीय समिति के गठन के लिए श्री वशिष्ठ नारायण सिंह के आवास पर डॉ. मुरली मनोहर जोशी की अध्यक्षता में आयोजित बैठक, सांसदगण एवं हिन्दीप्रेमी

अध्यक्षीय संबोधन

राष्ट्रकवि 'दिनकर' के सुपुत्र श्री केदारनाथ सिंह, पौत्र श्री अरविंद कुमार सिंह, नतिनी श्रीमती उषा ठाकुर एवं उनके परिवार के अन्य सदस्यों का स्नेह एवं वैचारिक सहयोग ही सफलता का आधार है। हर्ष का विषय है कि प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने राष्ट्रकवि दिनकरजी की जन्मशताब्दी के सुअवसर पर एक राष्ट्रीय समिति गठित करने का विश्वास दिलाया है।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के जन्मशताब्दी वर्ष के सुअवसर पर राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास के द्वारा राजधानी नई दिल्ली के मावलंकर सभागार में 23 सितम्बर 2007 को एक भव्य समारोह का आयोजन किया जा रहा है। यह आयोजन कार्यक्रमों की उस शृंखला की एक कड़ी है जिसे पूरे देश में 23 सितम्बर 2008 तक जारी रहना है। न्यास इस तरह के विभिन्न कार्यक्रम भिन्न-भिन्न प्रांतों में आयोजित कराकर दिनकर जी के विचारों की गंगा को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास कर रहा है। ज्ञान की प्राचीन नगरी नालंदा में न्यास के प्रयासों से 'दिनकर नगर' की स्थापना की गई, साथ ही वहाँ पाँच एकड़ के भूखंड पर एक शिक्षा केंद्र 'मानस भूमि विद्यालय आवासीय परिसर' भी स्थापित किया गया है, जो कारगिल के शहीदों को समर्पित है। न्यास नालंदा में राष्ट्रकवि दिनकर साहित्य ग्राम के निर्माण हेतु संकल्पित है और सकारात्मक प्रयास जारी है। साहित्य ग्राम में शोध, सृजन, संगोष्ठी, प्रकाशन एवं समाज-हित के अन्य कार्य किए जाएँगे।

देशवासियों से यह गुजारिश है कि राष्ट्रनिर्माण के इस महायज्ञ में न्यास द्वारा की जा रही रचनात्मक कोशिशों को समर्थन प्रदान कर दिनकर जी के सपनों को साकार करने में सहभागी बनें :

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

आशा है कि आगे भी राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास के चुनौतीपूर्ण कार्यों में सारे देशवासियों और समाज के हर तबके का भरपूर सहयोग हमें उसी प्रकार मिलता रहेगा, जिस प्रकार आज तक मिलता आया है। आपके मार्गदर्शन ने ही हमें वह शक्ति दी है जिसके सहारे न्यास ने विगत् 11 वर्षों की यात्रा सफलतापूर्वक तय की है। आपका वैचारिक सहयोग न्यास को मिलता रहा तो रचनात्मक समाज का स्वप्न अवश्य साकार होगा।

आपके विचार हमारे लिए प्रेरणा एवं शक्ति के स्रोत हैं।

सादर

आपका

(नीरज कुमार)
अध्यक्ष
राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास

दिनकर

छोटे नारायण शर्मा

सूरज का एक परिचय है कि वह आग का एक ज्वलन्त पिण्ड है जो विश्व को प्रकाशित किया करता है लेकिन एक दूसरा परिचय भी है कि वह 'प्राणः प्रजानाम्' है। हमारे सामने एक फैला हुआ विश्व है। यह क्यों है, कैसे है, एक रहस्य है। इसको ठीक-ठीक समझने के लिए हमको वहाँ जाना पड़ेगा जो इसके ऊपर है। इसी से लिपटकर हम इसे समझ नहीं सकते।

जड़ मिट्टी को कुरेदकर हम पृथ्वी का रहस्य नहीं समझ सकते। प्राण में जाकर इसको थोड़ा ज्यादा समझते हैं। प्राण के ऊपर 'मन' में जाकर हम प्राण और शरीर, दोनों को थोड़ा अधिक समझते हैं, लेकिन इससे भी ऊपर 'आत्मा' में जाकर हम सबको समझ सकते हैं। आत्मा ही कुंजी है, जो रहस्य का दरवाजा खोल देती है।

दिनकर जब पैदा हुए तब भारत में अंग्रेजों का राज सुदृढ़ रूप से स्थापित था। विश्व इतिहास की यह एक विचित्र घटना थी। भारत की एक अंशमात्र भूमि में रहने वाले थोड़े से लोग अब हमारे शासक थे और हमारी जीवनयात्रा उन लोगों के इशारे पर चलने के लिए बाध्य थी। एक जाति जिसकी सभ्यता की स्वरलिपि वेदों में अंकित थी, बाल्मीकि और व्यास जैसे कवियों ने जिसके जीवन का महागान किया था, वह अभी वहीं निष्पन्न पड़ी हुई थी। भारत के इसी पतनोन्मुख, दुर्योगकाल में दिनकर पैदा हुए थे। भूचाल भारत का ही नहीं, विश्व का भी धरातल हिला रहा था। इस काल के दो निश्चित स्तम्भ पैदा हुए। भारत में महात्मा गांधी और पश्चिम में हिटलर। गांधी के पास अहिंसा की छाया थी, क्योंकि वस्तुतः अहिंसा की शक्ति जानने के लिए मनुष्य को जिस चतुर्थ आयाम पर चढ़ना होता है, उससे दुनिया आज भी बहुत दूर थी।

सारा मानव समाज एक ऊहापोह की स्थिति में था। दिनकर अपनी स्थिति का परिचय देते हुए कहते हैं :

शारदे! विकल संक्रान्ति-काल का नर मैं,
कलिकाल-भाल पर चढ़ा हुआ द्वापर मैं;
संतप्त विश्व के लिए खोजते छाया,
आशा में था इतिहास-लोक तक आया।
पर हाय, यहाँ भी धधक रहा है अम्बर है,
उड़ रही पवन में, दाहक लोल लहर है।

कुरुक्षेत्र की सर्वग्रासिनी व्याली ने सभ्यता को पूरी तरह फूँक डाला है, भारत को इस प्रकार जलाकर छोड़ दिया है कि विजयी, पराजित में आज कोई भेद नहीं रह गया है। दुर्योधन मर गया है, युधिष्ठिर विजयी होकर निष्प्राण तथा सपनों की मरुभूमि में भटक रहे हैं। कुरुक्षेत्र की व्यालिनी जिस विजयमाल को पहनाने के लिए विजेता को ढूँढ़ रही है, उसे संबोधित कर कवि कहता है :

ओ कुरुक्षेत्र की सर्वग्रासिनी व्याली,
मुख पर से तो ले पोछ रुधिर की लाली;
तू जिसे वरण करने के हेतु विकल है,
वह खोज रहा कुछ और सुधामय फल है।

कवि की आत्मा द्वापर में अटकी हुई लगती है। बुद्धि के धरातल से बोलती हुई कवि की आत्मा को हम और स्पष्ट वाणी बोलते हुए नहीं सुन सकते। क्योंकि मानव की आत्मा है जो काव्य की उच्चतम वाणी को मूर्तरूप देती है। जब इसकी व्याप्ति केवल बाहर के जीवन से होती है तो बड़े कवि वे होते हैं जो मानव के सामान्य जीवन और कर्म को, उसके परिवेश को उसके लिए महान, शुद्ध और सद्भावनायुक्त बनाते हैं। यदि यह महान आत्मा बुद्धि के माध्यम से काम कर रही होती है तो महान कवि वे होते हैं, जिनके विचार गम्भीर

और चामत्कारिक होते हैं, जो मानव के कर्म और सत्ता की, उसके विचार और सपनों की, विश्व और विश्व-प्रकृति की सृजनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। लेकिन आत्मा जब अपनी अन्तर्दृष्टि, संकल्प और संबोधि के क्षेत्र में पदार्पण करती है तो इससे भी गंभीर, इससे भी व्यापक वस्तुओं का गान कवि कण्ठ में झंकृत होने लगता है। वस्तुओं के तब अन्यतम भाव, प्रकृति की अन्तस् चेतना, मानव के गुहाशय में छिपी अन्तरात्मा की गंभीरतम गतियाँ, जीवन के रहस्य को प्रकट करने वाला सत्य, विश्वव्यापी जीवन का आनन्द, सौंदर्य और शक्ति; और आत्मानुभूति और आत्म-सृष्टि का अशेष प्रसार ही तब काव्य बन जाता है। कविता का यह धरातल जिस ऊँचाई से गोचर होगा, वह आज भी मानव की चेतना को एक दूर का आयाम ही दे सकता है। हम बाल्मीकि और व्यास जैसे देवतुल्य कवियों में इसकी क्वचित किरणों को तो देख ही सकते हैं, लेकिन इसका प्रसारित रूप तो हमें भविष्य ही दिखला सकेगा, जिसका एक व्यापक रूप हमें श्री अरविन्द रचित 'सावित्री महाकाव्य' में मिलता है।

कवि दिनकर की गहरी काव्य चिन्ता का ही प्रभाव यह लगता है कि वे विशेष रूप से श्री अरविन्द की ओर आकृष्ट हुए। सबसे पहले तो मैंने उन्हें उन दिनों देखा जब वे दूसरे विश्व युद्ध के काल में, विशेषतः भारत की राजनीतिक उथल-पुथल के काल में पटना में कई स्थानों पर अपनी ओजस्विनी कविता खुले कंठ से सुनाया करते थे। मैं तब पटना कॉलेज में स्नातक व स्नातकोत्तर का छात्र था। पीछे उनसे व्यक्तिगत परिचय तब हुआ, जब मैं श्री अरविन्द के प्रति विशेष रूप से अनुरक्त हुआ। दिनकर जी कहा करते थे कि श्री अरविन्द के प्रति अनुरक्ति का मतलब है कि मनुष्य की चिंता का धरातल थोड़ा ऊँचा है। श्री अरविन्द के देहत्याग के बाद 'श्री अरविन्द की प्रेरणा' नाम से एक पुस्तक के लेखन में हमारा और दिनकर जी का साथ हुआ। दिनकर जी ने साहित्य के ऊपर लिखा। और अन्यान्य अंश डॉ. इन्द्रसेन, पं. भुवनेश्वर मिश्र माधव और मैंने लिखा था। दिनकर जी तब तक आश्रम नहीं आये थे। वे गंगाबाबू (बाबू गंगा शरण सिंह जी) के मित्र थे जो भारतीय सोशलिस्ट पार्टी के एक प्रमुख लीडर थे। गंगा बाबू और दिनकर जी आश्रम आने पर हमारे घर पर ठहरा भी करते थे। दिनकर महर्षि रमण को विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और आने पर वहाँ वे उनके आश्रम, जो पांडिचेरी से करीब सौ किलोमीटर की दूरी पर है, जरूर जाया करते थे।

तेजोमय कविता के पुंज दिनकर हृदय से बालक के समान सरल और निरीह थे। 1973 में श्रीमाता जी के देहत्याग के बाद जब मैं उनसे मिला था तो पटना में उन्होंने मुझसे बिलखते हुए कहा - शर्मा जी मैं माताजी के चले जाने से टूट गया हूँ। भाव-भावनाओं की ऊँचाई पर रहने वाला बालसुलभ सरलता से युक्त वैसा कवि दिनकर ही हो सकता है।

नं. 2, कुमारउ शीट, पांडिचेरी-12

कृष्ण चेतना एवं गांधी चेतना के वैतालिक

केशुभाई देसाई

कवि का कोई कुल नहीं होता। वह परमात्मा का अग्रदूत बनकर धरती पर अवतरित होता है। अपना अवतार कार्य संपन्न होने पर चुपचाप चला जाता है। छोड़ जाता है अपने अमिट पद चिह्न जो समय के भाल पर चिपक जाते हैं।

दिनकर मेरे लिए किसी प्रदेश विशेष के कवि नहीं। बचपन में उनकी प्रेरणादायी रचनाएँ पढ़कर मुझे हिन्दी साहित्य के प्रति अप्रतिम आकर्षण हुआ था। आकर्षण मुझे न किसी गुजराती कवि के प्रति हुआ है, न स्वयं रवींद्रनाथ ठाकुर के प्रति। अहिन्दीभाषी बालक को हिन्दी की ओर उन्मुख करने वाले राष्ट्रकवि को मैं न सिर्फ एक भाषा का, अपितु समूची राष्ट्र चेतना का उद्‌गाता समझता हूँ। दिनकर को पढ़कर मेरी सभी कुंठाएँ स्वतः बिखर जाती हैं। मैं जुड़ जाता हूँ एक महान सांस्कृतिक धरोहर से, जो इस मिट्टी में गड़ी हुई है। हजारों साल बाद भी वह अपना वजूद बरकरार रख पायी है। यह वह अमृत है जो कभी व्यास ने इस व्याकुल मानवता पर छिड़का था। 'रश्मिरथी', कुरुक्षेत्र' या 'उर्वशी' जैसी रचनाओं में महर्षि व्यास ही अपने नये अवतार दिनकर के द्वारा अपने कुछ रहस्यमय पहलुओं का प्रदर्शन करते हैं। मेरे लिए व्यास और दिनकर दो अलग हस्तियाँ नहीं हैं। जब राष्ट्र की चेतना अवरुद्ध होने लगती है, तभी विराट आत्माओं का अवतरण होता है। यह प्रकृति का नियम है। गांधी में यदि श्रीकृष्ण और बुद्ध की चेतना के तार मिलते हैं तो रवींद्रनाथ और मैथिलीशरण गुप्त में महाकवि वाल्मीकि की गूँज भी सुनाई पड़ेगी। दिनकर इसी क्रम में व्यास के अंशावतार हैं। वे एक साथ कृष्ण चेतना और गांधी चेतना के वैतालिक हैं।

13-ऐश्वर्य-1, प्लॉटः 132, सेक्टर-19,
गांधीनगर-382001, गुजरात

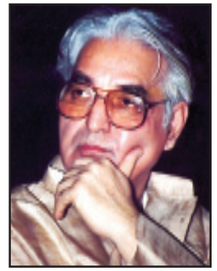

दिनकर : बहुआयामी कवि

प्रभाकर श्रोत्रिय

आत्मचिंतन और आत्मालोचन 'दिनकर' की ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें निरंतर गतिशील रखते हुए 'रेणुका' से 'उर्वशी' और 'हारे को हरिनाम' तक पहुँचाती हैं। वे अपनी रचनाशीलता से बार-बार जूझते और अपने को समझने, आलोचित करने और जरूरत पड़ने पर रूपांतरित एवं विकसित करने की कोशिश करते हैं।

अपने शौर्य-काव्य के बारे में वयस्क काल में दिनकर की टिप्पणी है :

लगता है, पृथ्वी पर आने के पूर्व जब भगवान को प्रणाम करने गया, वे कलाकारों के बीच छेनी, टाँकी, हथौड़ी, कूँची और रंग बाँट रहे थे। लेकिन भगवान ने मुझे छेनी, टाँकी और हथौड़ी नहीं दी, जो पच्चीकारी के औजार हैं। उनके भंडार में एक हथौड़ा पड़ा हुआ था। भगवान ने वही हथौड़ा उठाकर मुझे दे दिया और (जरा-सी आत्मश्लाघा के लिए क्षमा कीजिए) कहा कि जा, तू इस हथौड़े से चट्टान का पत्थर तोड़ेगा और तेरे तोड़े हुए अनगढ़ पत्थर भी काल के समुद्र में फूल के समान तैरेंगे।

अगर दिनकर के इस कथन को हम उनकी मुखर राष्ट्रीय कविताओं के बारे में लें और *उर्वशी*, *रसवंती*, *सामधेनी* जैसी काव्य कृतियों को इसके बाहर रखें तो लगेगा कि वे इस काव्य की खूबी और अभाव दोनों से परिचित हैं और जो थोड़ी आत्मश्लाघा है वह कवि का आत्मविश्वास है, जिसके बिना कोई भी सर्जना संभव नहीं होती। यह सच भी है कि उनके इस काव्य में 'समुद्र में फूल के समान तैरने' का काव्य-गुण है और वह इस रूढ़ि को तोड़ता है कि ऋजु काव्य समकाल में बद्ध होकर अपने परे की काव्य-यात्रा को संभव नहीं होने देता।

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की भी दो कोटियाँ हैं। जो श्रेष्ठ कोटि का काव्य है वह आवेग और वेग का काव्य है। उसमें कवि कथात्मक ब्यौरे न देकर मर्म को पकड़ता है, जो पाठक की धड़कनों पर उँगली रखने की क्षमता रखता है। उसके भीतर की अग्नि देश-काल-पात्र की जड़ीभूत पहचान को भस्म करती, समयान्तरण में अद्‌भुत रूप से समर्थ है। परशुराम की प्रतीक्षा में कवि कहता है -

घटा फाड़कर जगमगाता हुआ,
आ गया देख ज्वाला का बाण;
खड़ा हो जवानी का झंडा उठा,
ओ मेरे देश के नौजवान।

इस आह्वान का काव्य के विषय से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। यहाँ शब्दशः विषय को बेधकर वस्तु से सीधा सम्पर्क स्थापित किया गया है। इसी तरह जब कवि पराजय के लिए उत्तरदायी व्यक्ति की घोषणा करता है, तो वहाँ भी देश-काल तिरोहित हो जाता है :

गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते हैं,
तलवार गलाकर जो तकली गढ़ते हैं,
शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों को सिखलाते हैं धर्म अजा का।

इससे भी आगे कविता अपने को समकाल से जोड़ते हुए सारे विभेदक चिह्न मिटा देती है :

घातक है जो देवता सदृश दिखता है,
लेकिन कमरे में गलत हुक्म लिखता है,
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है,
समझो उसने ही यहाँ हमें मारा है।

विभेदक चिह्न मिटाने की प्रक्रिया जटिल होती है। उसमें कविता का प्रत्येक अवयव सक्रिय हो उठता है; शब्द

अपना अभिधार्थ बदलकर लक्ष्य और व्यंग्य हो जाते हैं; और नई तरह की कलात्मकता पैदा हो जाती है। यहाँ 'गीता' और 'त्रिपिटक निकाय' से लेकर 'अजा' तक अपना मूल अर्थ पाकर भी उसे खो देते हैं और लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की रौशनी फेंकते हुए कर्म, वैराग्य, हिंसा, अहिंसा, रूप-गुण, छल-छद्म, जाति-धर्म वगैरह अर्थरूपों में विकीर्ण हो जाते हैं।

दिनकर किसी जादूगर की तरह पहले विषय को मुट्ठी में कसते हैं, फिर जब मुट्ठी खोलते हैं तो वह कहीं नहीं दिखता, या तो उसका सारांश दिखता है या उसकी लक्षणा और व्यंजना। वे सामाजिक के भीतर अपने को शामिल कर लेते हैं और उसके तापमान से अपनी कविता को संचालित करते हैं। पाठक की प्रतिक्रिया, आकांक्षा, क्षोभ, झुँझलाहट, क्रोध, उत्साह या त्रास उनकी कविता से रसधारा की तरह प्रवाहित होता है और एक अनोखी प्रतीकात्मकता पैदा कर देता है जिससे विषय का परिसीमन विस्तार पा जाता है :

ले अँगड़ाई उठ हिले धरा,
तू कर विराट स्वर में निनाद;
तू शैलराज हुंकार भरे,
फट जाय कुहा भागे प्रमाद।

कैसा विराट् और सक्रिय बिम्ब है जो अपनी प्रतीकात्मकता में दीप्त है। सामाजिक के हृदय की आकांक्षा में ऊँची लहरें उठने लगती हैं।

देश जब आजाद होता है तो यह जन कवि भी उल्लसित हो उठता है। उसका उत्साह और कामना सीमा में बँधने को तैयार नहीं :

सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि हित सिंहासन तैयार करो,
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

(धूप और धुँआ)

लेकिन जब आजादी के बाद जनता के साथ कवि का भी मोहभंग होता है तो वह फिर जनता के साथ खड़ा हो जाता है और सत्ता या नेताओं से सवाल करता है :

यह वही आदमी है जिसकी पीड़ाओं को आगे करके,
स्वाधीन हुए थे तुम जिसकी पीड़ाओं को आगे धरके,
यह वह मनुष्य जिसकी ज्वाला की ढाल बना तुम लड़ते थे,
जिसकी ताबीज पहनकर तुम शेरों की तरह अकड़ते थे;
क्या हुआ कि इस भूखी प्रतिमा को देख आज भय लगता है,
मर गई कौन-सी नस जिससे वह दर्द नहीं अब जगता है।

यह दर्द का स्वर है जो दिनकर में शौर्य की तरह ही कविता के केन्द्र में है, यह उनका अपना जीवनानुभव भी है जो कविता में टीस रहा है। जो कवि जनता का हिमायती होता है, उसके भीतर की पीड़ा बहुत सघन होती है, क्योंकि कोई भी सत्ता हो, जनता का इतिहास तो त्रास की लेखनी से ही लिखा हुआ होता है :

दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।

सत्ता-केंद्र हमेशा जगमगाता है और जितना जगमगाता है उतना ही चकाचौंध का अँधेरा जन-मन में भरता जाता है, सत्ता-केन्द्र दिल्ली का वस्तु जगत हमारे भाव जगत को अजब तरह से घूरने लगता है। हम इतिहास-केन्द्रों, पर पहुँचकर भी इतिहास पढ़ना भूल जाते हैं और यथार्थ पढ़ने लगते हैं :

तामस बढ़ता यदि गया धकेल प्रभा को,
निर्बंध पंथ यदि नहीं मिला प्रतिभा को,
रिपु नहीं, यही अन्याय हमें मारेगा,
अपने घर में ही फिर स्वदेश हारेगा।

यह परशुराम की या उनके देश-काल की समस्या नहीं है, यह हमारी और हमारे देशकाल की समस्या है। अपनी प्रतिभाओं के लिए हमारे देश में ही जगह कहाँ है? सारे उच्चकोटि के मस्तिष्क विदेशों को निर्यात हो जाते हैं। लगता है परशुराम सिर्फ एक बहाना है, एक प्रतीक है, जिसमें कवि को अपना युग-सत्य कहना है।

इतिवृत्तात्मक कविता में दिखनेवाली गति में भी भीतर से एक ठहराव होता है, संभवतः इसीलिए दिनकर ने उस प्रवृत्ति को अपने से दूर रखने की कोशिश की है। वे कहीं ठहरते नहीं, उद्यमता के साथ त्वरा उनका काव्य-गुण है। ये, और ऐसे अनेक गुणों के कारण उनकी राष्ट्रीय कविताएँ भी वक्त के भीतर नहीं सिमटतीं, इसके परे निकल जाती हैं जो उनके शब्दों में प्रस्तर का काल-समुद्र में फूल की तरह तैरना है।

वैचारिक स्तर पर दिनकर समझते हैं कि वे गांधी और मार्क्स का द्वन्द्व झेल रहे हैं, जो कि वैचारिक जगत का भी तत्कालीन द्वन्द्व था। परंतु सच यह है कि तब के कवि वास्तव में गांधी और सशस्त्र क्रांतिकारियों के बीच झूल रहे थे। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जयशंकर प्रसाद; सभी का यह द्वन्द्व था। यह अलग बात है कि उनकी अभिव्यक्ति में भिन्नता थी। गांधी में दिनकर की अपरिमित श्रद्धा थी। वे कहते हैं :

गांधी, बुद्ध, अशोक नाम हैं बड़े दिव्य स्वप्नों के,
भारत स्वयं मनुष्य जाति की बहुत बड़ी कविता है।

अपने से उबलते गीत माँगने वालों से वे पूछते हैं :

तुझसे जो माँगते उबलते गीत अनल के,
पूछ धर्म की वे किंचित सीमा स्वीकार करेंगे?
मानव मूल्यों की जब कुछ आहुतियाँ पड़ती हों,
रोएँगे तो नहीं? पाप से तो वे नहीं डरेंगे?

वे समर को पाप बताते हैं और प्रकारांतर से शांति और अहिंसा का समर्थन करते हैं :

समर पाप साकार, समर क्रीड़ा है पागलपन की,

सभी द्विधाएँ व्यर्थ समर में, साध्य और साधन की।

दूसरी ओर पाप की उन्हीं की परिभाषा है :

छीनता हो स्वत्व कोई और तू,
त्याग तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

क्या यह कथन प्रकारांतर से गांधी को वापस कर, उग्र क्रांतिकारियों का आह्वान नहीं करता :

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर;
पर फिरा हमें गांडीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

यह कथन जैसे गांधी से ही तर्क करता है :

कौन केवल आत्मबल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है;
पाशविकता शस्त्र जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

गांधी और क्रांतिकारियों, हिंसा और अहिंसा का, आत्मबल और देहबल का संग्राम उनके भीतर बराबर चलता रहा। काव्य और जनता के मनोभाव की भूमि होने के कारण क्रांति, हिंसा, देहबल की ओर उनका झुकाव बना रहा।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उन पर मार्क्स का कोई प्रभाव नहीं था। 'अरुण विश्व की काली जय हो, लाल सितारोंवाली जय हो' जैसी पंक्तियाँ भी उन्हीं की हैं। वे श्रम के महत्व की घोषणा भी करते हैं :

नर समाज का भाग्य एक है
वह श्रम है, भुज-बल है,
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथ्वी, विनीत नभ-तल है।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि ऐसी पंक्तियों को मार्क्स और गांधी के द्वन्द्व के रूप में देखा जाए। जब दिनकर कहते हैं कि *उजले को लाल से गुणा कर देने पर जो रंग बनता है वही मेरी कविता का रंग है,* तो इस लाल रंग का अर्थ, उनके अर्थ से भिन्न यदि उनके काव्यार्थ में अनुवाद किया जाए तो वह क्रांतिकारियों के ही खून का रंग है। हम यह मान सकते हैं कि कवि जो कहता है उसे नहीं, जो रचता है उसे प्रमाण माना जाए। इस दृष्टि से दिनकर के भीतर गांधी की अहिंसा, आत्मबल आदि का; सुभाष, भगत सिंह या चंद्रशेखर आजाद की हिंसा, देहबल आदि से द्वन्द्व था।

यह कहना जरूरी है कि दिनकर केवल ओज, शौर्य और सहजता के कवि नहीं हैं। वे प्रेम, सौन्दर्य, रहस्यवाद और गीतात्मकता की वर्तुलता के कवि भी हैं। ये दिनकर ही हैं, जो रसवंती, उर्वशी, सामधेनी, नील कुसुम लिखते हैं और नई कविता जैसी कविताएँ 'कोयला और कवित्व' जैसी कृति में लिखते हैं। वे केवल तात्कालिक आवेगों की ही चिंता नहीं करते; चिरंतनता, कला और आंतरिक दीप्ति की भी चिंता करते हैं। ऐसे में उनकी यह खलिश विचारणीय है कि फिर भी 'मेरा विरुद चारण और वैतालिक' का ही रहा। जाहिर है कि उनके बारे में आलोचना की चिंता का केन्द्र उनकी राष्ट्रीय कविताएँ ही नहीं, उनकी समग्रता होनी चाहिए। काल की इस दूरी पर तो यह उनकी कविता के एक जरूरी विमर्श की तरह होगा।

इसी अवसर पर नवीनता, गहराई और अनेकांतता के संयोग पर दिनकर की अद्भुत टिप्पणी उद्धृत करने का मन है। वे लिखते हैं :

कविता का क्षेत्र ज्यों-ज्यों नवीन होता है, कवि त्यों-त्यों गहराई में उतरता जाता है और ज्यों-ज्यों वह गहराई में उतरता जाता है, त्यों-त्यों यह बताने में वह असमर्थ होता जाता है कि यह सत्य है और वह सत्य नहीं है। कविता की जो यात्रा गहराई की ओर है, वही उसे अनेकांत की ओर ले जा रही है। कवि यह जान गया है कि कोई भी बात जोर से बोलने योग्य नहीं है। इसलिए अब वह निश्चित और अनिश्चित, ज्ञात और अज्ञात के संधि-स्थल पर काम करता है। मनुष्य इतनी बार धोखा खा चुका है कि उसे अब किसी भी ज्ञान पर विश्वास नहीं रहा और सत्य को उसने इतनी बार बदलते देखा है कि वह कहीं भी दुराग्रहपूर्वक अड़ने को तैयार नहीं है।

इसी रौशनी में दिनकर द्वारा उर्वशी और कुरुक्षेत्र की तुलना को अगर देखा जाए तो उनकी विकसित आलोचना और काव्य-दृष्टि का पता चल सकता है। वे लिखते हैं : *कुरुक्षेत्र में प्रकाश है, उर्वशी में द्वाभा और गोधूलि हैं। कुरुक्षेत्र की वाणी विश्वास की वाणी है, उर्वशी की वाणी संशय और द्विधा से आक्रांत है। कुरुक्षेत्र में मैं धृष्टतापूर्वक गुरु के पद से स्वयं बोल गया हूँ। उर्वशी की ऊँचाई पर पहुँचकर मुझे ऐसा लगा कि अगर कोई गुरु मिल जाता तो उससे पूछता कि असली रहस्य क्या है?*

यह वही द्वन्द्व है जो रवीन्द्र और इकबाल जैसे दो ध्रुवों से जुड़ने पर दिनकर में, युवाकाल में पैदा हुआ था और जो अक्सर 'आमने-सामने के दो क्षितिजों से बोलते रहे हैं'। बहुत काल तक इकबाल विजय रहे, परंतु अब जाकर रवीन्द्र ने कवि के हृदय प्रदेश पर आसन जमाया है जहाँ से वे उर्वशी की खोज कर रहे हैं।

उर्वशी वास्तव में द्वाभा और गोधूलि की कृति हैं, जहाँ धूप-छाँह की अद्भुत क्रीड़ा है। केवल स्त्री और पुरुष का ही समागम नहीं होता, पृथ्वी के प्रेम की पराकाष्ठा का स्वर्गीय दिव्यता से संगमन होता है। अंत में यह प्रेम प्रकृति और पुरुष के प्रेम में रूपांतरित हो जाता है। उर्वशी स्वयं प्रकृति का रूप है :

मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है,
उसी भाँति निस्सीम, अपरिमित जैसे स्वयं प्रकृति है।

पुरूरवा और उर्वशी के बीच प्रेम ठीक उस प्रकार घटित हुआ है जैसी प्रेम की स्वाभाविक प्रकृति होती है :

पहले प्रेम स्पर्श होता है तदनंतर चिंतन है
प्रणय प्रथम, मिट्टी कठोर है फिर वायव्य गगन है।

ऐसी स्थिति में प्रेम घटना नहीं, एक प्रतीक हो जाता है, 'कामाध्यात्म' का प्रतीक इसके स्त्री और पुरुष साधारण स्त्री-पुरुष नहीं रहते, बल्कि सृष्टि की सर्वोत्तम सुन्दरता हो जाते हैं। यदि स्त्री है :

नहीं उर्वशी नारी नहीं, आभा है अखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।

तो पुरुष है :

यह ज्योतिर्मय रूप! प्रकृति ने किसी कनक पर्वत से,
काट पुरुष प्रतिमाविराट निज मन के आकारों की
महाप्राण से भर उसको, फिर भू पर गिरा दिया है।

दोनों ही वास्तव में स्रष्टा के मन के आकारों का सम्मूर्तन हैं। मन के आकार की कोई कृति यदि स्रष्टा रचता है तो संसार में उसका क्या सादृश्य। दोनों अपूर्व सुंदर और दोनों के मन भी अपूर्व सुंदर। ऐसी कृति संसार में सृष्टि करती है, तो उससे 'आयु' का जन्म होता है। इसे जन्म देते हुए उर्वशी, रूपसी अप्सरा शायद प्रणय जीवन में पहली बार माँ बनती है। इसके लिए उसे धरती पर ही आना था। उसका सौन्दर्य नई अर्थवत्ता ले लेता है :

गलती है हिमशिला, सत्य है गठन देह की खोकर
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।

सीमा असीम हो उठती है। प्रेम के सारे आयामों और उसकी पराकाष्ठा को इस कृति में, शौर्य के कवि ने इतनी सुकोमलता और आंतरिक भव्यता से उकेरा है जो उसके नए अन्वेषण, रहस्यमयी जिज्ञासा और कुतूहल का प्रतिरूप और निस्संदेह उसके काव्य का शिखर बनती है। कम से कम इसे तो प्रमाणित करती ही है कि दिनकर को उनके 'विरुद' में ही कैद न कर उनके प्रसार और औदात्य को भी देखना चाहिए।

यों दिनकर ने आवेग और ओज से भरी राष्ट्रीय चिंता आजीवन नहीं छोड़ी, क्योंकि यह उनका स्थायी भाव थी। परंतु उन्होंने जिज्ञासा वृत्ति के साथ विचार और आत्मालोचन की यात्रा भी स्थगित नहीं की। उन्होंने इसके लिए न केवल काव्य कृतियाँ लिखीं, गद्यात्मक लेखन भी खूब किया। *संस्कृति के चार अध्याय* उनकी कालवाही वैश्विक चेतना का गहन पाठ है। 'शुद्ध कविता की खोज' जैसा गद्य-आलेख उनके अंतरान्वेषण और आलोचना वृत्ति का उदाहरण है। संस्कृति और विचार की अनवरत यात्रा ने दिनकर को गतिमयता दी। वे रवीन्द्र और इकबाल के घेरे से निकले और टीएस इलियट की नवीन प्रवृत्ति से साक्षात् हुए। और स्वयं नयी कविता तक पहुँचे। महर्षि अरविंद से भविष्य की कविता के बारे में जानकर कि वह मंत्र कविता होगी, दिनकर मंत्र-कविता की ओर मुड़े, यानी सूक्ष्म, मितभाषी और अचूक प्रभावकारी। इस कविता का प्रयोग कवि ने 'नील कुसुम' और 'हारे को हरिनाम' में किया। नवीन अन्वेषण और तत्वदर्शिता दिनकर की विकास यात्रा है। इससे जाहिर होता है कि वे सपाट कवि और व्यक्ति नहीं हैं। अनेक अन्तर्द्वंद्वों और ऊहापोहों से भरा उनका काव्य-व्यक्तित्व रहा है।

एक लंबी काव्य-यात्रा के बाद भी दिनकर को लगा कि जिंदगी की किताब तो खाली की खाली रह गई। शुक्र सिर्फ इतना है कि एक सपाट, इकहरी और इकलौती जिंदगी उन्होंने नहीं जी :

शुक्र है कि इसी जीवन में
मैं अनेक बार जन्मा
और अनेक बार मरा हूँ।

जाहिर है कि दिनकर अंत तक कवि रहे नित्य नूतन; चाहे उन्हें इसके लिए नए-नए जन्म ही क्यों न लेने पड़े हों।

ए-601, जनसत्ता सहकारी आवास,
सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद- 201012

□

समर शेष है, जनगंगा को खुल कर लहराने दो,
शिखरों को डूबने और मुकुटों को बह जाने दो।
पथरीली, ऊँची जमीन है ? तो उसको तोड़ेंगे।
समतल पीटे बिना समर की भूमि नहीं छोड़ेंगे।
समर शेष है, चलो ज्योतियों के बरसाते तीर,
खण्ड-खण्ड हो गिरे विषमता की काली जंजीर।
-दिनकर

भूमंडलीकरण का युग, दिनकर और राष्ट्रीय चेतना

हेमन्त जोशी

आज जब पूरी दुनिया एक बड़ी विश्वव्यवस्था में तब्दील हो रही है, जब असंख्य संस्कृतियों और भाषाओं को एक समरस संस्कृति और भाषा के लिए नष्ट किया जा रहा है तब महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर जैसे कवियों की जन्म शताब्दियों का महत्व और भी अधिक हो जाता है क्योंकि इनका साहित्य भारतीय उपमहाद्वीप एक बड़ी भाषा और एक विशाल सांस्कृतिक समाज के गौरव को रेखांकित करता है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' के साहित्य से मेरा परिचय भी विद्यालय की पाठ्य-पुस्तक से ही हुआ। सबसे पहले उनकी जो कविता पढ़ी थी वह हिमालय को संबोधित करते हुए लिखी गई थी और उसमें जो ओज था वह मुझे याद है कि हम सब में भी संचारित हो गया थाः

मेरे नगपति मेरे विशाल
साकार, दिव्य, गौरव विराट्
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति मेरे विशाल।

और राष्ट्र की दुर्दशा देखकर दिनकर जी हिमालय का आह्वान करते हुए कहते हैंः

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी आज तप का न काल,
नवयुग शंखध्वनि जगा रही,
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।

इस कविता के बाद तो दिनकर जी की कई कविताएँ भी याद रह गईं, भले ही कुछ पंक्तियाँ ही सही। दिनकर जी की कविताओं में जो मुहावरेदार भाषा होती थी, उसने भी उनकी कई कविताओं की पंक्तियों को कालांतर में जनान्दोलनों में सक्रिय लोगों की जुबान पर ऐसा चढ़ा दिया जैसे उन पंक्तियों के बिना उन आन्दोलनों की कल्पना ही न की जा सकती होः

दो राह समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

ये पंक्तियाँ कितनी लोकप्रिय हुईं यह कहने की आवश्यकता नहीं। बिहार के आन्दोलन के दौरान तो ये पंक्तियाँ हर जुलूस में तख्तियों पर लिखी दिख जाती थीं। जनतंत्र की प्रशंसा में लिखी उनकी इस कविता में भारतीय जनतंत्र का वर्णन करते हुए वह कहते हैं- 'सबसे विराट् जनतंत्र जगत का आ पहुँचा, तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तैयार करो।' लेकिन कुछ इंतजार करने के बाद इस नई व्यवस्था से भी उनका मोह भंग होता है और वे कहते हैंः

पूज रहा है जहाँ चकित हो जन-जन देख अकाज,
सात वर्ष हो गए राह में, अटका कहाँ स्वराज;
अटका कहाँ स्वराज? बोल दिल्ली! तू क्या कहती है?
तू रानी बन गई वेदना जनता क्यों सहती है?
सबके भाग्य दबा रखे हैं किसने अपने कर में?
उतरी थी जो विभा, हुई बंदिनी बता किस घर में?
समर शेष है, यह प्रकाश बंदीगृह से छूटेगा;
और नहीं तो तुझ पर पापिनी! महावज्र टूटेगा।

और जनता से विमुख हुए या अनमने नेताओं और बुद्धिजीवियों को आगाह करते हैंः

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

राष्ट्रीय चेतना के अनेक दृष्टांतों में ही उनकी उस कविता का उल्लेख भी करना चाहिए जिसमें वह वीरों के

बलिदान याद करते हैंः

जो चढ़ गए पुण्य-वेदी पर,
लिए बिना गर्दन का मोल,
कलम आज उनकी जय बोल।

वह समय ही कुछ ऐसा था कि छायावाद के बाद के अनेक कवियों के स्वर लगभग एक जैसे ही सुनाई देते हैं। भले ही माखनलाल चतुर्वेदी की अनेक ओजस्वी कविताएँ हों, उनकी वह प्रसिद्ध कविता हो जिसमें वह कहते हैं 'चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ', भले ही मैथिलीशरण गुप्त जी की 'हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी' जैसी कविताएँ हों। चाहे सुभद्राकुमारी चौहान की कविता 'बुंदेले हरबोलों के मुँह' हो। इन्हीं कविताओं के साथ दिनकर जी की वह कविता भी खूब याद आती है जिसमें उन्होंने कहा है 'क्षमा शोभती उस भुजंग को...'। भूगोल से लेकर समाज तक में राष्ट्रीय गौरव देखने वाले इस ओजस्वी और विद्रोही तेवर वाले कवि को हम स्वाधीनता संग्राम के ऐसे अंतिम कवि के तौर पर भी देख सकते हैं जिनके बाद की कविता और उसकी भाषा में काफी परिवर्तन हुआ। छायावाद से लेकर छायावादोत्तर काल की कविता में खड़ी बोली का संस्कार हुआ और आजादी के बाद उसने अपना कलेवर बहुत तेजी से बदला। लेकिन शताब्दी के करवट बदलते-बदलते वैश्विक स्तर पर जो परिवर्तन हुए उनसे कहीं न कहीं हिन्दी में होने वाले परिवर्तनों में बहुत कुछ अवांछनीय भी है।

यह संयोग ही है कि पिछले कुछ वर्षों में अनेक कवियों की जयंतियाँ मनाई गईं जिनमें सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत और सुभद्राकुमारी चौहान के नाम प्रमुख हैं। इस वर्ष हमने महादेवी वर्मा और हरिवंश राय बच्चन का शताब्दी वर्ष मनाया और अब हम दिनकर शताब्दी वर्ष मनाने जा रहे हैं। आज इन सब और इस काल खंड के अनेक कवियों की प्रासंगिकता मुझे इसलिए भी दिखाई पड़ती है कि बाजार के प्रभाव के चलते खड़ी बोली हिन्दी का जो नाश हो रहा है उसके बरक्स इन सभी कवियों की कविताएँ आज भी हमें हिन्दी की पहचान कराती हैं और आशान्वित करती हैं कि सांस्कृतिक घटाटोप में कहीं न कहीं इन कविताओं के पुनः स्मरण से हिन्दी को कुछ ऐसी शक्ति मिलेगी जो आने वाले वर्षों में वैश्वीकरण और बाजारवाद की तमाम अपसंस्कृति और चुनौती के बीच भारत में लोगों को फिर राष्ट्रीय चेतना की पहचान कराएगी।

प्रोफेसर, जामिया मिलिया इस्लामिया
सी-3, प्रेस इंक्लेव, साकेत, नई दिल्ली - 110017

□

दिनकर जी से एक भेंट

वीणा गुप्त

पढ़ना है विज्ञान अगर तो पढ़ो ग्रन्थ नवीन,
पढ़ना है साहित्य गर तो पढ़ो ग्रन्थ प्राचीन।

यह संदेश था दिनकर जी का हिन्दी साहित्य की छात्रा को।

बात लगभग सन् 56-57 की है। वनस्थली विद्यापीठ में बी.ए. की छात्रा थी और हिन्दी साहित्य मेरा प्रिय विषय था। विद्यापीठ में अध्ययनरत रहते हुए विभिन्न क्षेत्रों के महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिलने के अनेक अवसर आए पर दिनकर जी से हुई भेंट सबसे अलग ही रही।

सायंकाल जब सूर्य पश्चिम में अस्त ही हो रहा था कि दिनकर जी विद्यापीठ पहुँचे। उन्नत भाल, प्रदीप्त आँखें और प्रभावशाली व्यक्तित्व; ऐसा लगा मानो दिनकर और ओज पर्यायवाची हैं।

रात्रि भोजन के पश्चात छात्रावास के गोविन्द भवन में कवि-गोष्ठी का आयोजन किया गया। विशाल सभागार पूरा भरा हुआ था। सभी दिनकर जी को सुनने के लिए उत्सुक थे और उन्होनें भी दो घंटे से भी अधिक समय तक अपने विचारों को प्रस्तुत किया।

पहले दिनकर जी ने 'नारी द्वारा नारी सम्मान की रक्षा' के महत्व पर बल देते हुए आदि शंकराचार्य जी की माँ का उदाहरण प्रस्तुत किया। शंकराचार्य द्वारा केवल माँ से मिलने की इच्छा को माँ ने ठुकरा दिया क्योंकि वह भी पहले नारी है फिर माँ। यदि नारी रूप में पत्नी वांछनीय नहीं तो माँ का भी कोई स्थान नहीं हैं। उनके इस विचार को जीवन में अपनाने का मैंने प्रयास किया है।

कवि-गोष्ठी का समापन कालिया दमन कविता 'तानतान घन ब्याल, मैं तुझ पर बाँसुरी बजाऊँ' से हुआ।

ओजस्वी कविता और ओजपूर्ण स्वर! वह एक अविस्मरणीय शाम थी।

2/13-15, बास रोड, अर्लवुड 2206, न्यू साउथ वेल्स, आस्ट्रेलिया

नये भारत की वाणी : रामधारी सिंह 'दिनकर'

लीलाधर जगूड़ी

किसी भी भाषा का प्रादुर्भाव, विस्तार अथवा निरस्तीकरण सामाजिक जन-जीवन के पेशेगत परिवर्तनों, व्यापार और रोजी-रोटी के बदलते माध्यमों के कारण होता है। अभिव्यक्ति का संवाद अकेले कवि और लेखक का नहीं होता बल्कि वह श्रोता और पाठक के कारण फलता-फूलता है। मैथिलीशरण गुप्त के तुरंत बाद हिन्दी के नये स्वरूप की संरचना को दो कवियों ने साधा। एक का नाम है रामधारी सिंह 'दिनकर' और दूसरे का नाम है हरिवंश राय बच्चन।

आलोचना में खड़ी बोली हिन्दी का जो ऐतिहासिक और सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निर्मित किया उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया में काव्य भाषा और अभिव्यक्ति की स्थिति अगर देखनी हो तो जयशंकर प्रसाद सबसे आदर्श उदाहरण मुझे दिखायी देते हैं। लेकिन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी निर्माण प्रयोगशाला की पहली देन अगर मैथिलीशरण गुप्त लगते हैं तो दूसरी विकसित निर्मिति के रूप में रामधारी सिंह 'दिनकर' को देखा जा सकता है। मैथिली शरण गुप्त के सपाट भाषिक प्रयोगों के मुकाबले दिनकर में उदारता, गहराई और विस्तार ज्यादा दिखायी देते हैं। मैथिलीशरण गुप्त की अपेक्षा दिनकर के पौराणिक पात्र आधुनिक समय की समस्याओं के ज्यादा अनुरूप लगते हैं। प्राचीनता के प्रति दिनकर में वैसा स्यापा नहीं है जैसा गुप्त में दिखायी देता है। दिनकर ऐतिहासिक, वैचारिक संघर्ष की निष्फलताओं और सफलताओं के अधिक मार्मिक चितेरे सिद्ध होते हैं। दिनकर अपनी समकालीनता को लेकर इतिहास में जाते हैं, इतिहास के माध्यम से वे वर्तमान की ओर नहीं आते। ऐसा लगता है कि वर्तमान को सुधारने के लिए वे इतिहास से सीखना चाहते हैं। हरिवंश राय बच्चन अपने वर्तमान को वर्तमान के ही एक नये गीत में ढालना चाहते हैं। जयशंकर प्रसाद तक तो हिन्दी कविता एकानन रही है, लेकिन उनके बाद हिन्दी षडानन (छः मुखों वाली) हुईः

ये छः मुख हैं : मैथिलीशरण गुप्त, पंत, निराला, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर' और हरिवंश राय बच्चन।

पौराणिक पात्र षडानन कार्तिकेय की तरह भारतीय भाषाओं के अभिव्यक्ति सौन्दर्य को समृद्ध राष्ट्रीय अस्मिता तक पहुँचाने के लिए, भाषाओं की सेनापति बनने लायक वैज्ञानिक दक्षता हिन्दी दिखाने लगी। हिन्दी प्रादेशिकता से मुक्त होने लगी। साहित्य के अलावा क्षेत्रीयता और प्रांतीयता से हिन्दी को मुक्ति दिलाने वाला सबसे बड़ा माध्यम हिन्दी सिनेमा है। हिन्दी सिनेमा की सार्वदेशिक भाषा-प्रगति को निखारने में भोजपुरी और पंजाबी के अत्यधिक भाषा मिश्रण का हाथ है। हिन्दी को अब अपना एक नया स्वरूप खड़ा करना है, जिसमें पूर्वी भारत और दक्षिणी भारत की भाषाओं के मिश्रण का निखार हो। हैदराबादी हिन्दी की तरह। पश्चिम अपने युद्धों के कारण सांस्कृतिक रूप में अधिक क्रूर और अशांत दिखता है। लेकिन भारत अपने युद्धों की क्रूरता और निरर्थकता के अहसास के कारण अधिक शांत, सहिष्णु और अहिंसक बने रह सकने की ओर व्यवहार और आचरण, दोनों दृष्टियों से झुका हुआ लगता है। भारत युद्धों में होने वाली निरर्थक हिंसा को जानता है। हिंसा का एक विश्लेषण गीता है, दूसरा विश्लेषण गौतम बुद्ध; दोनों ही अपयश भरी मृत्यु से बचाते हैं। दोनों ही मृत्यु को उपयोगी और सुंदर बनाने पर

जोर देते हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने पौराणिक युद्ध आख्यानों को आजादी के बाद के भारतीय समाज की व्याख्या करने के लिए चुना। 'कुरुक्षेत्र' हो चाहे 'रश्मिरथी' और चाहे प्रेम-युद्ध से आप्लावित 'उर्वशी', सब में युद्ध के बाद की अस्थायी शांति कैसे विजय की नश्वर चमक को बुझते हुए देखती है-इसका समकालीन दर्शन, दिनकर प्रतिपादित करते हैं।

दिनकर ऐसे कवि हैं जो युद्ध के बाद नव-निर्माण की इच्छा से भरे हुए कारीगर की तरह दिखते हैं। उन्हें वह शौर्य पसंद नहीं, जिसके पीछे न्याय की खोज और न्याय के लिए तड़प न हो। 'रश्मिरथी' में उन्होंने सारे सामाजिक और पारिवारिक संबंधों को नए सिरे से जाँचा है। चाहे गुरु-शिष्य संबंधों के बहाने हो, चाहे अविवाहित मातृत्व और विवाहित मातृत्व के बहाने हो, चाहे धर्म के बहाने हो, चाहे छल-प्रपंच के बहाने; दिनकर ने सबके शौर्य के अंधकारमय पक्षों को दिखाने की कोशिश की है। कुंती जो महाभारत में कृष्ण से और-और दुःखों की याचना करती है ताकि कृष्ण हमेशा साथ रहें, वहीं कुंती माँ होकर भी कर्ण के दुःखों को नहीं समझ पाती है। दिनकर की कविता यह स्थापित करती है कि युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाया ही नहीं जा सकता। युद्ध आदि, मध्य और अंत तक पापयुक्त होते हैं। युद्ध उतने बड़े न्याय की स्थापना नहीं कर पाते, जितना बड़ा अन्याय वे फैलाते हैं। युद्ध भले ही शक्तिस्रोतों का दोहन करते हों, पराक्रमियों का सार्थक उपयोग करते हों, लेकिन वे पृथ्वी को और मनुष्यता को बाँटते हैं। पृथ्वी खुद एक ऐसा परिवार है जिस पर कुछ राष्ट्रवादी, देशवादी और धर्मवादी ताकतों ने भाषा और रीति-रिवाजों वाली जीवन पद्धति के आधार पर कब्जा कर रखा है। जितनी बार पृथ्वी ज्ञान और समझदारी के रास्ते से एक होना चाहती है- उतनी बार कुछ लोग युद्ध छेड़ देते हैं। युद्ध, पछतावे को शांति और शांति को पछतावे में बदल देता है।

कुंती राजघराने की सुशिक्षित कन्या थी। ऋषियों के सम्पर्क में आना और स्वतंत्र जीवन का उपभोग उसे सुलभ था। पुराणों में जो भी घटित होता है, वह शाप और वरदान या मंत्रशक्ति और अज्ञान इत्यादि के कारक बन जाने के कारण घटित होता है। कुंती के संबंध में भी यही आख्यान प्रसिद्ध है। लेकिन कुंती का कौमार्यभंग और अविवाहित माँ बनने का प्रकरण सामाजिक प्रदूषण तो था ही, इसलिए उसका प्रत्याख्यान वह प्रत्यक्षतः किसी से जीवन भर न कर सकी। आज भी अविवाहित स्थिति में किसी लड़की का माँ बन जाना उतना ही अमान्य और तिरस्कारणीय है। फर्क इतना ही है कि मंत्रशक्ति से प्राप्त सूर्य के संसर्ग से उत्पन्न संतान को अविवाहित राजकुमारी एक स्वर्ण-मंजूषा में रखकर नदी में प्रवाहित कर देती है और आज की लड़की उसे कचरा पेटी में रखकर म्युनिसिपैलिटी के कूड़ाघर में छोड़कर चली आती है। महाभारत काल से आज तक नये मनुष्य के जन्म की वैधता को सुंदर, गरिमापूर्ण और मान्यता प्राप्त बनाये रखने के उपक्रम एक जैसे हैं। इस क्षेत्र में भारतीय समाज आगे नहीं बढ़ा है। उसका चिंतन अज्ञात कुलशील को गोद लेने की ओर तो बढ़ा, पर लांछित जननी को सामाजिक स्वीकृति देने की ओर रंचमात्र भी नहीं बढ़ा है। जो भी हो, लेकिन पौराणिक साहित्य ऐसी संतानों की काबिलियत और नालायकियों से भरा पड़ा है। दिनकर ने भी 'रश्मिरथी' के माध्यम से इस प्रश्न की उधेड़बुन में तर्क खड़े किये हैं। कर्ण को पता है कि वह सूर्य-पुत्र है। यह बात एक दिन सूर्यदेव ही आकर उसे बता जाते हैं लेकिन माँ ने सार्वजनिक घोषणा नहीं की, इसलिए इकतरफा गोपनीयता भंग करने को सामाजिक मान्यता नहीं मिल सकी। यहीं महाभारतकार को भी और दिनकर को भी जाति पर विमर्श का अवसर प्राप्त हो जाता है। व्यास कहते हैं कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं और कर्ण अपने शौर्य तथा अपने पराक्रमपूर्ण कर्म से अपनी अनुपमेय वीरता का साक्ष्य भी प्रस्तुत करते हैं, तो भी जीवनभर जाति और जन्म की संदिग्धता का कलंक ढोते हैं। यह घटना भारतीय समाज की आंतरिक बनावट और चेतना की गिरावट का पता देती है। यहाँ प्रश्न अस्तित्व का नहीं है, बल्कि ज्ञात कुल-शीलता का है। यहाँ छिपाने का विरोध नहीं बल्कि संबंधों की निर्धारित पवित्रता के उल्लंघन का दण्ड अधिक दिखायी देता है। न्याय की और सत्य की तलाश में व्यथित कर्ण कभी भी उस पांडुवंश का सदस्य नहीं बन सका, जो माँ के मनचाहे गर्भों से उत्पन्न परिवार है और जो जीवनभर अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। 'रश्मिरथी' इसी विडम्बना का काव्य है।

अपनी कविता के विकास क्रम में दिनकर ऐसी भाषा अपने लिए अन्वेषित कर रचते चले गये हैं जिसमें युद्ध की निरर्थकता को परम पराक्रमी कर्ण सरलतम मुहावरे में परिभाषित करते हैं:

निस्सार द्रोह की क्रिया, व्यर्थ यह रण है,
खोखला हमारा और पार्थ का प्रण है।
फिर भी जाने किसलिए न हम रुकते हैं,
चाहता जिधर को काल उधर झुकते हैं।

कर्ण के अन्तर्द्वंद्व को प्रकट करने के लिए कवि ने एक नया ही मुहावरा गढ़ा- *चला खोया हुआ सा कर्ण मन में, कि जैसे चाँद चलता हो गगन में।*

विषाद और विपत्ति में सूर्य-पुत्र का चंद्रमा जैसा मन जो कई तरह की गहरी छायाओं से 'ग्रहण' की तरह घिरा हुआ है, लेकिन उसकी स्वर्णिम कवच-कुंडलों वाली दीप्ति कवि की भाषा में 'खोया हुआ चाँद' के रूप में दीप्ति है। पंत अपनी कविता में स्वर्ण (सोने) की बहुत बड़ी टकसाल लिए हुए हैं, चाहे स्वर्ण शिखर हो चाहे स्वर्ण रेणु, चाहे स्वर्ण रश्मि हो चाहे स्वर्ण सौरभ, लेकिन दिनकर जब कर्ण के संदर्भ में यह कहते हैं कि 'दीप्ति ललाट अपरार्क-सदृश लगता था' तो सारा स्वर्ण, धरा रह जाता है। कर्ण का जीवन अपने गुरु परशुराम जैसा ही जिद्दी, हठीला और करुणायुक्त होते हुए भी कई विडम्बनाओं

और अंतर्विरोधों से भरा है। परशुराम के बारे में कहा जाता है कि चारों वेद उनके आगे चलते हैं और धनुष-बाण उनकी पीठ पर रहते हैं। मार्ग उनका ब्राह्मणत्व का है। लेकिन उस पर वे क्षत्रियत्व वहन कर रहे हैं क्योंकि ब्राह्मण उनके पिता जमदग्नि हैं और माँ उनकी इक्ष्वाकुवंश की क्षत्राणी राजकुमारी रेणुका हैं। ऐसे परशुराम अपने शत्रु को एक धर्मिष्ठ-कर्मिष्ठ ब्राह्मण की तरह 'शाप' से भी पराजित करते हैं और शर (बाण) से भी।

अग्रतः चतुरोवेदाः पृष्ठतः सशरो धनुः
इदं ब्राह्म-इदं क्षात्रं, शापादपि शरादपि।

युद्ध में भी मनुष्य के ऊँचे गुणों की पहचान के प्रति ललक का काव्य है 'रश्मिरथी'। 'रश्मिरथी' यह भी संदेश देता है कि जन्म-अवैधता से कर्म की वैधता नष्ट नहीं होती। अपने कर्मों से मनुष्य मृत्यु-पूर्व जन्म में ही एक और जन्म ले लेता है। अंततः मूल्यांकन योग्य मनुष्य का मूल्यांकन उसके वंश से नहीं, उसके आचरण और कर्म से ही किया जाना न्यायसंगत है। आज हम ऐसे महाभारत से गुजर रहे हैं जिसका युद्ध-क्षेत्र भारत से बाहर निकलकर फैल गया है। दुनिया में युद्ध कहीं भी हो, महाकवि दिनकर की कविता उसकी पीड़ा को भारतीय संवेदना का हिस्सा बनाती है। वाल्मीकि, व्यास, दिनकर और निराला; ये कवि युद्ध की त्रासदी के भारतीय व्याख्याता हैं। भारत का करुणापूर्ण हृदय विश्व की किसी भी त्रासदी में, इन कवियों के माध्यम से, अपने को सबसे पहले शामिल समझता है। युद्ध की विभीषिका आज जठराग्नि जैसी सब में फैली हुई है। अब केवल एक राजसत्ता, एक वंश, एक परिवार या एक देश ही इसमें शामिल नहीं है, बल्कि दुर्भाग्य से सभी देशों की राज-सत्ताएँ, सभी धर्म इसमें शामिल हो गए हैं। दिनकर की कविता धर्म की मनुष्य के पक्ष में व्याख्या करती है। उनके प्रश्न आज भी उतने ही सटीक और उतने ही अनुत्तरित हैं।

क्या शस्त्र ही उपचार एक अमोघ है
अन्याय का, अपकर्ष का,
विष का, गरलमय द्रोह का?

...यह पराजय या कि जय किसकी हुई?
चाहता था प्राप्त मैं करना जिसे
तत्व वह करगत हुआ या उड़ गया?
यह महाभारत वृथा निष्फल हुआ...
वज्र सा कुछ टूटकर स्मृति से गिरा...?

सीताकुटी, बदरीपुर रोड, जोगीवाला
देहरादून, उत्तराखण्ड-248005

□

दिनकर जी के प्रति

बलवीरसिंह 'करुण'

है चर्म चक्षुओं से ओझल
कवि-कुल का दिनकर दीप्तिमान,
फिर भी आलोकित हैं प्रतिपल
उन किरणों से भू-आसमान,
आर्यों की संस्कृति का सात्विक
वपुमान रहा जो स्वाभिमान,
जो 'राम' नाम का दृढ़ 'धारी'
नर 'सिंह' काव्य का कीर्तिमान,
जिसकी अंगुलियों की छुअनें
कलमों को खड्ग बनाती थीं,
जिसकी ओजस्वी स्वर-लहरी
वंशी को शंख बनाती थी,
है कौन काल या महाकाल
जो उसे पाश में सके फाँस,
है कौन महामय भू-नभ में
जो उसे दे सके रंच त्रास,
माँ सरस्वती की वीणा की
झंकृतियों में, स्वर-तानों में,
सारे ओजस्वी कवियों की
हुंकृतियों में, जय-गानों में,
हर महफिल में, सब मंचों पर
वह ही तो गाया करता है,
तोपों के भीतर से भविष्य
वह ही बुलवाया करता है,
वह अग्नि-मंत्र का उद्गाता
वह शौर्य-यज्ञ का आयोजक,
भूडोल, बवण्डर का सृष्टा
वह ललकारों का संयोजक,
राष्ट्रीय ऊर्जा का वाहक
वह अनलमुखी फिरता-चलता,
वह मेरे युग का नव वामन
कुत्साओं की छाती दलता,
इस पल भी यहीं कहीं होगा
वह अनुपम साधक काव्यकार,
उसकी कृतियों को सौ प्रणाम
उसकी स्मृतियों को नमस्कार!

67, केशवनगर, अलवर (राजस्थान) - 301001

दिनकर जी

पद्मा सचदेव

कुछ बरस पहले राष्ट्रकवि दिनकर जी के पोते अरविंद ने फोन पर कहा, "इस बार बाबा की पुण्यतिथि पर आपको बुलाने के लिए सब कह रहे हैं। मेरे मित्र इस बार नालंदा में बाबा की पुण्यतिथि मनाना चाहते हैं।" मैंने झट 'हाँ' कर दी। मैंने सोचा, बच्चों का ज्यादा खर्च नहीं होना चाहिए। मैं ट्रेन से ही पटना गई। स्टेशन पर अरविंद और उसका बेटा खड़े थे। सुबह अभी पूरी तरह जागी न थी, पर दिनकर जी के पोते और परपोते के मुँह चमक रहे थे।

जब हम दिनकर जी के घर पहुँचे तो पूरब में जाफरानी रंग को चीरता सूर्य अपनी पूरी छटा के साथ आसमान की पगड़ी के ऊपर कलगी जैसा चमक रहा था। मैंने प्रणाम किया, मुझे लगा, दिनकरजी जान गए हैं, मैं आई हूँ।

सन् 1957 का वह दिन याद आया, जब मैं श्रीनगर कॉलेज में बारहवीं कक्षा में थी। हम निशात बाग गए थे। पिकनिक में लड़कियाँ जहाँ-तहाँ खुशबू की तरह मँडरा रही थीं। हम गिरते पानी के इस तरफ थीं। सामने बहुत ऊँचे चनार के तने से पीठ टिकाए एक भव्य पुरुष बैठे थे। देखा तो जाना, ये दिनकरजी हैं। शायद अपने जीवन में पहली बार मैंने इतने बड़े कवि को देखा था। अभिभूत हो गई। डोगरी में एक कवयित्री के तौर पर लोग मुझे जानने लगे थे। मन में आदर-भाव लेकर दोनों हाथ जोड़ उन्हें प्रणाम किया, पर शायद उन्होंने उतनी दूर से मुझे नहीं देखा। मेरे पाँव तले हरी-हरी सुंदर दूब थी। सामने विशाल चनार से टेक लगाए जो बैठे थे, वे तो हिमालय थे। मैंने मन में संकल्प किया -ठीक है हिमालय, जब भी इस दूब का पहला कविता-संग्रह छपेगा, भूमिका आप ही लिखेंगे। सन् 1966 में मेरी नई-नई शादी हुई थी। एक दिन पतिदेव ने कहा, अब आपकी पुस्तक आ जानी चाहिए। एकदम याद आया, भूमिका तो दिनकरजी से लिखवानी है। जम्मू में ही हिन्दी-संस्कृत की विद्वान डॉ. शांता शर्मा दिनकरजी की मित्र थीं। हम उन्हें 'दीदी' कहते थे। उन्हें पत्र लिखा तो उन्होंने दिनकरजी से समय ले लिया।

मैं अपने पति के साथ उनके घर गई। उस समय वे भोजन कर रहे थे। पतिदेव मुझे वहीं छोड़कर अपने दफ्तर चले गए। मैं जिस कमरे में बैठी थी वहाँ एक नवजात शिशु के रोने की अवाज आ रही थी। मन हो रहा था कि जाकर बच्चे को देखूँ, पर कहीं कोई नहीं था। थोड़ी देर में दाँत कुरेदते हुए दिनकरजी भीतर से निकले। मैंने झट उठकर उनके पाँव छुए तो बोले, 'अच्छा तुम्हीं पद्मा हो। शांता ने लिखा था, तुम कवयित्री हो। चलो देखें, क्या लिखा है।' अपने कमरे की तरफ जाते हुए वे बोले, पाँच मिनट का समय है। डर के मारे मेरा शरीर सुन्न हो गया। पाँच मिनट में क्या सुनेंगे। कमरे में उनकी चारपाई के पास मोटी-मोटी आँखों से मुझे देखता अरविंद खड़ा था। जान में जान आई। बच्चा मुझे हमेशा सुख देता है।

अभी बैठी भी न थी दिनकर जी ने कहा, 'सुनाओ, क्या लिखा है।' डर के मारे मेरी घिग्घी बँधी हुई थी, फिर 'राजा के महल' कविता का एक छंद हिन्दी में सुनाकर मैंने अनुवाद सुना दिया। कहने लगे, 'तुम्हारी डोगरी में लोकगीत भी होंगे। गाना जानती हो तो गाकर सुनाओ।'

मैंने डोगरी में 'चन्न' का एक टुकड़ा सुनाया। दिनकरजी प्रसन्न हो गए। मेरी पुस्तक की भूमिका में भी उन्होंने चन्ना का जिक्र किया था।

'मेरा चाँद बेर के दरख्त के पीछे छुपा है। दरख्त कटवा दो, ताकि चाँद मुँह से बोलने लगे।' मैं अपनी कविताएँ और लोकगीत सुना रही थी। कई घंटे हो गए, दिनकर जी राज्यसभा में नहीं गए और कहा, 'अब तुम जाओ, हम आराम करेंगे। अपनी कविताएँ अनुवाद करके दे जाना, हम भूमिका लिख देंगे।'

वह रजिस्टर आज भी मेरे पास है, जिसमें दिनकर ने लाल स्याहीवाले पेन से निशान लगाए थे। मेरी कविताओं के साथ दिनकर जी की लिखी भूमिका 'धर्मयुग' ने इस तरह छापी थी कि मुझे उस भूमिका ने लेखकों के आँगन में जाकर स्थापित कर दिया था।

फिर मैं मुंबई चली गई। मेरे गायक पति सुरेन्द्र सिंह जब भी दिनकरजी को फोन करते थे तो वे कहते, 'हाँ भई, मैं जैनियों की दाल खा-खाकर तंग आ गया हूँ, तुम मुझे मछली खाने के लिए बुला रहे हो।' कभी-कभी मौज में आकर कहते, 'अब मन करता है, दो-चार चेले हों, तुम्हारे सरदार की तरह दाढ़ी बढ़वाकर बैठे रहें। हाथ में खैनी मल-मलकर फाँके।'

मेरे पति आयकर विभाग में थे और हमें पैडर रोड पर घर मिला था। वहीं पास में स्वर-साम्राज्ञी लता मंगेशकर जी रहती थीं। मैं डोगरी गीत गवाने के चक्कर में उनके चक्कर काटने लगी तो गीत भी हो गए और मैं भी उन्हीं की हो गई। दिनकर जी चाहते थे, उनके कुछ प्रिय गीत बड़ी दीदी गाएँ। जयदेवजी संगीत दे रहे थे। वह दिन कैसे अतीत का सूर्य बनकर सामने खड़ा हो गया है। दीदी ने तभी ज्ञानेश्वरी की रिकॉर्डिंग की थी। हमारे घर दिनकर जी, पंडित नरेन्द्र शर्मा, जयदेवजी और बड़ी दीदी आए थे। बड़ी दीदी एक छोटी बच्ची की तरह शरमा रहीं थीं। ज्ञानेश्वरी सुनकर सब मुग्ध थे। दिनकर जी ने बड़ी दीदी से कहा, 'ज्ञानेश्वरी बहुत सुंदर बन पड़ी है। मन हो रहा है, आप मेरे गीत गाएँ।' बड़ी दीदी ने कहा, 'मैं जरूर गाऊँगी। जयदेव जी धुनें बना रहे थे। कितने अच्छे दिन थे वे!'

पीले रंग से दिनकर जी को बड़ा प्यार था। जलेबी बहुत पसंद। मधुमेह की वजह से जलेबी खाना मना था। चोरी से खाते थे। एक बार मैं उनके घर गई थी तो कहने लगे, 'हम चाँदनी चौक जलेबी खाने जा रहे हैं, राह में तुम्हें कहीं छोड़ देंगे।' जलेबी के चाव में वह सीधे चाँदनी चौक गए। मैं गाड़ी के पीछे थी, वे आगे। खूब जलेबी खा रहे थे। जब काफी खा चुके तो घूमकर पीछे देखा और कहा, 'क्या तुम जलेबी खाओगी?' एक जलेबी मुझे दी, फिर और खाने लगे। बेटियों, भतीजियों की शादियाँ हो गईं तो फिर उनकी पोतियों की शादी की बारी आ गई। एक बार मद्रास गए थे तो ग्यारह पीली साड़ियाँ ले आए। शायद उनमें वे जलेबियाँ ही देख रहे होंगे। उनकी बड़ी बहू ने मुझसे कहा, 'पद्माजी, ग्यारह साड़ियाँ एक ही रंग की, क्या करूँ?' मैंने कहा, 'भाभीजी, आप अपनी सास को दे दीजिए। ननदों-फनदों में बाँट देंगी।'

दिनकर जी को जब ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला, हम दोनों मुंबई से आए थे। जब वे तिरुपति जाने वाले थे तब भी हम दिल्ली में ही थे। हम दोनों मिलने गए तो कहने लगे, 'बुलावा तो आ गया है, देखें अब कितनी अवधि देता है।' कुछ दिन पहले ही उन्हें पक्षाघात हुआ था। तिरुपति जाना था तो कहने लगे, 'तिरुपति चलोगी?' पतिदेव ने कहा -'अप्रैल में आयकर विभाग का नौकर कहीं नहीं जा सकता।' दिनकर जी खुलकर हँसे थे। फिर अप्रैल में तिरुपति जाने से पहले उनका बस मोटा पत्र आया था, जिसमें बड़ी दीदी से गवाने के लिए उन्होंने अपने चुनिंदा गीत भेजे थे। उनके जीवन का वह अंतिम पल था। तिरुपति के मंदिर में उनका कविता-पाठ हुआ। उन्होंने कहा, 'मैं तुमसे उऋण हो गया। मेरी बाकी की आयु जयप्रकाश को दे दो।'

उसी रात अक्षय तृतीया के पावन पलों में उन्होंने 'हे राम!' कहकर प्राण त्याग दिए। दूसरे दिन शाम पाँच बजे पटना में उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को अग्नि ने अपने पीले आँचल में लपेट लिया।

बी-242, चितरंजन पार्क
नई दिल्ली

□

तिमिरपुत्र ये दस्यु कहीं कोई दुष्काण्ड रचें ना!
सावधान, हो खड़ी देश भर में गाँधी की सेना।
बलि देकर भी बली! स्नेह का यह मृदुव्रत साधो रे!
मन्दिर औ' मस्जिद, दोनों पर एक तार बाँधो रे!
समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध,
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

-दिनकर

दिनकर का संस्कृति-विमर्श

परमानंद श्रीवास्तव

भारत में बसने वाली कोई भी जाति यह दावा नहीं कर सकती कि भारत के समस्त मन और विचारों पर उसी का एकाधिकार है। भारत का आज जो कुछ है, उसकी रचना में भारतीय जनता के प्रत्येक भाग का योगदान है। यदि हम इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते तो फिर हम भारत को भी समझने में असमर्थ रहेंगे। -जवाहर लाल नेहरू

दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' के तीसरे संस्करण की भूमिका में लिखा है-"साहित्य की ताजगी और वेधकता जितनी शौकिया लेखक में होती है उतनी पेशेवर में नहीं होती। कृति में प्राण उड़ेलने का दृष्टांत बराबर शौकिया लेखक ही देते हैं। थरथराहट, पुलक और प्रकम्प, ये गुण शौकिया की रचना में होते हैं।...संस्कृति का इतिहास शौकिया शैली में ही लिखा जा सकता है।" दिनकर ने प्रभावशाली ढंग से दिखाया है कि भारतीय संस्कृति सामाजिक-सामासिक संस्कृति है। आर्यों से पूर्व द्रविड़ सभ्यता भी भारतीय संस्कृति का स्पेस बनाती है। उदार-अनुदार-सहिष्णु-असहिष्णु को एक साथ इस संस्कृति-विमर्श में देखा जा सकता है। औद्योगिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृति को समावेशी बनाती है। भारतीय चिन्तन पद्धति में जो फॉक है, वह भी भारतीय अस्मिता का हिस्सा है।

'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकर बुद्ध से पहले के हिन्दुत्व, बौद्ध धर्म के उदय, वैदिक-बौद्ध संस्कृति के विवाद, बौद्ध साधना पर शाक्त प्रभाव, बौद्ध आंदोलन की सामाजिकता, हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई सम्बंध, भक्ति आंदोलन और इस्लाम, सिक्ख धर्म, कला-शिल्प पर इस्लाम के प्रभाव, उर्दू के जन्म, यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव, ब्रह्म समाज और नवजागरण, ब्रह्म विद्या समाज, तिलक-अरविंद-गाँधी के अवदान, इकबाल, भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान जैसे विषयों पर विचार करते हैं। दिनकर सेकुलर मानसिकता के चलते उग्र हिन्दुत्व, इस्लामी कट्टरपन की तीखी आलोचना करते हैं। दिनकर की दृष्टि में मुसलमान आठवीं सदी में आये। जरथुस्त्र के नये धर्म विमर्श से एक नयी संस्कृति संभव हुई। पौराणिक हिन्दू धर्म निगम-आगम के द्वैत पर आधारित था।

शुद्ध आर्य या शुद्ध भारतीय संस्कृति जैसी अवधारणा का खंडन करते हुए दिनकर हजारी प्रसाद द्विवेदी से सहमत जान पड़ते हैं कि आर्य-अनार्य, शक, यवन, हूण, आभीर, मंगोल, मुस्लिम मिलकर भारतीय संस्कृति को रूप देते हैं। जनविज्ञान सभी जातियों का आईना है। हिन्दू, उर्दू, बंगला, मराठी, असमी, गुरखाली, कश्मीरी-सभी आर्य भाषाएँ हैं जो संस्कृत परम्परा से जुड़ी हैं। आर्य भाषाओं का सम्बंध हिन्द-जर्मन भाषा समूह से है। प्राचीन पारसी, यूनानी, लातीनी आदि भाषाओं का संस्कृत से बहुत पुराना सम्बंध है। भारत की जनता अकारण ही बहुभाषी नहीं है। सबसे पहले भारत में नीग्रो आये। आर्यों की शाखाएँ यूरोप-ईरान की ओर चलीं।

ऋग्वेद के उषासूक्त से जो भक्ति की झलक मिलती है वह महान आंदोलन का हिस्सा बन गयी। देवासुर संग्राम इसी लोक में घटित हुआ। लिपियाँ भी सांस्कृतिक घालमेल से बनीं। उत्तर दक्षिण की एकता आज की नहीं है। भारत में संस्कृत का उच्चारण तमिल और संस्कृत के बीच के सम्बंध की देन है। बहुपत्नी प्रथा बहुत पुरानी है। शूद्र भी उत्तम गुणों के कारण ब्राह्मण के समकक्ष है। आर्य और द्रविड़ सभ्यताओं के मेल से हिन्दू संस्कृति का उदय हुआ। मुनि पत्नियों में से कई शूद्र कुल से उत्पन्न थीं। राधा भक्ति के साथ शृंगार लीलाएँ जुड़ी हैं। सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में वैदिक युग में ही पूज्य मानी जा चुकी थीं। आर्य आर्येतर जातियों से शैव धर्म अस्तित्व में आया। हिन्दू पुराणों में कथा-उपकथाओं का भण्डार है। सिन्दूर अनार्यों से प्रसाधन का अंग बना। अब वह हिन्दू घरों में सौभाग्य का प्रतीक है। केश सज्जा के नये से नये रूप द्रविड़ों से आये।

दिनकर मानते हैं कि हिन्दुत्व में जितना ही बदलाव आता है वह मूल के निकट चला जाता है। बहुदेववाद वेदों से आया। अहिंसा जैन धर्म से आयी। उसी अहिंसा से अनेकान्तवाद

आया। बुद्ध ने वैदिक धर्म से जन्मान्तरवाद, कर्मफलवाद ले लिया। बौद्ध मत के निर्वाण की व्याख्या हिन्दू धर्म में मिल जाएगी। बौद्ध धर्म के अंत के बाद देश में मठ, विहार, भिक्षुणियाँ होने लगीं, जिससे एक तरह की अराजकता पैदा हुई। बुद्ध ने माना कि गार्हस्थ्य धर्म का त्याग करके ही भिक्षु होना संभव है। बुद्ध के कारण करुणा मैत्री का महत्व बना। बुद्धत्व शंकर मत के निकट है। शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध ही कहा गया। भारतीय संस्कृति ने जातिवाद को कभी मान्यता न दी। बौद्ध धर्म में जातिवाद को ध्वस्त कर दिया गया। पुरोहितों ने वर्णाश्रम व्यवस्था का अपने पक्ष में गलत इस्तेमाल किया। निर्गुण पंथ में शूद्र ही संत बने। यह एक नई क्रांति थी। भक्ति आंदोलन में सभी धर्ममत अभिन्न हो उठे। यों ही नहीं, कि बालीद्वीप में भारतीयता बराबर सक्रिय रही। रामायण महाभारत वहाँ कालजयी कृति के रूप में मान्य हुए। कृष्ण का रसिक रूप बाद में आया। वामाचार साधना के कारण शाक्त मत बदनाम हुआ पर मूलतः वह अद्वैत दर्शन ही था। तांत्रिकों वज्रयानियों की साधना बाद में विकृत हुई।

अमीर खुसरो ने हिन्दी उर्दू का भेद मिटा दिया। दिनकर ने उनकी भारत-भक्ति को महत्व दिया है। सूफियों ने इस्लाम मत को उदार बना दिया। दिनकर ने अमीर खुसरो को हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी कहा है। कबीर का कथन इसका साक्ष्य है:

सुर, नर, मुनि औ औलिया, ये सब बेलैं तीर,
अलह-राम की गति नहीं, तहँ घर किया कबीर।

हिन्दू ध्यावे देहरा मुसलमान मसीज
जोगी ध्यावे परम पद, जहँ देहरा न मसीज।

तसव्वुफ का भारतीयकरण इसी भारतीय सामंजस्य के चलते हुआ। जायसी का 'पदमावत' इसका प्रमाण है। सूफी काव्य फारसी लिपि में मिलते हैं पर ये कहानियाँ हिन्दू घरों में प्रचलित प्रेम कहानियाँ हैं।

हिन्दी के मुसलमान कवियों पर दिनकर ने अलग से लिखा है। खुसरो, कबीर, जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान, रहीम, रसखान, नजीर अकबराबादी- यह लम्बी परम्परा है। ताज मुसलमान थीं पर कह सकती थीं-

नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पे
ताँड़ नाल प्यारे, हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं

दिनकर मानते हैं कि अकबर का मन पूरी तरह सूफियाना था। वह हिन्दुत्व-इस्लाम को एक करने में सफल हुआ।

दिनकर मानते हैं - भारतीय वेदान्त और ईरानी तसव्वुफ के मेल से कबीर की तरह नानक का विकास हुआ। सिक्ख मत, हिन्दुत्व, इस्लाम एक ही हैं। नानक पंथ की उदारता, सहिष्णुता इसी सांस्कृतिक समन्वय की देन है। सिक्ख मत, हिन्दू मत एक है। कला शिल्प पर मुसलमानों का प्रभाव सर्वविदित है। ईरान के प्रभाव से इस्लाम उदार हो सका। मुगल शैली भारतीय शैली ही है। स्थापत्य में भी यही उदारता है। ईरान की स्त्रैण कला भारतीय कला में घुलमिल गयी है। हिन्दू वास्तु में पौरुष का तेज है। प्रेमतत्व मीरा में भी कबीर की तरह तसव्वुफ से आया।

खुसरो खड़ी बोली हिन्दी और खड़ी बोली उर्दू दोनों के जनक हैं। 'खुसरो रैन सुहाग की, जागी पिय के संग / तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एकरंग'। दक्खिनी हिन्दी में हिन्दू-मुस्लिम या हिन्दी-उर्दू का भेद मिट गया है। वली की भाषा को हिन्दी कहें या उर्दू - फर्क नहीं पड़ता। अली आदिलशाह के शब्द हैं-

पिउ मूरत देखो सीने में, जब जागो तब रहूँ सपने में,
ला दीपक बिरहा, तन जाये झकझक जीने में।

इसे भाषा के रूप में हिन्दी कहें या उर्दू एक ही बात है। खुसरो की उक्ति है-'शर्मोहया दर हिन्दी लाज/हासिल कहिए बाज खिराज'। या जायसी के शब्द- 'अरबी तुरकी हिन्दुई भाषा जेती आहि / जेहि महँ मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि'।

दिनकर ने 1857 तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य की चर्चा की है। गदर के रूप में तभी महाक्रांति संभव हुई। अंग्रेज कहने को व्यापार करने आये थे पर नई शिक्षा के साथ उन्होंने हमें गुलाम बना दिया।

ईसाई मिशनरियों ने भी स्वाधीनता में बाधा दी। राज्य बँटे। भाषाएँ बँटीं। जनता भी बँटी। रजवाड़े-जमींदारियाँ सब गुलामी की रणनीति जैसे थीं। राजा राममोहन राय तक ने कलकत्ते में संस्कृत कॉलेज की स्थापना का तीखा विरोध किया। न भूलें कि अंग्रेजों ने ही शकुन्तला जैसे क्लासिक्स को महत्व दिया। जोन्स ने संस्कृत भाषा को लातीनी जैसा ही महत्व दिया। जर्मनी में भारतीय संस्कृति को विस्तार मिला। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' (1912) में लिखा-

था शिष्य ईसा हिन्दुओं का यह पता भी है चला,
ईसाइयों का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला।

भारतीय नवोत्थान को दिनकर अतीतजीवी बताते हैं। दयानंद, रामकृष्ण, विवेकानंद, तिलक ने हिन्दुओं के प्रवृत्ति मार्ग को महत्व दिया। तिलक गोखले ने राष्ट्रीयता को हिन्दू पुनरुत्थान जैसा रंग दिया। आर्य समाज ने वेदों के महत्व की पुनर्व्याख्या की। दिनकर ने दयानंद को एक नये अंधविश्वास के लिए जिम्मेदार ठहराया है। दयानंद के लिए वेद के बाहर कुछ है ही नहीं। यह अंधविश्वास नहीं तो था क्या! एनीबेसेंट अपने को पूर्वजन्म का हिन्दू मानती थीं। उनकी भारतभक्ति अभूतपूर्व थी। दिनकर ने एनीबेसेंट की यह उक्ति उद्धृत की है-"हिन्दुत्व ही वह मिट्टी है जिसमें भारतवर्ष का मूल गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गयी तो भार-रूपी वृक्ष सूख जायेगा"।

दिनकर ने रामकृष्ण परमहंस को 'धर्म की साकार प्रतिमा' बताया है। उन्होंने पंथ से अधिक महत्व अनुभूति को दिया। विवेकानंद शक्ति के उपासक थे। मातृजाति के प्रति उदार। नवता के कायल। इस्लाम के प्रति द्वेषमुक्त। सच्चे अर्थों में विश्वदृष्टि सम्पन्न भारतीय। सांस्कृतिक नवोत्थान के

हिमायती। अरविन्द का हिन्दू नवोत्थान संकीर्ण न था, उदार था। दिनकर उन्हें स्वर्ग के भूमीकरण के लिए महत्व देते हैं। संश्लिष्ट योग अरविंद का अभीष्ट था। गाँधी के शब्द थे- *मेरा धर्म हिन्दू धर्म नहीं, बल्कि वह जो हिन्दुत्व से आगे जाता है।*

दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में मुस्लिम नवोत्थान पर विस्तार से लिखा है। वहाबी आंदोलन साम्प्रदायिक न था। वह अमीरों का न होकर जनता का था। सर सैयद ने मुसलमानों को आधुनिक बनाया। उनका इस्लाम प्रकारान्तर से मानवतावाद था। शिब्ली नोमानी, हाली आधुनिकता के पक्षधर थे। वे प्रगतिशील समाज की कल्पना कर रहे थे। इस्लामी नवोत्थान राष्ट्रवाद का कायल है। इकबाल और रवीन्द्रनाथ समान विचारों से प्रेरित होकर आजादी का सपना देख रहे थे। इकबाल दलितों के कवि हुए। वैश्विक राष्ट्रीयता इकबाल का लक्ष्य थी। साम्प्रदायिकता का विस्फोट मुस्लिम लीग की रणनीति के कारण हुआ। अंत में दिनकर ने लिखा है- *विज्ञान भी हमारे वश में तभी रहेगा जब हम यह मानकर चलें कि विज्ञान से हमें अपनी वाजिब जरूरतों की पूर्ति में सहायता लेनी है।*

'संस्कृति के चार अध्याय' भारतीय संस्कृति की महागाथा है। यह वह ग्रंथ है जिसमें धर्म, संस्कृति, विज्ञान, कला शिल्प सभी की व्याख्या है। भारतीय संस्कृति की सामासिकता का भाष्य करने वाला यह एक अभूतपूर्व गौरवग्रंथ है। इसे सिर्फ इतिहास कहना कठिन है। इसमें एक तरह की महाकाव्यात्मकता है। दिनकर ने कवि विचारक के रूप में जो अर्जित किया है वह एक लम्बे वैचारिक संघर्ष की फलश्रुति है।

दिनकर ने 'रानी केतकी की कहानी' के लेखक इंशा अल्लाह खाँ का मत इस रूप में उद्धृत किया है-"बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुओं ने बोलचाल, चाल-ढाल, खाना और पहनना, इन सब बातों का सलीका मुसलमानों से सीखा है"। दिनकर इस बात से असहमत हैं। संस्कृतियाँ एक दूसरे में आवाजाही करके ही समृद्ध होती हैं। दिनकर ने जेरूसलम की एक लाइब्रेरी से प्राप्त ताम्रपत्र का हवाला दिया है जिसमें वेदों और आर्य ज्ञान-विज्ञान की सराहना की गयी है। मतिमंद ही मानेंगे कि कोई संस्कृति अलग-थलग रहकर समृद्ध होती है। 'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है-शांति में प्रवेश। विज्ञान दृष्टि और हृदय-दृष्टि मिलकर संस्कृति बनाते हैं। वैष्णवता में कई संस्कृतियाँ अपना स्पेस पाती हैं। आलवार संत और सूफी कई बार एक भाषा बोलते हैं। कोई भी उदार धर्म विनोदप्रिय होता है। यह विनोदवृत्ति संस्कृति की जीवनशक्ति होती है। आण्विक युग के दरवाजे पर दिनकर का संस्कृति-विमर्श सार्थक जान पड़ेगा। संस्कृति की ताकत गति में है, गति की तीव्रता में, ठहराव में नहीं। न हिन्दू पुनरुत्थानवाद भारतीय संस्कृति की पहचान में सहायक होगा, न मुस्लिम पुनरुत्थानवाद। दिनकर के इस ग्रंथ को हर दौर में एक नयी रुचि और समझ के साथ पढ़ा जाएगा।

बी - 70, आवास विकास कॉलोनी, सूरजकुण्ड, गोरखपुर - 273015

कुरुक्षेत्र में युद्ध की अनिवार्यता

लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा

आम धारणा है कि युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है। राष्ट्रकवि ने 'कुरुक्षेत्र' में यह प्रश्न उठाया है *कि युद्ध का दायित्व किस पर होना चाहिए। उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शांति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी; तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शांति को भंग नहीं करना चाहिए था?* सामान्यतः मानव समुदाय प्रेम और पारस्परिक सद्भाव से रहना चाहता है। वह न तो किसी को मारना चाहता है और न किसी से मारा जाना। इस पारस्परिक मैत्री से ही समाज में शांति और समरसता का प्रसार संभव है। युद्ध की विषैली लपटें तो व्यक्ति-विशेष की कूटनीतिक योजना का प्रतिफलन हैं-

विश्व मानव के हृदय निर्द्वेष में
मूल हो सकता नहीं द्रोहाग्नि का
चाहता लड़ना नहीं समुदाय है

समुदाय के सामने युद्ध के लादे जाने की आशंका जब प्रबल हो उठती है तो समुदाय के मन में स्वभावतः एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या शस्त्र ही इसका अमोघ उपचार है? न चाहते हुए भी समुदाय को युद्ध में कूदना पड़ता है-

लड़ना उसे पड़ता मगर, औ जीतने के बाद भी
रणभूमि में वह देखता है, सत्य को रोता हुआ

युद्ध का सारा इतिहास विवशता के चीत्कार की करुण स्याही से लिखा गया है। महाभारत में कौरवों के समूल नाश के बाद पाण्डवों को विजय मिली तो धर्मराज ने राज्यारोहण को ही अस्वीकार कर दिया। वह भीष्म पितामह के सम्मुख उपस्थित होकर चीख उठे।

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत में
तन बल छोड़ मैं, मनोबल से लड़ता

कुरुक्षेत्र के आरम्भ में सामान्य मानव के रूप में दिनकरजी ने जो प्रश्न उठाया था कि क्या युद्ध टालने का एक मात्र उपाय शस्त्र ही है, बहुत महत्वपूर्ण है। कुरुक्षेत्र के निष्कर्ष के रूप में राष्ट्रकवि की मान्यता है कि साम्य-भाव से ही विश्व में शांति संभव है। उनकी कामना है कि वसुधा को युद्ध के ज्वर से मुक्त होना चाहिए, तभी मानवता का प्रादुर्भाव हो सकेगा और वसुधा सुख-शांति का सबल आधार पा सकेगी।

सेवानिवृत्त हिन्दी विभागाध्यक्ष, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार)

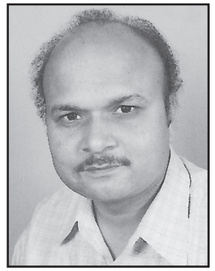

दिनकर की प्रासंगिकता

डॉ. शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी

दिनकर की 'रश्मिरथी' कभी पाठ्यक्रम में पढ़ने को मिली थी। 'संस्कृति के चार अध्याय', 'दिनकर की डायरी', 'उर्वशी' और कुछ विचार गद्य (आलोचना कम, विचार अधिक) भी पढ़ने को मिला। 'उर्वशी' की कुछ पंक्तियाँ आज भी याद हैं। 'रश्मिरथी' का कुछ अंश भी अब तक याद है। 'दिनकर की डायरी' और 'संस्कृति के चार अध्याय' भी महत्व की पुस्तकें हैं। पर दिनकर आज की तारीख में प्रासंगिक हैं क्या? कबीर और तुलसी को भी हिन्दी के आलोचक अपने गणित के हिसाब से याद कर रहे हैं। कबीर और तुलसी हिन्दी के आलोचकों के भरोसे साहित्य में नहीं टिके हैं।

स्वार्थ का गणित साहित्य के लिए अंशकालिक सच की तरह दिख सकता है, पर होता नहीं। मुझे लगता है दिनकर इसे जानते थे इसीलिए उनकी महत्ता बनी रहेगी, वैचारिक असहमतियों के बावजूद। कुरुक्षेत्र की यह पंक्तियाँ मुझे बराबर कालजयी लगती हैं, जीवन के जयघोष की तरह-

जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की
मनु के सरल, अबोध पुत्र की, पुरुष ज्योति संभव की।
हार मान हो गयी न जिसकी किरण तिमिर की दासी,
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि संन्यासी।

गिरे हुए मानव, वह भी अंध के गहन गर्त में, की चिन्ता करने वाले दिनकर की कविता का विश्वास देखते बनता है। रक्त की भाषा लिखने-गढ़ने की तैयारी में लगे दिनकर यह भी जानते हैं कि आज आजादी के क्या मायने हैं। जिसे देखिए, जिधर देखिए, स्वतंत्र है। परिभाषा हम गढ़ रहे हैं, गढ़ते रहे हैं। दिल्ली पर दिनकर की प्रसिद्ध कविता का आस्वाद-धरातल देखें और समझें कि दिनकर क्यों और किसलिए प्रासंगिक हैं- युगचारण की संज्ञा सायास या अनायास दी गयी थी राष्ट्रकवि को, पर थी यह ठीक ही। दिनकर की चेतना का रचनात्मक यंत्र पुराना होना नहीं जानता (यह बात उन्होंने मैथिलीशरण गुप्त के लिए दूसरे शब्दों में की थी)। दिनकर जब यह लिख रहे थे तब देख रहे थे कि उनके ये नये सुभाषित भविष्य में और भी साफ दिखेंगे। साहित्य के साधारण विद्यार्थी को भी यह दिखना चाहिए कि आज हमारे जनप्रतिनिधियों का चरित्र इससे अलग तो नहीं है-

मंत्री के पावन पद की यह शान
नहीं दीखता दोष कहीं शासन में
भूतपूर्व मंत्री की यह पहिचान है,
कहता है सरकार बहुत पापी है।

यह वही दिनकर हैं जो आजादी से पहले के भारत को जगा रहे थे। विभाजन के परिदृश्य में इसी दिनकर ने तकदीर का बँटवारा जैसी मार्मिक कविता लिखी। सम्भवतः इसी कविता की पंक्तियाँ हैं-

बेबसी में काँपकर रोया हृदय,
शाप-सी आहें गरम आईं मुझे;
माफ करना, जन्म लेकर गोद में,
हिन्द की मिट्टी, शरम आई मुझे।
बोलना आता नहीं तकदीर को,
हिन्द वाले आसमाँ पर बोलते।
खूँ बहाया जा रहा इन्सान का,
सींग वाले जानवर के प्यार में।

कौम की तकदीर फोड़ी जा रही,
मस्जिदों की ईंट की दीवार में।

आजादी के बाद भी स्थिति बहुत बदल गयी हो, ऐसा कहना मेरी समझ से ठीक नहीं है। एक रचनाकार की दृष्टि और भाव-सम्पदा अगर साधारण विद्यार्थी या पाठक के भावजगत को ऊर्जस्वित कर दे तो इसे कविता की कम सफलता नहीं माननी चाहिए-

जड़ को उड़ने की पाँख दिए देता हूँ,
चेतन के मन को आँख दिए देता हूँ।
स्वर को कराल हुंकार बना देता हूँ,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूँ।
शूरों के दृग अंगार बना देता हूँ,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।
लोहू को देता हूँ वह तेज रवानी,
जूझती पहाड़ों से तब अभय जवानी।

जीवन जगत के भाव को राष्ट्र के लिए सोचने-विचारने को खुला छोड़ रखा है दिनकर ने। यह कम महत्व की बात नहीं है कि दिन-प्रतिदिन कविता की गति से निराश पाठकों की एक दिशा इधर भी आती है। कम से कम मेरे जैसे पाठकों के लिए तो यह सच ही है। कोई युग चारण (वैसे इस समय 'चारण' कहना भी...) तेजस्वी कवि जब अपने स्वरूप का वर्णन करे, तो वह किस तरह से करेगा। दिनकर 'मूड' के कवि हैं। एक तरह से विशेष भाव-सम्पन्न और भाव-दशा के कवि हैं। कहीं पर वह आकर्षित करते हैं तो कहीं ललकारते हैं। व्यंग्य भी करते हैं तथा आक्रोश भी प्रकट करते हैं। यह 'कवि' मात्र का स्वरूप वर्णन है, दिनकर के यहाँ-

मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का
उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने,
आभा में उज्ज्वल गीत विभा के गाने
आलोक-विशिख से वेध जगा जन-जन को,
सजता हूँ नूतन शिखा जला जीवन को।

'स्व' का विस्तार जन-जन के लिए है। वह जानते हैं कि सामाजिक समरसता को वायवीय कल्पना के माध्यम से नहीं स्थापित किया जा सकता। शायद इसीलिए दिनकर आज भी प्रासंगिक हैं-

जिनको न तटी से प्यार, उन्हें
अम्बर में कब आधार मिला?
यह कठिन साधना-भूमि, बन्धु!
मिट्टी को किए प्रणाम चलो।

दिनकर का साहित्य, दिनकर के विचार, समय की कसौटी पर कसे जाने के बाद कितने मूल्यवान होंगे, यह तो भविष्य बताएगा। पर एक बात तो तय है कि जिस कवि को परम्परा की थाती संस्कार के रूप में मिली, जिसने जीवन संघर्ष से हार नहीं मानी, उसकी कविता में कुछ तत्व तो इस तरह के होंगे जिनसे जीवन का बोध होगा, जीने की प्रेरणा मिलेगी। अगर इस तरह का कुछ नहीं है तो 'कुरुक्षेत्र' की पंक्तियाँ सामने आती हैं-

जहाँ भुजा का एक पंथ हो, अन्य पंथ चिन्तन का,
सम्यक् रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्व-ग्रस्त जीवन का
द्विधामूढ़, वह कर्मयोग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?

एक रचनाकार के लिए क्या आवश्यक है? सत्ता का चुस्त-दुरुस्त संयोग या जनसाधारण का संयोग! बहुत से प्रश्न हैं जिनके लिए न तो यहाँ समय है, न विस्तार की गुंजाइश, फिर भी इतना कहना पर्याप्त है कि दिनकर ने संस्कृति का अध्ययन किया था। यही कारण है कि वह भूत, भविष्य और वर्तमान को देखने की क्षमता रखते हैं। बहैसियत एक रचनाकार वह देख रहे थे-

महँगी आजादी की यह पहली सालगिरह,
रहने दो बापू की अर्थी अब दूर नहीं।
और धूमधाम से नहीं मनाओगे क्या तुम
कुछ ही वर्षों में दशक चोर बाजारी का?
छल छद्म, कपट का, राजनीति की तिकड़म का,
क्रम-क्रम से उत्सव इनका भी होना चाहिए।

अब तो आप मान सकते हैं कि आज की तारीख में भी यह कवि उतना ही प्रासंगिक है जितना कि लिखते समय था। बल्कि लिखने के समय से भी अधिक महत्व अब इन पंक्तियों का है। अस्तु!!

18, नीचू बंगला (हिन्दी भवन परिसर)
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, प. बंगाल - 731235

□

दिनकर की ऊर्जित किरणें

प्रदीप भुयाँ

जब भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ा था और इन्हीं परेशानियों से आहत होकर कवियों ने वायवीय भावनाओं के साथ पलायन कर छायावाद को स्वीकारा तो वहीं रामधारी सिंह 'दिनकर' ने राष्ट्रीय जन जागरण का शंखनाद कर राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र और प्रखर बनाने वाली ओजस्वी कविताएँ लिखीं। केवल कविताएँ ही नहीं वरन् छायावादोत्तर गद्य भी दिनकर के मूल्यों, आदर्शों और प्रगतिशीलता का वाहक है। यही कारण है कि दिनकर का गद्य हो या पद्य, संवेदना और शिल्प, दोनों ही स्तरों पर वे मजबूत दिखाई पड़ते हैं।

अगर अपनी रचना 'हुंकार' में दिनकर ने संग्रामयुग के संघर्षों से लबरेज कविताएँ लिखी हैं तो आगे चलकर 'द्वंद्वगीत', 'रेणुका', 'धूप और धुआँ' जैसे काव्य संकलनों में भी राष्ट्रीय जागरण की ओजस्विता का ही प्रस्फुटन है। दिनकर अपने प्रबंध काव्यों में बहुत सारी समस्याओं से जूझते नजर आते हैं। 'उर्वशी', 'रश्मिरथी', और 'कुरुक्षेत्र' उनके ऐसे ही प्रबंधकाव्य हैं जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से आहत हैं और यह प्रश्न उनके मन में बार-बार कौंधता है कि युद्ध आखिर क्यों? युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम से 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध के दुष्परिणामों के प्रति मानव समाज को राष्ट्रकवि दिनकर आगाह करते दिखाई पड़ते हैं। दिनकर का प्रश्न यह भी है कि क्या किसी समस्या का समाधान अस्त्र-शस्त्र ही है? वे लिखते हैं-

हर युद्ध के पहले द्विधा
लड़ती उबलते क्रोध से,
हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता,
क्या शस्त्र ही
उपचार एक अमोघ है-
अन्याय का, अपकर्ष का,
विष का, गरलमय द्रोह का।

दिनकर आजीवन द्वंद्व में उलझे रहे हैं और शायद यही द्वंद्व उनके लेखन में भी उभर कर आता है। 'उर्वशी' में वे काम और अध्यात्म के द्वंद्व से लड़ते नजर आते हैं, तो 'रश्मिरथी' में मानवों द्वारा बनायी गयी ऊँच-नीच की व्यवस्था से। दिनकर ग्राम्य क्षेत्र से जितना जुड़े थे, शहरी जीवन शैली की शोषित, कुंठित और उपेक्षित जनता पर भी उनकी उतनी ही पैनी दृष्टि थी। वे 'भारत भाग्य विधाताओं' के भ्रष्ट आचरण से आहत हैं और कर्त्तव्यों के प्रति उनके उपेक्षा भाव से त्रस्त आकर लिखते हैं-

रेशमी कलम से भाग्य-लेख लिखने वालों
तुम भी अभाव से कभी ग्रस्त हो रोए हो?
बीमार किसी बच्चे की दवा जुटाने में
तुम भी क्या घर पर पेट बाँधकर सोये हो?

दिनकर ने आजीवन ईमानदारी और सच्चरित्रता का पालन करने में अपना सब कुछ झोंक दिया। मसलन; उनकी ईमानदारी की मिसाल यह है कि जहाँ वे इलियट की कविताओं को पूरी तरह न समझकर भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके और इसे बखूबी स्वीकार किया, वहीं वह किसी वाद में भी विश्वास न रखकर शांति स्थापना ही अपना धर्म

स्वीकार करते हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त करने के अवसर पर दिनकर ने कहा था कि *इलियट को मैं चाहे जितना भी भूलना चाहता, मैं उन्हें भूल नहीं पाता था। उनकी कविताएँ समझ में भले ही नहीं आती हों किन्तु वे मेरी शान्तिभंग करने में समर्थ थीं। मेरे मन को वे अक्सर उस दिशा में भेज देती थीं जिस दिशा में कहीं कोई क्षितिज नहीं था, न कोई किताब खुलकर बन्द होती थी। मेरी चेतना के घाट बँध चुके थे, मेरी चमड़ी मोटी हो चुकी थी, मेरे मुहावरे अब बदले नहीं जा सकते थे। अतएव, इलियट के लिए यह असम्भव कार्य था कि वे मुझे बदलकर अपनी राह पर लगा लें। लेकिन मन बराबर यह महसूस करता रहा कि इलियट रवीन्द्र और इकबाल से छोटे हों या बड़े, यह अलग बात है, किन्तु वे उन दोनों से भिन्न हैं और उनके साथ कविता में कोई ऐसी अदा उतरी है, जो संसार में और कभी दिखाई नहीं पड़ी थीं।* वे लिखते हैं 'जिस तरह मैं जवानी भर इकबाल और रवीन्द्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन-भर गांधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूँ।'

शायद इसीलिए उनकी कविताएँ भी किसी एक रंग तक ही सिमटी हुई नहीं है। उनमें तरह-तरह की भावनाएँ हैं किस्म-किस्म के ऊर्जित विचार हैं। उन्हीं के शब्दों में कहें तो *उजले को लाल से गुणा करने पर जो रंग बनता है, वही रंग मेरी कविता का रंग है।*

यह मानने में कोई गुरेज नहीं होना चाहिए कि जिस तरह वे राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर लोगों में ओजस्वी कविताओं के माध्यम से साहस जगाते हैं ठीक उसी तरह अपने गद्य के माध्यम से विश्व में व्याप्त मानवता की समस्याओं से भी युद्ध करते दिखायी पड़ते हैं और यही वैविध्य दिनकर को रोशनी भी देता रहा है। फिर यह हमारा फर्ज है कि हम दिनकर की किरणों की भाषा समझें, उसे ग्रहण करें और उन किरणों का प्रकाश दूर-दूर तक फैलाएँ।

कृष्णा नगर, ओल्ड अमूलापट्टी (गनकपट्टी)
पोस्ट : सिबसागर, जिला : सिबसागर, असम - 785640

□

साहित्य के रत्न

कोंजेंगबम बबिता देवी

दिनकर ने न केवल भारतीय साहित्य को वरन् विश्व साहित्य को भी अपने लेखन-कर्म से समृद्ध व सुशोभित किया। दिनकर भावनाओं के आकाश में विचरण न करके वास्तविक धरातल पर साहित्य-लेखन करते हैं। दिनकर अपने वास्तविक जीवन में सीधे-सादे और विनम्रता से परिपूर्ण तो थे ही, उनका गद्य और पद्य भी उतना ही सरल, सुबोध और गौरवशाली है। दिनकर ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारत की हताश पीढ़ी में जान फूँक दी। उनकी काव्य रचनाएँ जितनी शोभायमान हैं, उतना ही गद्य-लेखन भी। दिनकर ने अपने जीवन में अनेक गद्य और पद्य की रचनाएँ रचीं। जैसे 'प्रणभंग', 'हुंकार', 'द्वंद्वगीत', 'नील कुसुम' 'चक्रवाल', 'कविश्री', और 'कुरुक्षेत्र' उनकी काव्य रचनाएँ हैं तो 'हे राम', 'संस्कृति के चार अध्याय', 'उजली आग', 'वेणु वन' और 'आधुनिक बोध' गद्य लेखन के क्षेत्र में साहित्य को अनमोल देन है।

'हुंकार' में कवि ने जनता को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों की पहचान के लिए ललकारा है। यानी राष्ट्र से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शोषण के प्रति जागरूक होने का आह्वान किया है। 'उर्वशी' में तेजस्वी और ओजस्वी विचारों से परिपूर्ण दिनकर प्रेम के धरातल पर काम और अध्यात्म की लड़ाई लड़ते दिखते हैं। यही दिनकर 'कुरुक्षेत्र' में विश्व शांति की तलाश करते हैं। वे युद्ध को संहार का एक ऐसा कारक मानते हैं जिसमें धन, बल, जन सबकी हानि होती है। 'कलिंग विजय' के माध्यम से वे युद्ध की विभीषिका का वर्णन निम्न तरीके से करते हैं-

युद्ध का परिणाम ?
युद्ध का परिणाम ह्रासत्रास!
युद्ध का परिणाम सत्यानाश!
रुण्ड-मुण्ड-लुठन, निहिंसन, मीच!
युद्ध का परिणाम लोहित कीच!

स्पष्ट है कि दिनकर यहाँ न केवल अपने देश के बारे में ही मनन-चिंतन करते हैं बल्कि विश्व की वेदना से भी पीड़ित हैं। 'रश्मिरथी' में असमता का भाव प्रबल है। इस असमता में कर्ण पिस रहा है जो दुर्योधन के राज-पाट दिये जाने से भी असमता से उबर नहीं पाया है। दिनकर की दृष्टि बड़ी व्यापक और इनका लेखन क्षेत्र बड़ा विशाल है। निश्चय ही राष्ट्रकवि दिनकर न सिर्फ अपने राष्ट्र के कवि थे वरन् अपने साहित्य में पूरे विश्व को समेटा था। आखिर 'दिनकर' किसी एक देश को रोशनी थोड़े ही देता है। वह तो पूरे विश्व को प्रकाशित करता है।

क्नाकेइथल नगमप्पी थांगमापल, इम्फाल (मणिपुर) - 795001

कविता का सामाजिक संदर्भ और राजनीतिक पक्षधरता का सवाल

देवेंद्र चौबे

साधना या संघर्ष का मार्ग साहित्य का सबसे उन्नत, अतः सबसे कठोर मार्ग है। कवि के लिए कोमल कल्पना की आराधना ही पर्याप्त नहीं होती, उसे संघर्षशील जीवन के बीच प्रविष्ट होकर मनुष्य की अधिक-से-अधिक मनोदशाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।... अगर कोई कलाकार कला की अकर्मण्यता में ही गौरव समझता हो अथवा आत्माभिव्यक्ति में ही कला का चरम महत्व मानता हो, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि उसने समाज और वस्तु-जगत के सामने अपनी पूरी पराजय स्वीकार कर ली है। -रामधारी सिंह 'दिनकर' ('मिट्टी की ओर' से)

उपर्युक्त कथन हिंदी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवियों में से एक रामधारी सिंह 'दिनकर' की 1946 में प्रकाशित आलोचनात्मक निबंधों की पुस्तक 'मिट्टी की ओर' में संकलित लेख 'समकालीन सत्य से कविता का वियोग' से है। इस पुस्तक की चर्चा हिंदी में कम ही होती है। इसके कारण साफ हैं। हिन्दी में जब भी दिनकर के वैचारिक पक्ष का उल्लेख होता है, तब वह या तो 1956 में प्रकाशित 'संस्कृति के चार अध्याय' तक रह जाता है अथवा बहुत हुआ तो 1966 में प्रकाशित 'शुद्ध कविता की खोज' तक आकर ठहर जाता है। जबकि रामधारी सिंह 'दिनकर' की यह पुस्तक छायावाद, प्रगतिवाद और खड़ीबोली के मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त आदि जैसे कवियों के बहाने 1920 से 1946 तक हिन्दी कविता पर नए सिरे से वैचारिक बहस की माँग करती है। यदि इस पुस्तक के प्रकाशन समय 1946 को हम ध्यान में रखें तो साफ पता चलता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामविलास शर्मा और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की कविता की आलोचना से संबंधित पुस्तकें इसी दौर में आती हैं। नामवर सिंह की 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ' या अन्य आलोचनात्मक पुस्तकें तो बहुत बाद में।

दिनकर इस दौर के आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी जैसे आलोचकों के समानांतर रचना (काव्य) के वैचारिक और कला पक्ष को लेकर, जिस तरह के सवाल इस पुस्तक में उठाते हैं या बहस करते हैं; वह साहित्य, खासकर कविता की सामाजिकता, उसकी राजनीतिक पक्षधरता एवं कला की संरचना के शास्त्र को लेकर पुनर्विचार की माँग करता है। दरअसल शास्त्र की दुनिया में यह बहस बहुत पुरानी है कि कला, साहित्य अथवा काव्य क्या है? उसकी जरूरत किसे है? क्या व्यक्ति या समाज का अथवा कला एवं साहित्य का इन दोनों के साथ एक द्वंद्वात्मक रिश्ता है? इस पूरी प्रक्रिया में जनता की केन्द्रीय भूमिका क्या है? क्या रचना या कला जन-समूह से प्रभावित होती है अथवा उसे प्रभावित और दिशा देने के लिए रची जाती है? ये कुछ ऐसे सवाल हैं जिनसे लगभग विश्व की सभी भाषाओं के विचारों एवं लेखकों ने गहरा संवाद किया है। 'मिट्टी की ओर' बताती है कि 'कुरुक्षेत्र' (1946), 'रश्मिरथी' (1952), 'उर्वशी (1961), 'परशुराम की प्रतीक्षा'(1963) जैसी कृतियों के कवि दिनकर के सामने भी ये सवाल, एक बड़े सवाल के रूप में आता है। जिनसे वह अपने वक्तव्यों, भाषाओं और लेखों के माध्यम से मुठभेड़ करते हैं। कहीं ग्रीक के अरस्तू एवं होरेस की तरह कला अथवा कविता की अवधारणा और उसकी भाषा पर छायावादी एवं प्रगतिवादी कविता के संदर्भ में बातें करते हैं तो कहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तरह काव्य में ज्ञान और

शक्ति के सवाल पर विचार करते हैं। कई जगह तो वह प्रगतिशील आलोचकों की तरह साहित्य और राजनीति के संबंधों पर बातचीत करते हुए रचना की राजनीतिक पक्षधरता के सवाल पर प्रश्नचिह्न भी खड़ा करते हैं।

सबसे पहले कवि और कविता। दिनकर के सामने यह एक बड़ा सवाल है कि कवि और काव्य क्या है? 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' में कवि को एक 'सामाजिक जीव' मानते हुए दिनकर लिखते हैं कि 'कवि भी सामाजिक जीव है।... कला मौलिक वस्तु नहीं होती, वह तो कृत्रिम है, प्रकृति या जीवन का अनुकरण मात्र है।' यदि हम अरस्तू के कला संबंधी अनुकरण के सिद्धांत को ध्यान में रखें तो पता चलता है कि दिनकर यहाँ कोई नई बात नहीं कहते हैं, लेकिन जब वह कवि को सामाजिक जीव बताते हैं तो कहीं-न-कहीं इस बात की तरफ भी संकेत करते हैं कि कवि या कविता का समाज के साथ गहरा संबंध होता है इसीलिए रचनाकार सृजन की प्रक्रिया के दौरान अपने समय के सार्थक चरित्रों को उठाते हुए इस संकुचित दुनिया, सिद्धांतों, सीमित बुद्धि आदि के खिलाफ विद्रोह करता है जो कला की दुनिया को परंपराओं और रूढ़ियों के बंधनों में कैद करना चाहते हैं। 'प्रगतिवादः समकालीनता की व्याख्या' में उन्होंने लिखा है कि 'साहित्य की स्वाभाविक प्रक्रिया क्या है?' और साहित्य की इस स्वाभाविक प्रक्रिया में अनुभूतियों के ग्रहण और इसकी भूमिका क्या है? दिनकर मानते हैं कि 'साहित्य की स्वाभाविक प्रक्रिया अनुभूतियों का ग्रहण और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति है।' अर्थात साहित्य उसे माना जाएगा जिसमे लेखक समाज के संघर्षशील जीवन के बीच प्रविष्ट होकर मनुष्य की अधिक-से-अधिक मनोदशाओं का ज्ञान प्राप्त करेगा और उन मनोदशाओं से प्राप्त अनुभूतियों की कलात्मक अभिव्यक्ति करेगा।

दिनकर इस बात पर भी जोर देते हैं कि कला अथवा साहित्य के दो पक्ष होते हैं, एक अनुभूति और दूसरा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति। अर्थात कला अथवा साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है जो तरह-तरह के सामाजिक संघर्षों एवं संदर्भों से लेखक या कलाकार को प्राप्त होती है। यह लेखक अथवा कलाकार पर निर्भर करता है कि जीवन अथवा सामाजिक संघर्षो से प्राप्त उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए संरचना का कौन-सा शास्त्र अख्तियार करता है। जाहिर है, जो भी शास्त्र को अपनाया जाएगा उसकी एक वैज्ञानिक पद्धति होगी। इसीलिए दिनकर 'हिन्दी कविता और छंद' में यह धारणा प्रकट करते हैं कि "कविता कला है, किन्तु छंद; शास्त्र को विज्ञान कहना चाहिए।" पर रचना के कलाकार इसे जीवन भर साधते रहते हैं। क्या रामधारी सिंह दिनकर इसीलिए मैथिलीशरण गुप्त को खड़ी बोली हिंदी का सबसे बड़ा कवि मानते हैं कि उन्होंने छंदों एवं अलंकारों को साधा। या कारण कुछ और है? क्या इसलिए नहीं कि उनके यहाँ भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल के तुलसीदास की तरह ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य है? यह ध्यान रखना चाहिए कि दिनकर की 1946 में प्रकाशित इस आलोचनात्मक कृति के पूर्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल के भक्ति-काव्य से संबंधित तीनों महत्वपूर्ण कवियों (गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और जायसी) पर केंद्रित आलोचनात्मक कार्य क्रमशः 1923, 1924 तथा 1925 और 'चिंतामणि' भाग एक तथा दो क्रमशः 1939 एवं 1945 में प्रकाशित हो चुके थे। इसीलिए कई जगह दिनकर के कवि एवं काव्य संबंधी विचार आचार्य शुक्ल से प्रभावित एवं संवाद करते नजर आते हैं। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण गुप्त की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि 'ज्ञान से मुक्ति का जन्म होता है और भक्ति से ज्ञान में दृढ़ता आती है। एक के बिना दूसरे की स्थिति संभव नहीं है। ज्ञान आत्मा के जागरण का सूचक है किंतु भगवान की ओर बढ़ने की प्रेरणा उसे भक्ति से मिलती है।' 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' की निम्नलिखित पंक्तियों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार भी कुछ इस प्रकार के हैं जो दिनकर पर आचार्य शुक्ल के प्रभाव को स्पष्ट करते हैंः "तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते है। योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।"

अर्थात चित्त की एकाग्रता, भक्ति के बिना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए दिनकर निम्नलिखित काव्य पंक्तियों की चर्चा करते हैंः

जेहि गति मोरी न दूसरि आसा
वह बाल बोध था मेरा।
निराकार, निर्लेय भाव में मान हुआ जब तेरा।
पहले एक अजन्या जाना,
फिर बहुरूपों में पहचाना,
ये अवतार चरित तब नाना;
चित हुआ चिर चेरा
निर्गुण, तू तो निखिल गुणों का निकला
बास-बसेरा।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। पर कर्म? आचार्य शुक्ल सूर अथवा तुलसी को इसलिए बड़ा कवि घोषित करते हैं कि उनके यहाँ ज्ञान, भक्ति और कर्म का गहरा सामंजस्य है। दिनकर यहाँ जिस विश्वास के साथ मैथिलीशरण गुप्त को भारतेंदु के बाद सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करते हैं वह इसी बात का संकेत है कि जिस कविता में ज्ञान और भक्ति होगी, वही श्रेष्ठ होगी। क्या इसलिए वह छायावादी कवियों पर विचार विमर्श की प्रक्रिया में सुमित्रानंदन पंत को 1920 के बाद की काव्यधारा का सम्राट मानते हैं? यद्यपि वह प्रसाद और निराला को भी महत्वपूर्ण कवि मानते हैं तथा इसीलिए छायावाद को हिंदी कविता का एक महत्वपूर्ण आंदोलन। यहाँ तक कि प्रगतिवाद को भी वह 1936 में लखनऊ में गठित प्रगतिशील लेखक संघ अथवा

वामपंथी आंदोलन के प्रभाव के कारण उत्पन्न कविता के रूप में नहीं देखकर, छायावाद के 'परिपाक' के रूप में देखते हैं; "जिसे हम प्रगतिवाद कहते हैं वह छायावाद के परिपाक के सिवा और कुछ नहीं है।" अर्थात यदि छायावाद नहीं होता तो हिंदी में प्रगतिवाद नहीं आता। बात वही हुई कि हर नयी चीज पूर्व का परिणाम है। मतलब हिंदी कविता के इतिहास में रीतिकाल इसलिए है कि उसके पूर्व भक्तिकाल था। इस प्रकार रीतिकाव्य, भक्तिकाव्य का 'परिपाक' हुआ।

यहाँ सवाल यह है कि दिनकर आखिर क्या साबित करना चाहते हैं ? कोई भी रचना अथवा व्यक्ति या समाज पूर्व की परंपरा से कुछ-न कुछ ग्रहण अवश्य करता है, पर ये उसी का नतीजा हैं, यह बात समय में नहीं आती है। खासकर, प्रगतिवाद को छायावाद का परिणाम मानने का तर्क औचित्य पूर्ण नहीं लगता है। दिनकर तो यहाँ तक कहते हैं कि "प्रगतिवाद को, कविता - गत किसी नये जागरण का पयार्थ मानना अनेक दृष्टियों से अयुक्तियुक्त और खण्डनीय है"। क्यों? दिनकर इसका उत्तर रोमांसवाद को केंद्र में रखकर देते हैं। उनका मानना है कि प्रगतिवाद के अधिकांश कवि छायावाद से आये हैं अथवा छायावादी दौर की हिन्दी कविता की उपज हैं। छायावाद में मौजूद रोमांसवाद उन्हें राजनीतिक उग्रता का समर्थक लगता हैः "प्रगतिवाद की सबसे बड़ी विशेषता शायद यह है कि उसने काव्य में राजनीति की स्थापना की है, किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि छायावाद का पर्याय रोमांसवाद, प्रायः सभी देशों में उग्र राजनीतिक आंदोलन के प्रति सदैव सहानुभूतिपूर्ण था तथा आरंभ से हिंदी में भी वह उग्रता का समर्थक रहा है।"

यह उग्रता किस प्रकार की है, दिनकर इसे स्पष्ट नहीं करते हैं। कहना न होगा कि रोमांसवाद की जिस राजनीतिक उग्रता की तरफ इशारा करना चाहते हैं, उसका बहुलांश व्यक्तिगत उपलब्धियों का रहा है, वह भी उन देशों में अधिक जहाँ भारत की तरह लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ नहीं रही हैं। प्रगतिवाद छायावाद का परिणाम इसलिए भी नहीं हो सकता है क्योंकि घोषित रूप से हिंदी में प्रगतिवाद जनतांत्रिक मूल्यों को लेकर विकसित होता है एवं सामंतवाद तथा पूँजीवाद के खिलाफ जनतांत्रिक (सामाजिक और राजनीतिक) व्यवस्था का हिमायती है। इसीलिए दिनकर की यह स्थापना भी बहस की माँग करती है कि "प्रगतिवाद जो हमारे लिए इतना सम्मोहक शब्द हो गया है, किसी भी प्रकार साम्यवाद का पर्याय नहीं हो सकता।" इतना ही नहीं, जब दिनकर यह कहते है कि *प्रगतिवाद को मैं हिन्दी कविता का कोई नया जागरण नहीं मानता,* तब उनकी यह स्थापना समझ में नहीं आती है कि साहित्य को क्यों वह साधना या संघर्ष का मार्ग मानते हैं? साधना तो ठीक है, पर संघर्ष किससे? किसके खिलाफ? सिर्फ रूढ़ियों अथवा परंपरा में सुधार के लिए या उस पूरी व्यवस्था को बदलने के लिए जो एक नयी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था द्वारा बेहतर समाज बनाना चाहती है? तब यह नयी व्यवस्था साम्यवाद क्यों नहीं हो सकती? आखिर दिनकर क्यों नहीं विकास की इस प्रक्रिया में वामपंथी आंदोलन की भूमिका को स्वीकार करना चाहते हैं? यद्यपि 'मिट्टी की ओर' में वह जगह-जगह साम्यवाद, कार्ल मार्क्स आदि की चर्चा करते हैं; पर पुरानी व्यवस्था को ही बनाए रखना चाहते हैं जिससे कि साहित्य जनसमूह तक पहुँचे तो जरूर, पर किसी राजनीतिक विचारधारा का प्रचारक न हो जाए, खासकर नये वस्तुवाद का।

दरअसल, रामधारी सिंह 'दिनकर' की विचारधारा जड़ों की ओर वापसी की विचारधारा है, जहाँ परंपरा आधुनिकता के साथ द्वंद्वात्मक संघर्ष करते हुए लेखन में यथार्थ की महत्ता को स्थापित करती है। उनकी 'कुरुक्षेत्र' 'उर्वशी', 'परशुराम की प्रतीक्षा' आदि जैसी काव्यकृतियों या वैचारिक पुस्तकों के माध्यम से भी इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। वे रचना को जनता के साथ जोड़ना चाहते हैं, इसीलिए वे 'दृश्य अदृश्य का सेतु', 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न', 'हिन्दी कविता पर अशक्तता का दोष', 'प्रगतिवाद', समकालीनता की व्याख्या', 'साहित्य और राजनीति' आदि जैसे आलोचनात्मक निबंधों में रचना को जनता के वास्तविक जीवन से जुड़ाव की आवश्यकता पर जोर देते हैं, पर इस बात को स्वीकार करना नहीं चाहते कि रचना की निर्मिति में 'जनता' की भी कोई केंद्रीय भूमिका होती है। वह यह भी मानना नहीं चाहते हैं कि कई बार जनता रचना के शास्त्र को भी निर्धारित करती है, जैसे कि पूँजीवाद के उदय के साथ उपन्यास जैसी नयी विधात्मक संरचनाओं का जन्म होता है। पर दिनकर की यह पुस्तक एक कवि के काव्य संबंधी धारणाओं, रचना की निर्मिति की प्रक्रिया में परंपरा की भूमिका एवं उसकी राजनीतिक पक्षधरता के सवाल को गंभीरता के साथ उठाती है जिसकी व्यापक परिणति उनकी 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसी पुस्तक में दिखलाई पड़ती है। 'मिट्टी की ओर' की अनेक स्थापनाओं से असहमतियाँ हो सकती हैं, पर दिनकर जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों को रखते हैं और उसके लिए तर्क देते हैं, वह उनकी कला तथा काव्य संबंधी दृष्टि को व्यापक आयाम देने के लिए पर्याप्त हैं। समकालीन कविता के साथ मुठभेड़ की उनकी यह कोशिश भारतेंदु, प्रसाद, पंत, निराला, अज्ञेय आदि जैसे कवियों की वैचारिक हस्तक्षेप जैसी परंपराओं में कुछ नया जोड़ती और व्यापक बहस की माँग भी करती है।

सहायक प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र,
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- 110067

□

दिनकर का काव्येतर साहित्य

डॉ. पुष्पारानी गर्ग

रामधारी सिंह 'दिनकर' का नाम कवि रूप में हिन्दी साहित्य जगत में इतना अभिभूत हो चुका है कि वह अभी तक उसी में रमा हुआ है। सम्भवतः इसी कारण उसे अवकाश नहीं मिल पाया कि दिनकर जी के साहित्यिक व्यक्तित्व के अन्य पहलुओं पर भी दृष्टिपात करे। वस्तुतः दिनकर उत्कृष्ट कोटि के सफल कवि होने के साथ एक सशक्त गद्यकार भी थे। उन्होंने गद्य एवं पद्य दोनों में विपुल ग्रन्थों की रचना की है।

साहित्य की विपुलता ही उनकी श्रेष्ठता का निकष नहीं है, बल्कि उसमें उनका गूढ़ चिन्तन, प्रौढ़ वैचारिकता, सुस्पष्ट सैद्धान्तिक धारणाएँ एवं समर्थ अभिव्यक्ति आदि ऐसी शक्तियाँ हैं जो दिनकर जी के गद्यकाररूप को उनके कवि रूप के सम्मुख पूर्ण अधिकार के साथ प्रतिष्ठित करती हैं।

दिनकर जी के साहित्यिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शासकीय सेवा में रहकर राजनीति से सम्पृक्त रहते हुए भी वे स्वच्छन्द रूप से साहित्य सृजन करते रहे। उनकी साहित्य चेतना राजनीति से उसी प्रकार निर्लिप्त रही, जिस प्रकार कमल जल में रहने पर भी जल से निर्लिप्त रहता है। अपने राजनीतिक जीवन के विषय में बकौल गालिब, दिनकर का कथन है 'बाजार से गुजरा हूँ, खरीददार नहीं हूँ।' उन्हें अपने राजनीतिक जीवन में दो विराधी मनःस्थितियों से गुजरना पड़ा। एक ओर तो सरकारी नौकरी की विवशता, कि बार-बार त्यागपत्र देने की इच्छा को दबाकर आर्थिक अभावों के कारण उन्हें नौकरी करनी पड़ी, दूसरी ओर काव्य-सृजन के माध्यम से वे अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को भी अभिव्यक्ति देते रहे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दिनकर का कवि-हृदय देश की नवीन परिस्थितियों व समस्याओं से आलोड़ित हुआ, जिसने उन्हें गूढ़ वैचारिकता से परिपूर्ण गद्य की ओर उन्मुख किया। वस्तुतः काव्य का क्षेत्र कल्पना और भावना से अतिरंजित होता है। उसमें तर्क परिचालित विश्लेषण और विवेचन के लिए स्थान नहीं होता है। किन्तु जो कवि परम्परा से अनुशासित मान्यताओं के साथ समकालीन प्रभावों से भी आक्रांत होता है, उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए गद्य का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। दिनकर जी एकान्तसेवी कवि ही नहीं थे, बल्कि वे कर्मक्षेत्र में अवतरित होकर राष्ट्रीयता के लिए संघर्ष करने वाले एक सजग और जागरूक भारतीय नागरिक थे। उन्होंने अपने उत्तरवर्ती जीवन में राष्ट्रभाषा हिन्दी काव्य की क्रांति एवं संस्कृति की विविध विचारधाराओं में अपने जीवन की दिशा निर्धारित की थी। ऐसी स्थिति में उनका साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी था, तो क्या आश्चर्य ! स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात दिनकर जी ने विशेष रूप से गद्य का सृजन ही अधिक किया।

दिनकर जी की अब तक कुल पच्चीस गद्य रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। अर्धनारीश्वर, वेणुवन, वस्पीपल, साहित्य मुखी, आधुनिक बोध, धर्म नैतिकता और विज्ञान, विवाह की मुसीबतें आदि दिनकर के ऐसे निबन्ध संग्रह हैं, जिनमें उन्होंने आधुनिकता एवं परम्परा, धर्म और विज्ञान, काम, प्रेम और नैतिकता, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीय आदि विषयों पर बहुत गहराई से चिन्तन किया है। अपने प्रारम्भिक जीवन में क्रांति का उद्घोष करने वाले राष्ट्रकवि दिनकर आगे चल कर राष्ट्रीयता का विसर्जन कर देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार राष्ट्रीयता के पीछे जो घृणा की भावना छिपी है, वह विश्व-एकता की भावना को सुदृढ़ नहीं होने देगी। 'अन्तरराष्ट्रीयता हमारे प्रेम का विकास' नामक निबन्ध में वे लिखते हैं, ''गुलामी एक काँटा है, जिसके गड़ जाने पर हम उसे राष्ट्रीयता रूपी दूसरे काँटे से निकालते हैं, लेकिन काँटा निकल जाने के पश्चात क्या यह उचित है कि हम एक काँटे को तो फेंक दें और दूसरे काँटे

को जेब में लिए फिरें।" दिनकर के अनुसार राष्ट्रीयता की परिणति अन्तरराष्ट्रीयता में होनी अनिवार्य है, क्योंकि प्रेम और उदारता की एक मंजिल राष्ट्रीयता है और अन्तरराष्ट्रीयता उससे आगे की मंजिल का नाम है।

आज के वैज्ञानिक युग में धर्म बिल्कुल निराहत हो रहा है, इस विषय में दिनकर का मत है कि आज की अति वैज्ञानिकता से त्रस्त सभ्यता को भविष्य में धर्म एवं साहित्य की और अधिक आवश्यकता पड़ेगी। जीवन में विज्ञान का स्थान तो रहेगा, परन्तु वह अभिनव रूप ग्रहण करके आधिभौतिकता से ऊपर उठकर धर्म के क्षेत्र में जीवन की सूक्ष्मताओं में प्रवेश करेगा।

आधुनिकता के बारे में दिनकर जी की निजी धारणाएँ रही हैं। वे आधुनिकता को कोई मूल्य न मानकर मूल्यों के विघटन का पर्याय मानते थे। परन्तु इस आधुनिकता का एक अनुकरणीय पक्ष और भी है, जिसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है- जिसे हम आधुनिकता कहते हैं, वह एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अंधविश्वास से बाहर निकलने की प्रक्रिया है, यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया है, इसी आधुनिकता के साथ दिनकर भारत की उस परम्परा का तालमेल बैठाना चाहते थे, जो उसकी आध्यात्मिकता में निहित है।

संस्कृति और सभ्यता दिनकर जी के चिन्तन का महत्वपूर्ण विषय रहा है। 'संस्कृति के चार अध्याय' दिनकर जी का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सुप्रसिद्ध शोधपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें भारतीय संस्कृति के विकास को चार अध्यायों में बांट कर उसकी एक सामाजिक प्रतिभा प्रस्तुत की गई है। दिनकर जी के अनुसार भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है आध्यात्मिकता, दया, प्रेम, उदारता और सहिष्णुता आदि। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह अनेक प्रकार की उथल-पुथल के पश्चात आज भी पूर्णतया जीवंत है और सम्पूर्ण विश्व का नेतृत्व करने में सक्षम है। इसी कारण दिनकर जी ने यह आस्था प्रकट की है कि भविष्य में भी यही संस्कृति सम्पूर्ण विश्व की एकता की पृष्ठभूमि निर्मित करने में समर्थ होगी।

ऐसा ही प्रशंसनीय ग्रन्थ है, 'शुद्ध कविता की खोज'; इसमें दिनकर जी ने काव्य के प्रयोजन के आधार, उसके शुद्धतावादी आन्दोलन का बहुत खोजपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के माध्यम से पाठक को सहज ही सम्पूर्ण यूरोप की तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों एवं नवीन विचारधाराओं का परिचय भी प्राप्त हो जाता है। दिनकर जी ने आलोचनाएँ भी यथेष्ट रूप से लिखी हैं। इनमें से कुछ, उनके अन्य निबन्ध संग्रहों में संकलित हैं तथा कुछ स्वतंत्र आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'मिट्टी की ओर', 'काव्य की भूमिका', 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण', उनके आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। अपने समीक्षात्मक निबन्धों के माध्यम से दिनकर जी ने हिन्दी आलोचना के स्तर को ऊँचा उठाते हुए उसे एक नवीन दिशा प्रदान की है। अपने समकालीन समीक्षकों से भिन्न वे साहित्य में शास्त्रीय प्रतिबद्धता को अनिवार्य महत्व प्रदान करने के पक्ष में नहीं थे, उन्होंने रीतिकाल का मूल्यांकन नवीन दृष्टि से किया था। उनके अनुसार चित्रकला की कसौटी रीतिकाल के साथ न्याय करने की सबसे अनुकूल कसौटी होगी। इस आधार पर रीतिकाल हिन्दी का बहुत ही सफल काल माना जाएगा, क्योंकि इस काल के कवियों ने कला की साधना में कोई कमी नहीं रखी। दिनकर के मत से रीतिकाल के कवियों का दोष यह है कि उन्होंने अपनी शृंगारिक भावनाओं को सच्चाई के साथ अभिव्यक्त नहीं किया। इन कवियों ने जीवन और समाज की समस्याओं की जो उपेक्षा की है, उसका कारण यह था कि तत्कालीन समाज का ध्यान भी इन समस्याओं की ओर नहीं था।

दिनकर जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्न काव्यान्दोलनों पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं, जो उनके समकालीन अन्य विचारकों से बहुत-कुछ भिन्न हैं। छायावादी आंदोलन के विषय में दिनकर जी का मत है कि वह केवल द्विवेदीयुगीन काव्य की कल्पनाहीनता के विरुद्ध विद्रोह ही नहीं था, प्रत्युत जीवन की सबसे बड़ी क्रांति का भी प्रतीक था। यह जीवन की स्थूलता से दूर भागने का प्रयास था। छायावाद की वेदना के विषय में दिनकर का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है कि *साहित्य को सतही दृष्टि से देखने वाले लोग यह कह देते हैं कि यह प्रथम विश्वयुद्ध से जन्मी हुई निराशा का परिणाम था अथवा यह कि असहयोग आंदोलन के विफल हो जाने से देश में जो निराशा उत्पन्न हुई, उसकी अभिव्यक्ति छायावाद के रुदन पक्ष में हुई।* परन्तु, ये दोनों मत खण्डित इसलिए हो जाते हैं कि विश्व-युद्धजनित निराशा का ज्ञान भारत को बहुत बाद में हुआ, वह भी इलियट की कविताओं द्वारा। जहाँ तक असहयोग आंदोलन का प्रश्न है, उसकी विफलता से देश में पस्ती नहीं आयी थी। इस काल की राष्ट्रीय कविताओं में उमंग ही उमंग है, पस्ती या शिथिलता के भाव नहीं हैं।

दिनकर के अनुसार छायावाद की वेदना मनुष्य की नहीं, कलाकार की वेदना है, जो वास्तविक अनुभव नहीं है, वरन् जिसकी काल्पनिक अनुभूति से कवि कोमल कविताएँ रच रहा है। अनेक दुर्बलताओं के बावजूद छायावाद को आधुनिक हिन्दी साहित्य में विशिष्ट महत्व का अधिकारी मानते हुए दिनकर लिखते हैं कि, *खड़ी बोली में कविता का जागरण एक बार ही हुआ और वह था छायावाद का अभ्युत्थान। उसके बाद जो कुछ हुआ, वह छायावाद के परिपाक की प्रक्रिया मात्र रही है।*

आधुनिक रहस्यवाद को दिनकर छायावाद से अलग करके नहीं देखते। उनके अनुसार छायावाद की रहस्यमयी भावना भी छायावादियों की बौद्धिक जिज्ञासा का परिणाम थी। ऊँचे से ऊँचे सौन्दर्य को देखने की कामना से छायावाद का रागात्मक पक्ष विकसित हुआ और सृष्टि के रहस्य को जानने की उत्सुकता इस आंदोलन का बौद्धिक पक्ष थी। इस प्रकार वस्तु के आंतरिक सत्य को देखने की चाह में उन्होंने ऐसी अनंत

सुन्दरताओं के भी दर्शन किए जो हिन्दी के लिए अछूती थीं। इससे हिन्दी के काल्पनिक जगत में अत्यन्त श्रीवृद्धि हुई। छायावाद के बाद आनेवाले प्रगतिवादी आंदोलन को दिनकर जी साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं मानते, क्योंकि वह प्रचार का माध्यम बनकर ही रह गया था।

भविष्य में कविता का क्या स्वरूप होगा, इस विषय में दिनकर जी का विचार है कि भविष्य की कविता गाने या सुनाने की चीज न होकर, सोचने-समझने की वस्तु होगी। उसका संबंध मनुष्य के अन्तर्जगत से होगा।

दिनकर जी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी पर भी दो पुस्तकें लिखी हैं। ये हैं : 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता' तथा 'राष्ट्रभाषा आंदोलन और गांधी जी।' इनके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा पर कुछ लघु निबंध भी उन्होंने लिखे हैं। दिनकर का कथन है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर इसलिए प्रतिष्ठित किया गया कि उसमें राष्ट्रभाषा बनने की योग्यता मौजूद है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस दिशा में सबसे अधिक प्रयत्न अहिन्दीभाषी महापुरुषों ने ही किया। वस्तुतः सम्पूर्ण भारत की संस्कृति एक है। उसे अपनी सांस्कृतिक एकता व राजनीतिक अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए एक राष्ट्रभाषा का समुचित प्रसार करना चाहिए। इसके लिए देश के सभी राज्यों में हिन्दी का अधिकाधिक विकास होना चाहिए। विशेषकर दक्षिणी राज्यों में हिन्दी के समुचित प्रसार के लिए दिनकर जी का आग्रह रहा है कि हिन्दी वालों को अपने हिन्दी प्रेम की कीमत चुकाने के लिए दक्षिण की कोई न कोई भाषा अवश्य सीखनी चाहिए ताकि दक्षिण वालों को यह सद्भावना और विश्वास मिल सके कि उन पर हिन्दी जबरदस्ती थोपी नहीं जा रही है।

दिनकर जी ने अपनी विदेश यात्राओं के जो संस्मरण लिखे हैं, उनका अपना अलग-अलग साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्व है। चीन की यात्रा में वे वहाँ के अनुशासन से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। उन्हें यह भी पता चला कि चीन में जनश्रुति रही है कि यहाँ जितनी भी अच्छी चीजें हैं, सब भारत से आयी हुई हैं। चीन में 'फ्लाइंग माउन्टेन' है। इसके लिए भी कहा जाता है कि यह उड़न पहाड़ भी भारत से ही आया था। जर्मनी यात्रा में बर्लिन का विभाजित रूप देखकर उन्हें बहुत पीड़ा हुई थी। वे लिखते हैं, *'बर्लिन विश्व राजनीति का गहरा घाव है। ...बर्लिन की दीवार के दोनों ओर तड़पते हृदय हैं जिन्हें हिटलर अपनी क्रूरता की कहानी कहने को छोड़ गया है।'* अपनी इन विदेश यात्राओं में दिनकर की दृष्टि वहाँ की तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक स्थिति पर भी रही है जिसकी वे निरन्तर अपने मन में भारत से तुलना करते रहे हैं।

वैयक्तिक संस्मरणों के माध्यम से उन्होंने जनमानस के स्मृति पटल पर धुँधली होती रेखाओं को फिर से चमकाने का प्रयास किया है।

दिनकर जी की पुस्तक 'चेतना की शिखा' में भारत के महान योगी श्री अरविन्द के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को बिल्कुल सहज एवं बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया गया है। 'उजली आग' एक गद्य-काव्य है, जिसमें दिनकर जी का दार्शनिक कलाकार का रूप उभर कर सामने आया है। इसमें उन्होंने वैचारिक रूपकों व सांकेतिक कथाओं तथा देश-विदेश में प्रचलित कथा-संदर्भों के माध्यम से आज के मानव को नये संदेश दिए हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि दिनकर जी ने बालोपयोगी गद्य एवं पद्य का भी सृजन किया है। इसके द्वारा एक ओर तो वे भारतीय बालकों को अपनी सांस्कृतिक परम्परा एवं पृष्ठभूमि से परिचित कराना चाहते हैं, तो दूसरी ओर देश के राजपूत वीरों एवं क्षत्राणियों की गाथा सुनाकर उनके बाल मन में वीरता के संस्कार निर्मित करना चाहते हैं ताकि वे आगे चलकर तन-मन से सच्चे भारतीय नागरिक बन सकें।

दिनकर का एक पत्र संकलन 'दिनकर के पत्र' नाम से प्रकाशित हुआ था जिसका संपादन कन्हैयालाल फूलफगर ने किया था। पत्र भी गद्य साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है। पत्रों में लेखक के आंतरिक व्यक्तित्व या अन्तर्जगत के निगूढ़ कक्षों का स्पष्ट साक्षात्कार होता है। दिनकर के पत्रों में उनके स्वभाव के साथ उनके पारिवारिक जीवन की स्पष्ट झाँकी मिलती है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाने के साथ राष्ट्रीयता एवं साहित्य के प्रति समर्पित था। उन्होंने अपने सभी कर्त्तव्यों का पूरी निष्ठा के साथ निर्वाह किया परंतु उन्हें निभाने में उन्हें बहुत जहमत झेलनी पड़ी। जीवन में भोगी हुई पीड़ा मानसिक क्लेश और पारिवारिक संत्रास में उनकी कुण्ठा नहीं, एक प्रकार का सात्विक आक्रोश है, संघर्ष है, आघात देने की शक्ति है।

कहा जा सकता है कि दिनकर का सम्पूर्ण गद्य साहित्य विशिष्ट वैचारिक गम्भीरता से युक्त है। अपने गद्य में वे अधिकतर आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर चिंतन करते दिखाई देते हैं। कभी साहित्य की समस्या पर, कभी धर्म और विज्ञान की समस्या पर, कभी आधुनिक नवीन मूल्यों की समस्या पर, कभी राष्ट्रभाषा की समस्या पर, कभी राष्ट्रीयता की समस्या पर। आधुनिक युवा आक्रोश तथा अनुशासनहीनता की समस्या पर विचार करते हुए वे लिखते हैं, अनुशासनहीनता वह रोग नहीं जो कल पैदा हुआ और परसों खत्म हो जाएगा। जब तक शासन के कर्णधार नहीं सुधरेंगे, जब तक ईमानदार कर्मचारी धक्के खाते रहेंगे और बेईमानों को तरक्की मिलती रहेगी, तब तक छात्रों की अनुशासनहीनता भी कायम रहेगी। इसके लिए समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को सुधारना होगा।

सच तो यह है कि दिनकर का गद्य साहित्य इतना विशाल और सुगम्भीर है कि थोड़े में उसका परिचय देना कठिन है। हिन्दी के अक्षय भंडार में महाकवि दिनकर ने अपनी गद्य रचनाओं से जो महान योगदान किया है उसका विश्लेषण एवं विवेचन करके सही दिशा प्राप्त करना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

2, भँवरकुआँ चौराहा, अमृत डेरी के सामने, इन्दौर - 452017, मध्य प्रदेश

रति उर्वशी की, राग पुरूरवा का

डॉ. रामशंकर त्रिपाठी

दिनकर राग के अतुल्य उद्गाता हैं। उनके राग में कुण्ठित वर्जना नहीं है। वह प्रसन्न और निर्बन्ध है। रति-विभाव के उभय पक्षों यानी आश्रय और उसके समस्त अनुभावों तथा आलम्बन और उसके यावत् उद्दीपनों से वह परस्परानुबिद्ध एवं सम-समान ऋद्ध है। उसमें छद्म राग की अगतिशीला नैतिक वर्जना का लव-लेश नहीं है। तभी वह सनातन भी है, आधुनिक भी।

यह मानी हुई बात है कि किसी भी चीज का मान-मूल्य अथवा अर्थ उसके समान या फिर उसके प्रतीप रूपों अथवा तत्वों के परिपार्श्व अथवा सम्मुखीनता में अधिक उजागर होता है, साफ दीखता है। इसलिए दिनकर की राग-वार्ता के साथ यदि उनके पूर्वापर सहवर्ती भारतीय तथा विदेशी कवियों, लेखकों को भी देखते चलें तो दिनकर साफ दिखेंगे, कम से कम उसकी सम्भावना बढ़ जाएगी।

दिनकर एक ओर छायावाद की कनकाभा से आभासित हैं, तो दूसरी ओर प्रयोगवाद अथवा नई कविता की नवता से आकल्पित। इसलिए छायावादी बृहत्-त्रयी एवं प्रयोगवादी शलाका-पुरुष के रति-रभस के साथ दिनकर के रति-राग को (उनके 'उर्वशी' काव्य के पुरूरवा-उर्वशी के ब्याज से) अनुभावित किया जाय तो ठीक ही होगा। किन्तु यह पहले ही स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इनमें से किसी से भी वे प्रकटतः प्रभावित नहीं हैं। प्रभाव-प्रस्तार यदि किसी का दीखता है, तो वे हैं अंग्रेजी कवि-कथाकार डी.एच. लारेंस या फिर अंग्रेजी चिंतक बर्ट्रेण्ड रसेल। लारेंस जैसा काम-कथायन और रसेल जैसा काम-चिंतन विरलतर है। अस्तु, इन दोनों का दिनकर पर अमोघ प्रभाव है।

सबसे पहले प्रसाद। प्रसाद का राग वर्जनामय है और इसीलिए वह अधखुला और गोपनशील है। (इसीलिए उसका आकर्षण तीव्रतर और दुर्निवार है।) सामाजिक दृष्टि से रति-राग अथवा प्रेम दो प्रकार का होता है- स्वकीयापरक और परकीयापरक। स्वकीयात्मक प्रेम को सामाजिक, नैतिक मान्यता प्राप्त होती है। इसलिए वह वैध कहलाता है। सुस्थिर वैधता के कारण वह सामान्य, अनावेगमय, सम्प्रतिष्ठ एवं अगतिक होता है। परकीया राग वैयक्तिक होता है- समाज द्वारा अक्सर अमान्य, इसलिए प्रायः आत्यन्तिक आवेग-उदग्र, निर्बन्ध और निर्झर-गतिमान होता है। स्वकीयानुबिद्ध सम्बन्ध अनुष्ण, उपयोगाश्रित, समाज-साकांक्ष और नीति-चक्षु होता है। वह प्रायः छद्म प्रेमाभाषी ही नहीं, राग-रहित भी हो सकता है। वह मनःशून्य होकर भी मात्र देह-रूप से बाध्यतः सह-अस्तित्व बनाये रख सकता है। स्वकीयानुबिद्ध सम्बन्ध की यही बाध्यता अक्सर नर-नारी को इन जड़ीभूत शृंखलाओं को तोड़ निर्बन्ध हो जाने के लिए अग्रोन्मुख करती रही है।

प्रसाद जी का रागारुण मानस परकीय-प्रसन्न प्रेम की ओर प्रायः उन्मुख रहा है। किन्तु, उनकी अन्तर्मुखी प्रकृति और उनका शिष्ट-शालीन, और इसीलिए अपरिहार्यतः समाजभीरु स्वभाव उन्हें खुलकर निर्बन्ध-भाव से सर्वांग सम्मेल परकीया-भाव से दुराता रहा है। चाहे उनका चन्द्रगुप्त हो जो मालविका, कल्याणी और कार्नेलिया की ओर लगभग एक ही समय में तरलित-तरंगायित होता रहता है; चाहे स्कन्दगुप्त हो जो अशीघ्र-समाप्य, दुर्निवार रूपाकर्षण विजया के विभाव से ही अनुभव करता है; चाहे मनु हो जो इड़ा की ओर अप्रतिरोध्य भाव से उमड़ता गिरता है या फिर प्रसाद का 'मैं' हो जो 'आँसू' की पुंश्चली प्रमदा के परिरंभ-कुंभ की मदिरा से मदहोश और निःश्वास-मलय के झोंको से कंटकित हो उसके मुखचन्द्र-चाँदनी-जल से मुँह धोकर सवेरे उठता है- सब के

सब परकीया-राग में आचूड़ निमग्न हैं। उनके समस्त नायकों में स्कन्दगुप्त से अधिक शालीन, अधिक प्रज्ञ, अधिक आत्मस्थ, अधिक विवेकशील, अधिक दूरदर्शी, अधिक कोमल मनःप्राणवान, अधिक सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न शायद ही कोई दूसरा हो; किन्तु प्रसाद की परकीयापरकता के कारण उस स्कन्दगुप्त की दृष्टि भी पहले विद्युत-तरला विजया पर ही टिकती है जिसमें सामान्य-सजग दृष्टि भी तत्क्षण अनेकनिष्ठता का अन्तःप्रज्ञात्मक आभास पा लेती है। देवसेना के प्रति स्कन्दगुप्त का प्रेम परिस्थिति की अनिवार्यता से उपजा है और उसमें भी सक्रिय भाव देवसेना की ओर से ही जाग्रत होता है। स्कन्द का देवसेना के प्रति प्रेम 'पैसिव' है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो स्कन्दगुप्त इस प्रेम का आलम्बन ही रह जाता है। वह आश्रय की स्थिति में नहीं पहुँच पाता; पहुँचता भी है तो निःस्व, वीतराग एवं सर्व-अनाश्रय होकर। यहाँ प्रेरक तत्व मानवीय नैतिक बोध है, निर्बन्ध मनोराग नहीं।

मनु तो खैर 'रफ़', 'रा', अकृतकारक, वासना-विकल मानव ही है। रति-राग को वपु-भोग से परे वह और कुछ जानता-समझता ही नहीं। श्रद्धा की कुसुम-कोमल, मधुमादन देह से अपनी रुधिर-वह्नि बुझाकर और फिर सहज-लब्ध, एक-रस, स्वकीय राग से ऊबकर वह नये आलम्बन के अन्वेषण-क्रम में इड़ा पर नजर गड़ाता है। जब वहाँ वह अफल-मनोरथ होता है, तब चालाकी-भरे दयनीय भाव से श्रद्धा के आँचल की ओट में अपने मन की तपन बुझाने की कोशिश करता है। लगता है कि परकीया-राग की अनैतिकता पर स्वकीया-प्रेम की विजय हो गयी; किन्तु ध्यान से देखें तो स्पष्ट भासेगा कि प्रसादजी के विभ्राट् दार्शनिक तेवर के बृहत-चन्द्रातप के बावजूद मनु का मन श्रद्धा के अनुष्ण, आवेग-शिथिल, पर्युषित राग से लेश मात्र भी जुड़ नहीं पा रहा है। परिणामतः वह छद्म स्वकीया-प्रेम को धारे हुए अन्तर से वीतराग हो, दर्शन की कुहरिल स्वरगंगा में अवगाहन करने लगता है। और, 'आँसू' के प्रसाद की परकीयानुबिद्धता तो बिना कहे ही उजागर है।

अब निराला। निराला का राग स्वकीयात्मक है। उनका प्रेम अनल्प राग-रंजित भी है, अक्षीण भावोष्म और अमित आनन्द-शीतल भी। उसका कारण है कि उनमें अन्तरीण अस्वस्थ वर्जना अथवा बाह्य नैतिक निषेध नहीं है। उनका राग छद्मावृत नहीं है। इसीलिए आवेग के ज्वार में यदि वे परकीया की ओर उन्मुख भी होते हैं तो उसे केवल भोग्य-भाव से ग्रहण करके अनन्तर विस्मर्त्तव्य मानते हैं; मानते ही नहीं, विस्मृत भी कर देते हैं। स्वकीया-प्रेम के जैसे आनन्द-प्रमन बिम्ब निराला ने दिये हैं, वैसे तुलसीदास को छोड़कर हिन्दी साहित्य ही नहीं, संस्कृत साहित्य में भी कोई दूसरा कवि नहीं दे सका है। (गुप्त जी इस मामले में निराला से टक्कर नहीं ले सकते। कथाकारों में अमृतलाल नागर ने अवश्य ही स्वकीया-प्रणय के रम्योज्ज्वल बिम्ब रचे हैं।) कालिदास की मूल मानसी वृत्ति परकीया-परक ही है- अप्राप्ति-विकल, आवेग-आकुल। स्वच्छ स्वकीयात्मकता के कारण ही निराला की वीतरागता सच्चे संन्यासी की है। संन्यासी तो प्रसाद का मनु और वीतराग 'आँसू' का 'मैं' भी हो जाता है, किन्तु उनके अन्तरतम में अतीत राग की शिंजिनी अहर्निश बजती रहती है। एक का संन्यास निषेधमूलक है, दूसरे की वीतरागता अप्राप्ति-हेतुक। मनु की तुलना में पुरूरवा का संन्यास अधिक 'रियल' है। वह वैदिक प्रवृत्तिवाद का अनिवार्य 'चतुर्थ आश्रम' लगता है। पुरूरवा का संन्यास स्वयं-प्रेरित है, मनु का परेंगित। पुरूरवा में आन्तरिक प्रशमन एवं कारण-कार्य-परिणमित तात्त्विक ध्यन्तरण है, जबकि मनु की वीतरागता बाह्यतः आरोपित एवं परमुखापेक्षी है। इसीलिए भिन्न कारणों से निराला और दिनकर एक ही सम-स्थिति में आते दीखते हैं।

और जहाँ तक पन्त की बात है, वे स्वकीया से ही नहीं, परकीया से भी कभी परिपूर्ण लग्नता की निबिड़ अनुभूति नहीं कर पाते। वे दूर से लखते हैं, ललकते भी हैं; किन्तु न पाते हैं, न पाने का उद्यम करते हैं। उनका रति-राग काल्पनिक अधिक हैः देह-मन-प्राण के सहोत्थित भाव से विरहित, कल्पना-कुहरिल, वायवीय।

इस प्रकार, प्रसाद का प्रेम वर्जनामय, मदालस, निबिड़, लोल, छद्म दर्शनावरणी; निराला का प्रेम प्रशमित, प्रकाम, प्राणोष्म, विमल, वीतरागी और पन्त का प्रेम काल्पनिक, चटुल-लुब्ध, झीना, अनुष्ण और राग-विरल है। रियल, निर्बन्ध, निबिड़, निर्भर और आत्यन्तिक राग दिनकर का है जहाँ कुण्ठित वर्जना नहीं, निःसाहस निषेध नहीं, अगतिक नीति-इंगित नहीं। मध्ययुगीन निवृतिमार्गी धर्मो-सम्प्रदायों ने निषेध का एक ऐसा अटाटोप खड़ा कर दिया था कि देह-मन-प्राण के सुकुमार, कौशेय तत्व कुत्सित, कदर्य घोषित कर दिए गये और रागोन्मुखता पापोन्मुखता का पर्याय बना दी गई। किन्तु राग पर निषेधी नियंत्रण अस्वाभाविक ही नहीं, अमानवीय भी सिद्ध होता रहा है। राग अथवा काम को अपदस्थ करने की चाहे जितनी चेष्टा की जाय, दिनकर के शब्दों में, वह बार-बार सिंहासन के ऊपर आ बैठता है और शास्त्र एवं नैतिकता के प्रहरी उसे बाँधने की जो भी तैयारी करते हैं, उस पर सेक्स का देवता व्यंग्य से मुस्कराता है, मानो वह यह कह रहा हो कि उतने बन्धन तो मैं तोड़ चुका, देखूँ- इस बार तुम कैसी कड़ियाँ तैयार करते हो!

निवृत्तिमार्गी धर्माध्यात्म से निषेध-प्रेरित मनुष्य अक्सर छद्म-प्राकृतिक हो जाता है और ऐसी स्थिति में उसका आन्तर-बाह्य सामरस्य क्षयिष्णु और स्वास्थ्य रोगग्रस्त हो उठता है। लारेंस इसी छद्म-काम-सभ्यता का प्रबल विरोधी रहा है और स्वस्थ निर्बन्ध काम का भारी समर्थक। उसका कहना है कि हम कितना भी कठोर और संयमी बनने का अभिनय क्यों न करें, हम में से अधिकांश लोग सेक्स के सामान्य जागरण को पसन्द करते हैं। सेक्स हमें उष्णता प्रदान करता है, किसी बदली के दिन में प्रकट होने वाली धूप की तरह उत्तेजित करता है, हम में जिन्दगी की लहर दौड़ा देता है। मानव-जीवन में

सेक्स बड़ा ही शक्तिशाली, लाभदायक और आवश्यक तत्व है और हमें इसका कृतज्ञ होना चाहिए। दिनकर की उर्वशी लगभग लारेंस की ही भाषा बोलती है-

वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक जल उठते हैं
वह आलिंगन अन्धकार है, जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिंधु में उतराने लगते हैं?
और कहोगे तिमिर-शूल उस चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रन्थियाँ निखिल तन-मन की खुल जाती हैं?

लारेंस की मान्यता है कि सेक्स एक सर्जनात्मक शक्ति है। इसका सदुपयोग हो तो आदमी बहुत ऊँचा उठ सकता है, दुरुपयोग होने पर पशु से भी हीन बन सकता है। यह बात दिनकर भी कहते हैं, किन्तु डॉ. विजेन्द्र इसमें ठीक ही लारेंस का प्रभाव नहीं देखते -

काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को
उच्च लोक से गिरा हीन पशु-जन्तु बना देता है।
और किसी मन में असीम सुषमा की तृषा जगाकर
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च शिखर पर।

लारेंस का कहना है कि संसार की आधी महान कविताएँ, चित्र, संगीत ओर कहानियाँ यौन-आकर्षण के कारण महान हैं। दिनकर की उर्वशी आत्म-परिचय में एक कदम और आगे बढ़कर कहती है-

भू-नभ का संगीत-नाद निर्मल निस्सीम प्रणय का है,
सारी कविता जय-गान एक मेरी त्रयलोक-विजय का है।

प्रेम में, यौन-समागम में, नर और नारी दोनों ओर से आदान-प्रदान होता है। लारेंस का कहना है कि ऐसे क्षण में कुछ नया हमारे व्यक्तित्व में प्रवेश करता है, और कुछ पुराना चल देता है। नर से नारी को स्फूर्ति प्राप्त होती है और नारी से नर कुछ लेकर अपने को सींचता है। दिनकर भी इस 'कुछ' के आदान-प्रदान को रेखांकित करते हैं-

यह प्रसाद उस आत्म-रूप का जिसे विमुग्ध नयन से
प्रक्षेपित करता है प्रेमी पुरुष प्रिया के मन में।
मौन ग्रहण यह उन अपार शोभाशाली बिम्बों का
जो नारी से निकल पुरुष के मन में समा रहे हैं।

जिसे दिनकर ने 'शोभाशाली बिम्ब' कहा है, उसे लारेंस ने 'न्यू स्टिमुलस' माना है। यह आदान-प्रदान ही सेक्स की शक्ति है। पुरूरवा-उर्वशी के युग्म में इसी की संसिद्धि हुई है। उर्वशी वह नारी है जिसकी खोज पुरूरवा को है। इस नारी के बिना उसका व्यक्तित्व अपूर्ण है। इस अभाव-हेतु का उसे ठीक-ठीक पता नहीं। उर्वशी को देखकर उसे अहसास हुआ कि उसका जीवन अब तक छूँछा बना रहा। इसलिए उर्वशी को पाकर वह निहाल हो उठता है-

सुख की इस मादक तरंग को कहाँ समेट धरूँ मैं?
गहा चाहता सिन्धु-प्राण को कौन अदृश्य किनारा?
छुआ चाहती किसे हृदय की फोड़ रक्त की धारा?
कौन सुरभि की दिव्य वेलि प्राणों में गमक उठी है?
नयी तारिका कौन आज मूर्धा पर चमक उठी है?
किस पाटल के गन्ध-विकल दल उड़कर अनिल-लहर में
मन्द-मन्द तिर रहे आज प्राणों के मादक सर में?

दिनकर ने इसी पृष्ठभूमि पर छद्म प्रेम की प्रतिक्रिया में उत्पन्न घृणा अथवा विराग की मार्मिक व्याख्या की है। जब से पुरूरवा का उर्वशी से मिलन हुआ, तब से दिनकर ने कभी भी पुरूरवा-औशीनरी का मिलन नहीं दिखलाया। अन्त तक भी वे नहीं मिलते। डॉ. विजेन्द्र के अनुसार, यह दिनकर की अभूतपूर्व कलात्मक उपलब्धि है। हिन्दी कविता में पहली बार प्रेम के बिना सेक्स बेमानी बनता है। सेक्स की सारी सार्थकता प्रेम से है। शरीर और शरीर का मिलन प्रेम नहीं होता। प्रेम में शरीर, मन और आत्मा-तीनों के धरातल पर नर-नारी एकाकार होते हैं। औशीनरी से पुरूरवा को वह नहीं मिला था जो प्रेम प्रणयी को प्रदान करता है। इसलिए उर्वशी को देखकर, उसे पाकर वह सब-कुछ भूल जाता है।

रसेल की अवधारणा है कि वे सभ्य मनुष्य, जिन्हें किसी प्रकार का निषेध नहीं रहता, सामान्यतः एक नारी से सन्तुष्ट नहीं होते। वे किसी एक व्यक्ति से प्रेम में उलझ सकते हैं और कुछ वर्षो तक गहरे प्रेम में डूबे भी रह सकते हैं, किन्तु कुछ दिनों बाद वे महसूस करने लगते हैं कि यौन-सन्निधि ने उनकी वासना को शिथिल बना दिया है और तब वे पुरानी ताजगी की प्राप्ति के लिए दूसरी हरीतिमा की ओर आँख उठाते हैं। रसेल का कहना है कि नैतिकता का अधिक ख्याल रखने वाले लोग इस प्रवृत्ति पर नियंत्रण पा लेते हैं, परन्तु इस प्रवृत्ति के अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। हर पुरुष में यह प्रवृत्ति सदैव बड़ी उत्कटता से विद्यमान रहती है। यह वृत्ति यदि आत्यन्तिक भाव से एकोन्मुख हो जाय, तो वहाँ नैतिक-अनैतिक, स्वकीय-परकीय का प्रश्न समाप्त हो जाता है। पुरूरवा-उर्वशी की यह आत्यन्तिक परस्परोन्मुखता उनके प्रेम को स्पृहणीय बना देती है। यही नहीं, पुरूरवा का उर्वशी के प्रति प्रेम इतना उत्कट है कि वह अपनी तीव्रता किसी भी क्षण रंचक मात्र क्षीण नहीं पाता। उर्वशी के वियोग में पुरूरवा घोर विकल हो संन्यास ले लेता है- उसके अभाव में सारे संसार से निपट विराग महसूस करते हुए।

तत्वतः, सतीत्व या नर-नारी-सम्बन्ध की एकनिष्ठता प्रेम से उपजती है। लारेंस की लेडी चैटरली भी जब वांछित पुरुष पा जाती है, तब कहती हैः 'अब मैं नारीत्व की पवित्रता से प्रेम करती हूँ। मैं इसे वैसे ही चाह रही हूँ जैसे हिम-बिन्दु हिम के प्रति चाहना रखते हैं। मैं इस पावनता से प्रेम करती हूँ जो हमारे प्रणय की प्रशान्ति का विश्रामस्थल है। कितना अच्छा है पावन होना शीतल जल वाली उस नदी के समान जो मुझे अपने अंतर में प्रवाहित होती महसूस होती है!'

वस्तुतः, नर-नारी भटकते तब हैं, जब वे दम तो भरते हैं प्रेम का, किन्तु उनका प्रेम छलना होता है। जो एक बार वास्तविक प्रेम का स्वाद पा लेता है, वह कभी भटकता नहीं। पुरूरवा फिर कभी औशीनरी के पास नहीं जाता, उर्वशी

के वापस स्वर्ग चले जाने के बाद भी नहीं। हमारे युग की प्रणय-भावना का इतना प्राणोष्म आख्यान, दिनकर के सुधी अध्येता डॉ. विजेन्द्र के अनुसार, हमारी भाषा के किसी और कवि ने नहीं लिया।

'उर्वशी' में दिनकर रेखांकित करते हैं कि काम-समागम के क्षणों में नर-नारी में डूब जाता है और नारी-नर में लीन हो जाती है। इस काम-समागम की तन्मयता से नर और नारी, दोनों का ही एक प्रकार से पुनर्जन्म होता है। काम अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है। वह तो मात्र 'क्रूड' जैविक बुभुक्षा है। उसकी सार्थकता प्रेम से सिद्ध होती है। कालिदास की पार्वती भी काम-गन्धी रूप की व्यर्थता का अहसास करके उसे प्रणय के ताप में तपाकर अव्यर्थ हेम-शुद्धता प्रदान करती है। 'कुमारसंभव' का पूरा-का-पूरा पंचम सर्ग इसी कामाध्यात्म को मिथकीय कथ्य-साकारता देने का उत्कट काव्य-कर्म सम्पादित करता है।

सच्चा राग-सान्द्र काम स्थूल नैतिकता-अनैतिकता के घेरे से ऊपर होता है। मानस-आप्यायी और प्रेमल काम नैतिकता के विधि-निषेधमय स्थूल निकष पर कसे जाने का मोहताज नहीं। वह आत्म-काम और प्रिय-निष्ठ होता है; इसलिए वह प्रेय और श्रेय, दोनों एक साथ है। तभी दिनकर की 'उर्वशी' परकीया राग का संगायन करने के बावजूद नैतिकता-अनैतिकता की जड़ीभूत सीमाओं को अतिक्रान्त कर जाती है। तत्त्वतः, प्रेम में परकीयत्व तभी तक होता है जब तक वह देह मात्र की सीमा में बँधा होता है, केवल वपु-भोग को अपना अन्त मानता है। किन्तु जब वह अबाध राग से आप्लुत होकर देह-सोपान से चलते हुए आश्रय और विषय आलम्बन को एकत्व की अद्वय स्थिति में पहुँचा देता है, तब वह तथाकथित स्वकीय-भाव से कहीं अधिक उच्चतर भाव-भूमि पर पहुँच जाता है; क्योंकि तब उसमें नैतिकता की बाह्य-आरोपित जड़ कर्त्तव्यग्राहिता नहीं, अन्तर का स्वयं-धारित भाव-बन्ध अध्यासित हो जाता है।

ऐसी ही स्थिति पर पहुँचकर लारेंस की लेडी चैटरली और अज्ञेय की रेखा 'रियल फुलफिलमेंट' की अनुभूति करती हैं। तर्क करके लेडी चैटरली के भाव-बन्ध को प्रकृत काम-बन्ध सिद्ध किया जा सकता है। रेखा का अपने विषयालम्बन (भुवन) के प्रति मनः प्रकाशी राग-बन्ध भी है, इसलिए उसका केस ज्यादा मजबूत भी है। किन्तु एक बात एकदम साफ समझ लेनी चाहिए कि लेडी चैटरली और रेखा, दोनों ही रीति-कविता की देह-बद्ध काम-कुण्ड प्रमदा मात्र नहीं हैं। उनका आत्मतेजस् रूप हमें भीतर तक भावित-प्रभावित करता है। जैनेन्द्र की मृणाल और रंजना तो दो कदम और आगे बढ़ी हुई हैं। वे बाहर से देह-भुग्न होकर भी भीतर से आत्म-अच्युत हैं। उनका अन्तरात्म एक क्षण के लिए भी आलोक-हीन नहीं होता।

जहाँ तक दिनकर की बात है: नैतिकता-अनैतिकता की कराल करवाल वहाँ ज्यादा प्रहारी सिद्ध ही नहीं हुई। विभाव के उभय पक्षों की सम-समान राग-ऋद्धि के कारण दिनकर लारेंस और अज्ञेय से एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। लारेंस की लेडी चैटरली एकतरफा 'फुलफिलमेन्ट' की अनुभूति करती है। उसका विषयालम्बन ओछा या कि ऊन है। वह अकेले ही उस अखण्ड रति का आश्रय बनती है। 'नदी के द्वीप' की रेखा भी अकेले ही उस चरम सुख की अनुभूति करती है। उसके प्रिय (भुवन) की प्रणय-चेतना वर्जना-कुण्ठित है, इसीलिए वह अपने प्रणयालम्बन (रेखा) से तदग्र-तदात्म नहीं हो पाता।

लेडी चैटरली और रेखा, दोनों के अनुराग-आलम्बन वस्तुतः पूरी तरह तो क्या, अधूरी तरह भी उस महाराग के रियल प्रति-आश्रय कभी नहीं बनते; वे 'कारण' मात्र बनकर ही रह जाते हैं। इसीलिए तात्त्विक भाव-स्थिति यह है कि लेडी चैटरली ओर रेखा, दोनों ही प्रणय का एकांगी भाव-भोग करती हैं, पूर्णाग राग-भोग नहीं जिसमें प्रिय और प्रिया, दोनों का सम-समान अधिष्ठान होता है। लेडी चैटरली का पुरुष तो देह-भोग तक ही सीमित रह जाने के कारण नायक की बजाय खलनायक लगता है; वह भी धीराद्धत नहीं: अधीर, अपात्र और टुकाची! अज्ञेय की रेखा के पुरुष की स्थिति कुछ भिन्न है। उसे 'खल' तो कदापि नहीं कह सकते, किन्तु वह इतना आत्मलीन, अन्तर्मुख और समाजभीरु है कि उसकी समस्त मौखिक (और बाह्यतः कार्मिक भी) सन्नद्धता के बावजूद रेखा का सूक्ष्म अन्तरात्म, बिना रंचक मात्र भूल के, तत्क्षण जान जाता है कि भुवन में बहिरन्तर-अडिग एकनिष्ठता नहीं है। इसीलिए वह अपना बलिदान दे डालती है। अज्ञेय और दिनकर की आधुनिकता में यही अन्तर है। अज्ञेय की आधुनिकता 'रियल' तो है, 'स्वस्थ' नहीं। वह वर्जना के अकृतकारी कर्दम से मुक्त नहीं हो पाती।

प्रसाद, निराला और पन्त के यहाँ भी भोक्ता केवल पुरुष हैं। प्रसाद का पुरुष मध्य-युगीन मानसिकता वाला भोगविलासवादी है, रति-रभस में डूबा हुआ, वे अलग से 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो...' आदि सजल पावन पंक्तियाँ कितनी ही क्यों न प्रस्तुत करें! निराला का पुरुष स्वच्छ, सबल, स्वकीय अवश्य है और भुक्ति-निर्मल भी; किन्तु नारी उनकी भी एक ही समय, एक ही साथ आश्रय और आलम्बन, दोनों नहीं बन पाती। भोक्ता उनके यहाँ भी पुरुष ही बनता है, नारी भोग्या ही रह जाती है; भले ही वासना-पंकिल नहीं। और पन्त की बात बिना कहे ही स्पष्ट है। वह 'देवि, माँ, सहचरि प्राण' जरूर है, किन्तु दृष्टि वहाँ भी पुरुष-प्रधान है।

हिन्दी-काव्य जगत में अकेले दिनकर ही ऐसे कवि हैं जिनके पुरुष और नारी, दोनों ही सम-सदृश भाव से रति-राग रंजित होते हैं- देह से, मन से, प्राण से, आत्मा से। इसीलिए मैं यह कहने की अनुमति चाहता हूँ कि दिनकर नर-नारी-राग के अतुल्य उद्गाता है।

शाकुन्तल, 270, ठठरहिया, फैजाबाद (उ.प्र.) - 224001

राष्ट्रकवि दिनकर : मत झुको अनय पर

चन्द्रेश्वर

आज के शीर्षस्थ हिन्दी कवि त्रिलोचन ने कोई दो दशक पहले मुझसे एक निजी मुलाकात में कहा था कि 'दिनकर को मैं एक कमजोर कवि मानता हूँ। उनकी कविता में शब्द नगाड़े की तरह ध्वनि पैदा करते हैं। कविता में शब्दों का शोर मचाना या उनकी जरूरत से ज्यादा मुखरता अच्छी बात नहीं है।' उस समय कवि त्रिलोचन की बात का मैंने कोई प्रतिवाद नहीं किया था। हालाँकि सच यह भी है कि उनकी बात पूरी तरह से मेरे गले भी उतर नहीं पायी थी। मैं बचपन से ही पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से दिनकर की कविता से परिचित रहा हूँ। किशोरावस्था में तो उनकी कई कविताएँ कंठस्थ थीं। अब भी दिनकर को पढ़ते हुए उनके काव्य में मुझे कई तरह की विशेषताएँ नजर आती हैं।

पहली बात कि हिन्दी के उत्तर-छायावादी कवियों में दिनकर पहले ऐसे कवि हैं जिनकी काव्य-भाषा में एक जादुई किस्म की संप्रेषणीयता है। मुझे लगता है कि दिनकर की अपार और अबाध लोकप्रियता के पीछे यह एक ठोस कारण है। उस दौर के कवियों में उनकी काव्य-पक्तियाँ सामान्य पढ़े-लिखे लोगों की जुबान पर ज्यादा चढ़ीं। एक तरह से कहा जाय तो पूर्व मध्यकाल के भक्त कवियों सूर, तुलसी, कबीर आदि के बाद खड़ी बोली हिन्दी में दिनकर की कविताओं ने जनमानस को ज्यादा स्पंदित और आंदोलित किया। अगर उत्तर-छायावाद के बाद के दशकों में विशेषकर नयी कविता से लेकर आज तक की कविता को जाँचा-परखा जाय तो उसके सामने मुख्य चुनौती रही है संप्रेषणीयता की। इधर की लिखी गई ज्यादातर कविताएँ आम जन के बीच पैठ नहीं बना सकीं। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान दिनकर और उनके पूर्ववर्त्ती कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि के साथ-साथ माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान आदि की कविताएँ पढ़े-लिखे सामान्य जन को गहरे प्रभावित कर रही थीं। इन कविताओं में साम्राज्यवाद-विरोधी स्वर के साथ-साथ स्वदेश की माटी की गरिमा को भी मुखरित और रूपायित होते हुए देखा जा सकता है।

दिनकर उत्तर-छायावादी कवियों मे अकेले ऐसे कवि हैं जिनके काव्य में उस दौर की तीन प्रमुख धाराओं की समस्त काव्य प्रवृतियाँ पुरजोर ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं। पहली धारा है नव रोमानी कविता की, दूसरी प्रगतिवादी और तीसरी राष्ट्रीय-चेतना की कविता की। हालाँकि दिनकर की काव्य-चेतना में ओजतत्व सर्वाधिक है। कवि त्रिलोचन ने उसी बातचीत के दौरान कहा था कि दिनकर के काव्य में श्रृंगार वर्णन के समय भी एक ओजस्वी स्वर सुनायी पड़ता है। उन्होंने दिनकर की काव्य-कृति 'उर्वशी' में आए उर्वशी-पुरूरवा के लंबे-लंबे संवाद-अदायगी पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि वे अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। कुछ इसी तरह की आलोचना कवि मुक्तिबोध ने भी की है। अब त्रिलोचन और मुक्तिबोध की स्थापनाओं के विरुद्ध न जाते हुए भी मैं दिनकर के काव्य के संदर्भ में काव्य-आस्वाद का उल्लेख करना चाहूँगा। जब मैं बीस-इक्कीस वर्ष का युवा था तब 'उर्वशी' का पाठ करते समय एक गजब किस्म का जादुई प्रभाव हमारी चेतना पर छा जाता था। यह जादुई प्रभाव अब भी कायम है-अधेड़ावस्था में भी! मैं दिनकर के काव्य में इसी जादुई कला का कायल हूँ। उनकी चाहे जो भी आलोचना हो मगर उनकी कविता पढ़ते हुए हमेशा यह अनुभव होता है कि उसमें एक के बाद दूसरा शब्द सहजगति से चला आ रहा है। उनकी कविता पढ़ते या सुनते समय किसी झरने की गति आती है। किसी नदी का सहज वेग, किसी पक्षी की सहज उड़ान, बादल का सहज-स्वाभाविक गर्जन-तर्जन, किसी आदिम राग-सुर या

ताल-छंद की याद आती है। उनकी कविता पढ़ते या सुनते हुए ऐसा जान पड़ता है जैसे कोई आवाज किसी के अंतस से निकली हो, कई तहों को भेदकर! दिनकर की कविता में एक विशेष प्रकार का आवेग, एक तरह की गत्यात्मकता सर्वत्र देखने को मिलती है। उनकी कविता में वक्तृत्व कला का हुनर भी है। उनकी काव्य-भाषा में पारदर्शिता है। उनके यहाँ तत्सम, तद्भव या देशज शब्दों का संयोजन अद्भुत तरीके से हुआ है। उनकी कविता में एक तरह की वैचारिक तार्किकता या जिरह-बहस भी है। यह जिरह-बहस कहीं युद्ध की विभीषिका को लेकर है तो कहीं सामाजिक रूढ़ियों और वैषम्य को लेकर। दिनकर के काव्य में आजादी के बाद के भारत में व्याप्त राजनीतिक छल-छद्म, पाखंड, दोमुँहेपन पर भी करारा व्यंग्य किया गया है। सन् 1952 में प्रकाशित अपने एक काव्य संग्रह 'नीम के पत्ते' में 'नेता' कविता में उन्होंने तत्कालीन राजनीति को ही कठघरे में खड़ा किया है। इसमें शासक वर्ग से मोहभंग का स्वर भी सुना जा सकता है। वे सीधे देश की जनता से संवाद करते हुए लिखते हैं –

"नेता का अब नाम नहीं ले, / अंधेपन से काम नहीं ले,
हवा देश की बदल गई है, / चाँद और सूरज ये भी अब
छिपकर नोट जमा करते हैं। / और जानता नहीं अभागे,
मंदिर का देवता चोर-बाजारी में पकड़ा जाता है?
फूल इसे पहनाएगा तू? / अपना हाथ घिनाएगा तू?"

दिनकर की कविता में कोई दाँव-पेंच या मदारी का करतब नहीं है। उनके यहाँ एक ठेठ पुरबिया किसान का सहज-निश्चल मन है। यह मन उनके संपूर्ण काव्य-संसार में उपस्थित है। वे अपनी कविता में जिन विचारों को लेकर उपस्थित होते हैं वे आयातित या आरोपित नहीं जान पड़ते हैं। उनकी कविताएँ अपनी जड़ों से जुड़ी हैं : अपने समय-समाज, संस्कृति और परंपरा आदि से।

दिनकर के काव्य में पुनरुत्थान की चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। वे फिर भी पुनरुत्थानवादी नहीं हैं। यह पुनरुत्थान की चेतना युगीन प्रभाव है और उनकी कविता में शक्ति-स्रोत का काम करता है। दिनकर उदात्त भारतीय सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। उनकी कविताएँ आज भी वैचारिक प्रतिरोध की एक व्यापक भावभूमि तैयार करती हैं। उन्होंने काव्य-कला के माध्यम से हर स्तर पर शोषण, अत्याचार, अन्याय एवं अनीति का विरोध किया है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है-

छोड़ो मत अपनी आन, सीस कट जाए,
मत झुको अनय पर भले व्योम फट जाए।

दिनकर ने तटस्थता को कोई मूल्य नहीं माना है। वे 'परशुराम की प्रतीक्षा' में लिखते हैं कि –

समर शेष है, नहीं पाप का भागी केवल व्याध।
जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध।

कुछ आलोचकों का मानना है कि दिनकर की ज्यादातर काव्य-पंक्तियों को आसानी से अन्वय कर गद्य में बदला जा सकता है। काश! ऐसे लोग जान पाते कि दुनियाँ के महान कवियों ने गद्य से ही कविता को संभव बनाया है। हिन्दी के समकालीन शीर्षस्थ आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने अपने हाल ही के एक व्याख्यान में कहा है कि 'कबीर, जायसी, सूर, तुलसी के काव्य में भी गद्य को देखा जा सकता है। गद्य से रघुवीर सहाय ने ही नहीं, बल्कि सभी समर्थ कवियों ने कविता लिखी है।'

दिनकर हिन्दी के उन विरल कवियों में हैं, जिनकी कविता सुनने और पढ़ने, दोनों स्तरों पर प्रभाव में लेती है। मेरे लिए वे एक ऐसे कवि हैं जिनकी अनगिनत काव्य-पक्तियाँ मेरे संस्कार और रक्त में घुल-मिलकर चेतना का हिस्सा बन चुकी हैं। अगर हिन्दी क्षेत्र में थोड़ी-सी भी काव्य-संस्कृति का निर्माण हुआ है तो उसमें आधुनिक कवियों में दिनकर की भूमिका अग्रणी है।

एमएलके पी.जी. कॉलेज, बलरामपुर - 271201 (उ.प्र.)

□

वह अवसानरहित काव्यमयी रात्रि

कृष्णदत्त तिवारी

सर्वप्रथम प्रारंभिक से माध्यमिक पाठशालाओं में दिनकर की कविताओं से परिचय हुआ था। तदुपरान्त हिन्दी साहित्य की ओर लगातार रुझान बढ़ने से दिनकर के सम्पूर्ण साहित्य को पढ़ने की लालसा बलवती होती गई।

दिनकर को देखने तथा उनके मुखारविन्द से सुनने की इच्छा शेष रह गई थी। अपनी इस उत्कृष्ट इच्छा की पूर्ति के लिए मैं किसी सुअवसर की ताक में लगातार रहा।

साठ के दशक के पूर्व से ही तत्कालीन नगर महापालिका कानपुर के जन-सम्पर्क अनुभाग द्वारा अखिल भारतीय स्तर के कवि सम्मेलनों के वृहद आयोजन प्रति वर्ष हुआ करते थे। अचानक ज्ञात हुआ कि कवि सम्मेलन में दिनकर जी पधार रहे हैं। फिर क्या, श्रोताओं की प्रथम पंक्ति में स्थान पाने के लिए मैं समय से बहुत पहले पहुँच गया था। दिनकर देश के कुछ अन्य लब्धप्रतिष्ठ कवियों के साथ मंचासीन थे। चित्रों में देखा गया वह भव्य व्यक्तित्व सामने साकार हो रहा था। दिनकर ने 'उर्वशी' की कुछ पंक्तियों के साथ अपनी अन्य रचनाओं को भी सुनाया। उनके सस्वर कविता पाठ से सारा पंडाल तन्मय हो गया था। लगता था कि कविता की वर्षा हो रही हो।

दर्शकगण बार-बार दिनकर को पुनः मंच पर बुलाने की माँग कर रहे थे। कवियों की संख्या अधिक थी। अतः संचालक की उनको भी अवसर देने की बाध्यता के कारण पुनः दिनकर को सुनने का अवसर हमें न मिल सका।

यह काव्यमयी रात्रि यद्यपि वर्षों पहले आई थी परन्तु आज भी लगता है कि इसका अवसान अभी तक नहीं हुआ है। जीवन में फिर कभी दिनकर के दर्शन न हो सके। इसकी कमी अब भी सालती रहती है।

भवन संख्या 21, एम.आई.जी. -1, बर्रा- 7, कानपुर (उ.प्र.)

विद्रोह की वाणी

राजीव फूकन

रामधारी सिंह 'दिनकर' हिन्दी काव्य-साहित्य के एक रत्न हैं। राष्ट्रीय भावनाओं के ओजस्वी गायक दिनकर का जन्म बिहार राज्य के मुंगेर जनपद के अन्तर्गत सिमरिया नामक गाँव में 23 सितम्बर 1908 ई. को हुआ था। उनके पिता रवि सिंह अत्यन्त सरल, साधारण एवं समुदार कृषक थे। उनका स्वर्गवास उस समय हो गया जब दिनकर केवल दो साल के थे। विधवा माता ने हरेक कष्ट सहकर शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध किया। दिनकर की प्राथमिक शिक्षा गाँव में ही हुई। उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा गाँव के पास मोकामाघाट से उत्तीर्ण की।

विधवा ममतामयी माता ने गृहस्थी के इस गुरुतर दायित्व को बड़े धैर्य एवं साहस के साथ निभाया। इसलिए दिनकर जी ने अपनी माँ के बारे में इस तरह लिखा है- *माँ तो मूर्तिमयी करुणा है! उन्होंने हम लोगों के लिए अपने को होम दिया। मुझे ऐसी कोई घटना नहीं याद है जिससे मुझे लगे कि मुझे कोई बड़ा अभाव झेलना पड़ा।*

दिनकर ने पटना कॉलेज से सन् 1932-33 में बी.ए. किया और फिर प्रधानाध्यापक हो गए। उसके बाद सीतामढ़ी में सब-रजिस्टार बने। द्वितीय महायुद्ध में राजकीय प्रसार विभाग में आ गये। उन दिनों भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था और अंग्रेज सरकार का कोई भी कर्मचारी उस सरकार के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता था। तो भी दिनकर ने राजकीय सेवाकाल में स्वदेशानुराग की भावना से ओत-प्रोत, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति की भावना से परिपूर्ण और क्रांति की भावना जगाने वाली रचनाएँ लिखीं।

सन् 1950 में उन्हें मुजफ्फरपुर के स्नातकोत्तर महाविद्यालय के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष बनाया गया। सन् 1952 में इन्हें राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया गया और दिनकर दिल्ली आकर रहने लगे। दिनकर की काव्य साधना निरन्तर जारी रही। सन् 1961 में इनका बहुचर्चित काव्य 'उर्वशी' प्रकाशित हुआ। 'उर्वशी' को 1961-65 के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में सर्वश्रेष्ठ माना गया तथा 1972 के भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया गया। 1964 में इन्हें केंद्रीय सरकार की हिन्दी समिति का परामर्शदाता बनाया गया। इस पद से अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर ये पटना में रहने लगे। इनके जवान बेटे की मृत्यु ने इस ओजस्वी व्यक्तित्व को सहसा खण्डित कर दिया और तिरुपति के देव को अपनी व्यथा-कथा समर्पित करते हुए 'दिनकर' 24 अप्रैल सन् 1974 को अस्त हो गए।

ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह में समर्पित प्रशस्ति बहुत कुछ कहती है: *दिनकर ने छायावाद की अस्पष्ट और वायवीय विषय-वस्तु तथा रूपविधानों वाली काव्य-परम्परा से अलग होकर आधुनिक हिन्दी कविता को एक ऐसी ओजमयी ऋजु भाषा-शैली दी जो पुनरुत्थानशील राष्ट्रीयता की अदम्य प्रेरणाओं को अभिव्यक्त करने में समर्थ हुई। वे हिन्दी साहित्य में एक अपूर्व घटना तथ्य जैसे बनकर आये, क्योंकि जिस सशक्तता से उनकी लेखनी ललकार और विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर सकी, उसी से सुशान्त चिंतन और गीतात्मक भाषा-शैली में मानव-मन के कोमल भावों को प्रकट करती आयी।* उनकी कोमलता 'रसवंती' और 'द्वंद्वगीत' में देखते ही बनती है। 'कुरुक्षेत्र' का यह उदाहरण कोमलता को बड़ी सुन्दरता से बयान करता है: *वह सपनों का देश, कुसुम ही कुसुम जहाँ खिलते हैं।* ऐसी कोमलता हमारे असमिया साहित्य में भी, अगर असंभव नहीं तो, दुर्लभ जरूर है।

हिन्दी कविता के छायावादोत्तर युग की सबसे बड़ी घटना दिनकर और बच्चन का आविर्भाव थी। जब खड़ी बोली अन्ततोगत्वा कविता की भाषा बन गई, हिन्दी कविता से वह कोमलता छूट गई जो तीन सौ वर्षों की साधना से उसे सुलभ हुई थी। स्वयं दिनकर के अनुसार *छायावादी युग में पाठकों के बीच हिन्दी कविता की बहुत कुछ प्रतिष्ठा राष्ट्रीय कविताओं ने*

रखी है।

दिनकर का उदय उस धारा से हुआ जो भारतेन्दु, मैथिलीशरण, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्रा कुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से होकर बहती आ रही थी।

दिनकर की रसग्राहिणी शिराएँ संस्कृत और बांगला से भी संपृक्त थीं, अतएव एक ओर जहाँ उनमें कालिदास और रवीन्द्र का प्रभाव पहुँचा, वहीं दूसरी ओर काजी नजरूल इस्लाम का आक्रामक गर्जन और सिंहनाद भी उनकी आवाज की त्रिवेणी में आ मिला। नजरूल, जोश और दिनकर भारत की क्रांतिकारी कविता के बृहद्त्रयी के कवि हैं और इन तीनों कवियों का स्वर बहुत कुछ समान रहा है।

'रेणुका', 'कुरुक्षेत्र' 'नील कुसुम' और 'उर्वशी' उनके चार मुख्य स्तम्भ हैं। भारतीय विद्रोह की वाणी के रूप में 'हुंकार' हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं में उल्लेखनीय ग्रंथ है। 'कुरुक्षेत्र' उन भावनाओं का दर्शन प्रस्तुत करता है जिसका विस्फोट 'रेणुका' और 'हुंकार' में हुआ था। 'रसवन्ती' वाली धारा का महान विस्फोट 'उर्वशी' काव्य में हुआ है। इसमें प्रेम और शृंगार के भावों का चित्रण अत्यन्त ऊँचे धरातल पर किया गया। उनकी और तीस काव्यकृतियाँ और पच्चीस गद्य कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

दिनकर काव्य को अचूक आह्वान शक्ति और भावात्मक प्रकृति, दोनों के स्वभाव के कारण 'दहकते अंगारों पर इंद्रधनुषों की क्रीड़ा' से उपमित किया गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिनकर का नाम क्रांति, युद्ध और प्रेम के कवि के रूप में अमर रहेगा ही, उर्वशी का मणिकुट्टिम कला वैभव उनके शिल्प सामर्थ्य की कहानी भी कहता रहेगा।

राजतंत्र के विरुद्ध लोकतंत्र का स्वागत उस महानुभाव ने किया, उनकी सुप्रसिद्ध कृति 'कुरुक्षेत्र' में आधुनिक मनुष्य की भौतिक उन्नति की विडम्बना की ओर संकेत किया गया है जो हार्दिक और आध्यात्मिक विकास के अभाव में अभिशाप बन गई है। नित्य नूतनता का लोभी अभिनव मनुष्य यह नहीं समझ पाया है कि पड़ोसी के दुःख दर्द से अछूता और दूर रहकर अज्ञात ग्रह-नक्षत्रों की खोज और यात्रा व्यर्थ है। उनका कहना है- *मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है; सृष्टि का सौन्दर्य है। वैज्ञानिक प्रगति ने जिस तरह मनुष्य को ऊँचा उठाया उसी तरह दूसरी ओर उसे मानवता- विरोधी शक्ति भी दी है।*

अंत में मैं यह कहना चाहता हूँ कि दिनकर को स्मरण करना तथा उनका अनुकरण करना कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और अरुणाचल से लेकर गुजरात तक सम्पूर्ण प्रगतिशील भारतीय समाज का फर्ज है। यह युगजयी महात्मा हमेशा अमर रहेगा, यही मेरी आशा है।

शिवसागर सरकारी उच्चतर माध्यमिक
बहुमुखी विद्यालय, शिवसागर (असम) - 785640

दिनकर की कविता के आयाम

केशव शरण

प्रायः अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में कवियों का कवित्व चुकने लगता है और वे लिखना छोड़ देते है, या जो लिखते हैं वे अपने को दोहराने लगते हैं। लेकिन उम्र के आखिरी दौर में भी दिनकर जी की कविता चलती रही और न सिर्फ चलती रही बल्कि नवीनता को भी अपनाती रही। गीत और छंदों में राष्ट्रीय भावनाओं की कविता करने वाला यह कवि किस तरह छंद-मुक्त कविता की ओर मुड़ता है और अपनी शक्तिशाली अभिव्यक्ति से नयी कविता को समृद्ध करता है, वह अत्यन्त उल्लेखनीय और स्तुतियोग्य है। 'उर्वशी', 'संस्कृत के चार अध्याय' और 'शुद्ध कविता की खोज' के बाद उनकी मुक्त छंद कविताओं का संकलन 'हारे को हरिनाम' उनकी एक और ऐतिहासिक कृति है जिसमें कवि दिनकर के जीवन के उत्तरार्द्ध की दार्शनिक मानसिकता के दर्शन एक नवीन भाव- भूमि पर होते हैं। समष्टिमूलक उनकी पूर्व की कविताओं के विपरीत उनका यह संकलन व्यष्टिमूलक है, जिसमें व्यक्ति के सुख-दुख, राग-विराग में समष्टि के हर्ष-विषाद समाहित हैं। सामान्य कवि के द्वारा अगर यही कविताएँ रची गई होतीं तो बहुत कुछ गुंजाइश थी कि वे उपदेशात्मक और नीरस बनकर रह जातीं। लेकिन कवित्व की यही पहचान है कि वे ऐसी कविताओं को भी अनुभूतिप्रवण और एक नयी शिल्पकारी के आस्वाद में बदल देते हैं। जीवन भर की उनकी ज्ञानात्मक संवेदना या संवेदनात्मक ज्ञान बड़े कौशलपूर्ण ढंग से इन कविताओं में आ उतरता है। इसमें वे मिथकों का प्रयोग आज के समय और व्यक्ति की पहचान और परिभाषिकता के रूप में करते हैं और उसे एक ऐसी चित्रमयी भाषा में प्रस्तुत करते हैं जो तुरंत हृदयग्राही होती है। उनका भक्ति-भाव निरा भक्ति-भाव नहीं है जो केवल वायवीय ईश-स्तुति, उसके रूप-निरूपण और रीढ़हीन आस्था तक रह जाये। उनमें जीवन का एक नूतन संकल्प है और वे ईश्वर से माँगते हैं तो क्या, देखें-

राम, तुम्हारा नाम कंठ में रहे
हृदय, जो कुछ भेजो, वह सहे

वे संपाती और जटायु के प्रसंगों से एक नया अर्थ और भाव पैदा करते हैं और कविता के अंत में रवीन्द्रनाथ टैगोर की काव्य पंक्ति देते हुए, निष्कर्ष रखते हैं-

तुम्हें मैं कोई दोष नहीं देता स्वामी! "आमि आपन दोषे दुःख पाई वासना- अनुगामी"

जिसे मनुष्य एक लम्बे समय तक जीता है, उस जीवन को मृत्यु समाप्त कर जाती है, लेकिन इसकी सार्थकता भी है और वह क्या है, कविता के अन्त में दिनकर जी बताते हैं-

करम ख़ुदा का बन्दे, तुझे क्या ग़म है ?
तेल की हांडी निस्तैल होकर फूटे, यह क्या कम है ?

एस 2/564, सिकरौल, वाराणसी (उ.प्र.) - 221002

तटस्थता के बहेलिये : दिनकर

डॉ. उमराव सिंह चौधरी

ईशोपनिषद् का आठवाँ मंत्र परमतत्व को अन्य विशेषणों के साथ क्रांतिदर्शी महाकवि के रूप में भी संबोधित करता है। सृष्टि उस क्रांतदर्शी श्रेष्ठतम कवि की विराट और अद्भुत कविता है। जगत्गुरु शंकराचार्य कवि के गुणों और लक्षणों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि वह केवल कविता का रचयिता ही नहीं होता, बल्कि क्रांतिदर्शी, सूक्ष्मदर्शी और दूरदर्शी भी होता है। वह ऐसा सूक्ष्मदर्शी और संवेदनशील मनीषी होता है जो वस्तुओं और व्यक्तियों के अंतरंग एवं आंतरिक पक्षों को देख और समझ सकता है। कुँवर नारायण कहते हैं कि कवि ईश्वर की 'निर्माण-व्यथा' में जागता है। संभवतः इसीलिए उसके सृजन में परमात्मा भी हाथ बँटाता है। अंग्रेज कवि शेली इस भारतीय दृष्टि की दाद देते हैं कि कवि भी परमात्मा (सर्वश्रेष्ठ कवि) की तरह 'अनजाना नियामक' होता है।

यह एक अपूर्व तथ्य है कि भारत की पहली कविता उस परम संवेदनशील ऋषि के अंतस से उद्भूत आक्रोश की अभिव्यक्ति है, जो एक आहत पक्षी की व्यथा से विह्वल और विगलित हो गया था। वधिक व्याध को कवि द्वारा दिया गया यह शाप कि उसकी प्रतिष्ठा और सुख-शांति धूल में मिल जाए, उसके आक्रोश और उद्वेलन का परिचायक है। 'नीर भरी दुःख की बदली' महादेवी मानती हैं कि दुःख उनके निकट जीवन का काव्य है जो संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है: *हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बूँद समुद्र में मिल जाती है, कवि का मोक्ष है।*

महादेवी की दृष्टि में 'साहित्य' (या कविता) मनुष्य रूप में अवतरित होने पर ईश्वर को भी 'पूर्ण' मानना अस्वीकार कर देता है। ईश्वर की सृष्टि में भाव-अभाव, आधा-अधूरापन और ऊँच-नीच देखकर उद्वेलित-आक्रोशित होना उसका स्वधर्म या कविधर्म ही है। तभी तो जूठन चाटते बच्चों को देखकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के रूप में, वह ईश्वर का टेंटुआ घोटने की सीमा तक आगबबूला हो उठता है। क्रांतदर्शी महाकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' भी इसी आक्रोश, संवेदना और विश्वजनीन सहृदयता अथवा *कवि का मोक्ष* की आनुवंशिकता के उत्तराधिकारी और उन्नायक थे।

पाखंड का खंडन, विकृति का उच्छेदन और दमन का प्रतिरोध करने में दिनकर की जिह्वा और कलम न तो कभी फिसली और न ही कभी ठहरी। कोई सुने या न सुने वे इंकिलाब की हद तक जाकर जीवन भर पुकारते और ललकारते रहे। उन्होंने लिहाज के लिये सच्चाई की बलि नहीं चढ़ाई। न तो कभी हिन्दी का अहित होने दिया और न ही राष्ट्रीय अस्मिता और सांस्कृतिक गरिमा की क्षति। उनका जुझारूपन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आग्रह लेकर आजीवन जूझता रहा। स्थान चाहे राज्यसभा हो, साहित्यगोष्ठी हो या देश-विदेश में संवाद-प्रतिवाद। वे अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों ही स्थितियों में देश के लिए दीप-स्तंभ बने रहेः

तम में दीप, दिशा-भ्रम में रवि,
संकट में सांत्वना वाक्य,
बल-विभ्रम में विद्युत जिह्वा कवि।

महल के लिये झोपड़ी की बलि देने और कृषक के शोषण पर ऊँची दीवारें खड़ी करने के पूँजीवादी प्रपंच के खिलाफ दिनकर जी अपनी इंकिलाबी आवाज बुलंद करते रहे। वे भारतीय समाज के उपवन से विषमता, दुर्भाव और दमन के कैक्टसों का सफाया करके समता, सदाशयता और समरसता के फूल खिलाना चाहते थे। इसीलिये, उन्होंने कविता रूपी दुर्गा का आह्वान करके चाहा कि वह संसार में ऐसी क्रांति की ज्वाला सुलगा दे जिससे पतन, पाप और पाखंड भस्मीभूत हो जाएँः

क्रांतिधात्रि कविते जाग, उठ आडंबर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखंड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

परतंत्र भारत में व्याप्त गरीबी, उत्पीड़न और शोषण के संहार के लिये कई साहित्यकार उस समय साम्यवाद की वकालत करने लगे थे। सुमित्रानंदन पन्त भी उनके स्वर में स्वर मिलाने लगे थे। लेकिन प्रचंड पौरुष और कर्मयोग के कवि दिनकर ने यह तर्क देकर उन स्वरों को शांत कर दिया कि ऐसा सिस्टम जो मनुष्य पर बोझ बनकर उसकी आत्मा को कुचल दे, वह मनुष्य जाति के लिए हितकारी नहीं हो सकता।

वे भाग्यवाद और परलोकवाद के कट्टर विरोधी थे। वे मिट्टी और जीवन के कवि थे। 'कुरुक्षेत्र' में उन्होंने शंखनाद किया कि भाग्यवाद पाप का आवरण और शोषण का शस्त्र है। व्यर्थ के कल्पना-लोकों का निर्माण कर जन-साधारण को भुलावे में भटकाने वालों को ललकारते हुए वे कहते हैंः

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है, कुछ भी नहीं गगन में।
धर्मराज! जो कुछ भी है, वह मिट्टी में, जीवन में।

दिनकर की डायरी सन् 1987 में प्रकाशित हुई थी। इसका अंतिम वाक्य हैः *श्री अरविन्दः शरणं मम*। इससे प्रतीत होता है कि राष्ट्रकवि दिनकर अरविन्द के विचारों से अभिभूत थे। कवि और योगी अरविन्द मानते थे कि बुद्धि से लिखी गई कविता उन कविताओं से हीन होती है, जो सीधे आत्मा से निकलती है। 31 दिसम्बर, 1972 को पटना में लिखी डायरी में उन्होंने बताया है कि पूनम के लिये वर नहीं मिलने के कारण उनका चित्त अशांत था। तभी उन्हें महसूस होने लगता है कि मन को शांत करने की शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है। फिर वे कविता के जन्म पर विचार करते हुए लिखते हैं कि *बड़ी कविता का जन्म तब होता है, जब मन का यंत्र निश्चेष्ट होकर पड़ जाता है। सुना है, बड़े-बड़े आविष्कार भी मन की इसी निश्चल दशा में हुए हैं। सोचने की शक्ति बहुत बड़ा वरदान है, किन्तु न सोचने की शक्ति उससे भी बड़ा वरदान है। मन को स्वच्छ रखने का भी तरीका यही है कि मन को सोचने से रोक लिया जाए। योग कुछ करने का नाम नहीं है, वह केवल होने का नाम है। यानी केवल बीइंग, बिकमिंग नहीं। मन के शांत होने पर ही बीइंग की स्थिति आती है, वह भूमि आती है, जो किसी की नहीं है*। लेकिन दिनकर यह मानते और जानते हैं कि *कविता का एक बड़ा लक्षण यह है कि वह आत्मा की शांति भंग करे। आत्मा के शांति-भंग में एक आनंद है, जिसे संस्कृत व्यक्ति ही जानता है।*

कवि दिनकर की आत्मा की शांति कम से कम दो बार तो भंग होती हुई दिखाई दे ही गई थी। एक तो 'उर्वशी' की प्रसूति से पहले और दूसरे चीनी आक्रमण के दौरान 'परशुराम की प्रतीक्षा' को अवतरित करते समय। 'उर्वशी' काव्य की रचना में उन्हें सर्वाधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। उर्वशी के प्रसव की बेचैनी और दर्द वे आठ साल तक सहते रहे। प्राणों का संकट झेलकर उन्होंने इस काव्य को पूरा किया। वे उर्वशी को पूरा किए बिना मरना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने कविता की रचना जबर्दस्ती शुरू कर दी। फिर यही जबर्दस्ती प्रेरणा में बदल गई और कविता ने उन्हें कसकर पकड़ लिया। दिनकर जी ने अपनी डायरी में लिखा है कि *मैंने इसकी रचना नहीं की है, यह अदृश्य में कहीं लिखी-लिखाई पड़ी हुई थी। मैंने मात्र उसका अनुसंधान कर लिया है।* पंत जी को लिखे एक पत्र में इस अनुसंधान का काव्यमय उल्लेख किया गया है-

मैं घोर चिंतना में धँसकर,
पहुँचा भाषा के उस तट पर।
था जहाँ काव्य यह धरा हुआ,
सब लिखा-लिखाया पड़ा हुआ।
बस झेल गहन गोते का सुख,
ले आया इसे जगत् सम्मुख।

1962 में हुए चीन के अप्रत्याशित आक्रमण के समय कवि का आक्रोश चरम बिन्दु पर पहुँच गया था। वे प्रतिकार और आत्मधिक्कार से आन्दोलित होकर कविता पर कविता लिखे जा रहे थे। यहाँ तक कि रक्तचाप बढ़ गया और बीमार हो गए। जनता का मनोबल बढ़ाने के लिये फिर भी वे कवि सम्मेलन आयोजित करते रहे। राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन और प्रधानमंत्री पं. नेहरू से मिलते रहे। उन्हें जनभावना से अवगत कराते रहे। जनरल कौल, रक्षा मंत्री मेनन और चीन विषयक सरकार की नीति को लेकर जागरूक लोगों में काफी नाराजगी थी। जनरल कौल को सेना बिल्कुल पसंद नहीं कर रही थी। नेहरू से रिश्ते के कारण कौल को हटाना मुश्किल हो रहा था। तेजपुर में सैनिकों ने राष्ट्रपति के चरणों में गिरकर जो कुछ बताया उससे राष्ट्रपति हिल गए। दिनकर ने कौल और नेहरू की रिश्तेदारी पर निशाना साधते हुए भाई-भतीजावाद और गोत्रवाद पर एक चुभने वाली कविता लिख दी। अन्त में राष्ट्रपति के हस्तक्षेप और राजाजी द्वारा की गई आलोचना ने नेहरूजी को जनरल कौल और मेनन को निकालने के लिये मजबूर कर दिया।

22 दिसंबर 1962 को 'परशुराम की प्रतीक्षा' नामक जो कविता आरंभ हुई थी, वह लगभग प्रतिदिन ही लिखी जा रही थी। देश के आहत होने का दर्द दिनकर जी में इतना गहरा था कि वे रोते जाते थे और कविता लिखते जाते थे। 23 जनवरी 1963 को हुए लाल किले के कवि-सम्मेलन में भी दिनकर जी ने यह कविता सुनाई और खूब दाद बटोरी। उन दिनों इस आग उगलने वाली कविता का दिल्ली में बड़ा तहलका मचा हुआ था। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के बारे में जानकारी मिलने पर डॉ. राधाकृष्णन बेहद खुश हुए। उन्होंने दिनकरजी को कहा कि *काश मैं हिन्दी जानता और आपकी कविताएँ पढ़ सकता! मगर दिल्ली में आपने जो तहलका (कमोशन) मचा रखा है, उससे मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आप समर्थ कवि हैं। मेरा आशीर्वाद है कि आपकी सामर्थ्य और भी बढ़े। कवि निर्भीक नहीं होगा तो कविता पवित्र और शक्तिशालिनी नहीं होगी।*

चीन के छलपूर्ण आक्रमण से देश के मस्तक को नीचा होता हुआ देखकर दिनकर ने भारत को एक सामरिक राष्ट्र बनाने की पैरवी की। वे बाहुबली प्रवृत्ति और हिंसा के प्रशंसक हो गए। उनका रौद्र-रूप उजागर हो गया। उन्होंने कहा कि गांधी और बुद्ध को बचाने के लिये उस खड्ग की आवश्यकता है, जिसे उनके अनुयायी निंदित मानते हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' राजेन्द्र बाबू को भी सुनाई। वे निम्नांकित पंक्तियाँ सुनकर मूछों में मुस्कुराते रहेः

असि छोड़, भीरु बन जहाँ धर्म सोता है,
पातक प्रचंडतम वहीं प्रकट होता है।

दिनकर कहते हैं कि *राजेन्द्र बाबू कविता इस भाव से सुन रहे थे कि कवि का क्रोध जब सीमा का उल्लंघन करता है, तब भी वह खूबसूरत होता है और मैं इस भाव से सुना रहा था कि गांधी-परंपरा में भी इस क्रोध का औचित्य है। ...अगर गांधी-धर्म आत्मरक्षा से तलवार उठाने को पाप नहीं समझता तो मैं भी उत्तम कोटि का गांधीवादी हूँ।*

वाल्तेयर के बहाने दिनकर एक जगह कहते हैं कि *कवि होना उस शुद्ध, जीवंत बर्बर के समान है जो सोचता नहीं, केवल अनुभव करता है, फील करता है, जिसके भीतर विचार नहीं होते, केवल बिंब या चित्र होते हैं।* लेकिन जब दिनकर की परवर्ती कविताओं को पढ़कर पंत जी ने कहा कि उनकी कविता में विचार कुछ ज्यादा ही दिखाई दे रहे हैं, तब दिनकर जी ने दो-तीन विदेशी साहित्यकारों के उद्धरण देकर अपनी रक्षा भी कर ली। मगर सच्चाई तो यही है कि कविता में भावना और विचार की लयपूर्ण उपस्थिति आवश्यक है। कविता न केवल भावना का आवेग है और न कोरे विचारों का उन्मेष।

धर्मयुग में 'हारे को हरिनाम' शीर्षक के अर्न्तगत छपी दिनकर की कविताओं की काफी सराहना हुई। नामवर सिंह और स्वर्गीय रामविलास शर्मा जैसे दिग्गज विचारकों और साम्यवादियों ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राम विलास जी ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि वे निरन्तर इन कविताओं को पढ़ते रहेंगे तो एक दिन आस्तिक अवश्य बन जाएँगे। इस कारण दिनकर जी आश्वस्त थे कि भारत में साम्यवाद या कम्युनिज्म कभी नास्तिक नहीं हो पाएगा।

राज्यसभा के सदस्य बनाए जाने के बाद लगभग 20 वर्ष (1952-72) तक वे दिल्ली से ही लगे रहे। उनके लिए यह कालखंड काफी घटना-प्रधान रहा। इस दौरान वे बादलों से गरजते और बिजली की तरह दौड़ते रहे। वे हिन्दी के तो परिव्राजक बने रहे। देश और दुनिया नापते रहे। सैकड़ों साहित्यकारों और कलाकारों के संपर्क में आए। हिन्दी और अंग्रेजी के साहित्य को पढ़ने में वे कभी पिछड़े नहीं। दिल्ली में नेहरू जी से भी काफी हिले-मिले रहे। जवाहर और मोती पर कविताएँ भी लिखी। जवाहर को वीर रस के कवि सम्मेलन सुनवाए ताकि चीन से लड़ने का उनका जज्बा ठंडा नहीं होने पाए। लेकिन वक्त आने पर देश और हिन्दी के मामलों को लेकर नेहरू को खरी-खोटी सुनाने में संकोच या परहेज नहीं किया। एक बार नेहरू ने भावना में दिनकर से कह दिया कि उनके (नेहरू के) बाद भारत में जनतंत्र नहीं रह पाएगा, सैनिक शासन हो जाएगा। नेहरू जैसे जनतंत्रवादी से यह चर्चिल की भाषा सुनकर वे दंग रह गए। वे इन शब्दों को हजम नहीं कर पाए। सीधे-सीधे राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन के पास जाकर उन्हें बता दिया। डॉ. राधाकृष्णन को भी बड़ा दुःख और आश्चर्य हुआ और वे काफी सतर्क हो गए।

1962 में जब गोपाल रेड्डी सूचना मंत्री बने और उन्होंने 'तुष्टीकरण' के लिए हिन्दी के सरलीकरण का अभियान छेड़कर हिन्दी से संस्कृत के शब्दों का बहिष्कार करने की वकालत की तो दिनकर जी तमतमा उठे। रेडियो बुलेटिनों में जिस तरह से हिन्दी को लिखा और बोला जा रहा था, उससे राष्ट्रकवि की नाराजगी और अधिक बढ़ गई। उन्होंने ललकार कर कहा कि सरकार हिन्दी को बिगाड़ रही है। उन्हें यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि यह हिन्दी के बिगाड़ का कार्यक्रम बच्चन जी की देख-रेख में हो रहा था। पंत जी भी बच्चन की हाँ में हाँ मिला रहे थे। राज्यसभा में, हिन्दी के बेतुके सरलीकरण के खिलाफ, दिनकर ने जो ओजस्वी भाषण दिया उसका हिन्दी जगत् ही नहीं दक्षिणवासियों ने भी स्वागत किया। इस भाषण में उन्होंने नेहरू के खिलाफ छींटाकशी करते हुए कहा कि देश के प्रधानमंत्री पं. नेहरू के हिन्दी विरोधी रुख को देखकर ही कुछ लोग हिन्दी के सरलीकरण की मुहिम चलाने के लिये आमादा हुए हैं।

गांधी विज्ञान और आधुनिकता को वहीं तक अपनाने के पक्षधर थे, जहाँ तक कि हमारी नैतिक क्षमता उस पर नियंत्रण (या अनुशासन) रख सके। दिनकर का भी आग्रह था कि हम आधुनिक वहीं तक बनें, जहाँ तक वह हमारी संस्कृति के अनुकूल हो। अपनी संस्कृति और परंपरा का सार इसलिए बचाना है कि कहीं आधुनिक बनते-बनते हम यूरोप या अमेरिका की 'डुप्लीकेट कापी' बनकर न रह जायें। दुनिया एक हो, यह ठीक है; लेकिन विभिन्न देशों की परंपराएँ अगर जड़ से उखाड़ कर फेंक दी गईं तो दुनिया शायद एक जैसी तो हो जाएगी, मगर रंग उसका भूरा हो जाएगा, चितकबरा नहीं रहेगा। संभवतः, विविधता खोकर अनाकर्षक और नीरस भी हो जाएगी।

बुद्धिजीवियों और मनीषियों की भूमिका एवं छवि को लेकर भी दिनकर अपने साहित्यकार साथियों और मित्रों से चर्चा करते रहते थे। फलस्वरूप, उनका अभिमत बना था कि मनीषी जब सरकार से सटने लगता है, तब जनता उस पर संदेह करने लगती है और जब वह सरकार का अंग बन जाता है तब जनता उस पर विश्वास करना छोड़ देती है। असली बात यह है कि जनता चाहती है कि मनीषी ऐसा हो कि वह राजा और प्रजा दोनों को डाँट सके। जब तक मनीषी इस धर्म का पालन करता है, तब तक जनता उसके साथ रहती है। स्वराज्य के पूर्व मनीषियों का इस देश में बड़ा सम्मान था,

क्योंकि मनीषी या बुद्धिजीवी शासकों के खिलाफ आवाज उठाते थे। अब मनीषियों का आदर बहुत कम हो गया है। जो मनीषी, लेखक, कवि या कलाकार हैं, वे कला और साहित्य की तो सेवा करते हैं, लेकिन समय के ज्वलंत प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करने से कतराते हैं। बेशक, यह सुरक्षित राह है मगर जो सुरक्षा खोजता है, जनता उसकी खोज-खबर नहीं लेती। जिस समाज के मनीषी भयभीत होकर दब्बू और चाटुकार बने रहते हैं, उस समाज का नेता राजनीतिक ही रहेगा, मनीषी नहीं। समाज पर बौद्धिकों और प्रज्ञावानों का प्रभाव तभी पड़ेगा जब कि वे समय पर सत्य बोलने या प्रतिरोध की आवाज उठाने की कीमत चुकाने के लिये तत्पर रहेंगे। दिनकर किर्केगार्द की इस उक्ति से सहमत थे कि *आदमी केवल सोचने से नहीं बनता। वह नैतिक संघर्ष से बनता है, कर्म के तनाव से बनता है।* कुल मिलाकर, दिनकर तटस्थता के बहेलिये थे। ऐसा लगता है कि वे स्वयं अपनी काव्य-पंक्ति, *जो तटस्थ हैं समय लिखेगा उनका भी अपराध,* को जीवन में उतारने की कोशिश में लगे रहे। निःसन्देह, वह सुशिक्षित व्यक्ति भी इस धरती का बोझ है जो सत्य, न्याय और समता का आग्रह नहीं रखता हो, या इनके पक्ष में एक स्टैण्ड न ले पाता हो।

उपभोग की अति से उपजने वाली उकताहट, समृद्धि के सरोवर में उगने वाले दुष्काल और सभ्यता द्वारा प्रकृति एवं मानव जीवन की गुणवत्ता के साथ किए जा रहे व्यभिचार के प्रति भी दिनकर चौकन्ने थे। भोग-उपभोग की पोषणीयता (सस्टैनेबिलिटी) अथवा मर्यादा को संभवतः इसीलिए उन्होंने 'उर्वशी' में बड़े मनोहारी शब्दों में उठाया है। इस कामाध्यात्म या निष्काम काम की क्लिष्ट कल्पना पर कुछ प्रश्न भी उठाए गए हैं। लेकिन, क्या यह ईशोपनिषद् के त्यागमय भोग की शृंगारिक अनुगूँज नहीं है:

सतत् भोगरत नर क्या जाने तीव्र स्वाद जीवन का,
उसे जानता वह, जिसने कुछ दिन उपवास किया है।

'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रंथ में भी अमर्यादित विलास और उपभोग के प्रति अपना क्षोभ व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं: *...यदि भारत का इतिहास सत्य है तो गरीबी पर लगाम लगते ही इस देश में एक विचारधारा प्रकट होने वाली है, जो यह बताएगी कि मनुष्य का कल्याण इसमें नहीं है कि उसकी आवश्यकताएँ अनंत हों, बल्कि इसमें कि उसकी जरूरतें थोड़ी हों। सर्वोत्तम समाज वह नहीं, जिसका लक्ष्य समुचित समृद्धि की उपलब्धि है, बल्कि वह जो वाजिब गरीबी को अपना ध्येय मानता है। जरूरत की सारी चीजें मनुष्य को तुरंत चाहिए, लेकिन जरूरत से फाजिल चीजें उसे एकदम नहीं चाहिए। भारत के प्राचीन ज्ञान और पश्चिम की नवीन संस्कृति के समन्वय की कीमत वही समाज दे सकता है जो विलास से बचने के लिये स्वेच्छा से अमीरी का त्याग कर सकता हो।*

अन्त में, मेरी समझ से, दिनकर जी की अनुभूतियों और विचारों का सार अग्रलिखित तीन बिन्दुओं में समाहित किया जा सकता है:

पहला- विचारकों, मनीषियों और विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों को तटस्थ और उदासीन नहीं रहकर पाखंड का खंडन, विकृतियों का विरोध और शोषण का प्रतिरोध करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

दूसरा- निर्बल को सबल और सबल को न्यायप्रिय बनाने का प्रयास निरन्तर जारी रहना चाहिए।

तीसरा और अंतिम यह कि सत्तावान के मुँह पर सत्य बोलने से सत्तावान सत्योन्मुख और सत्य सत्तावान होता है।

के-404, शालीमार टॉउनशिप, ए.बी. रोड, इन्दौर (म.प्र.) - 452010

□

देशभक्त दिनकर

नर्मदा प्रसाद सिसोदिया

स्वतंत्रता के साठ वर्ष पश्चात् भी देश राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं से जूझ रहा है। आज की राजनीतिक परिस्थितियों ने देश की सांस्कृतिक छवि को गहरा आघात पहुँचाया है। देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन से ईस्ट इण्डिया कंपनी के दिन पुनः स्मरण हो उठते हैं। इन तात्कालिक संदर्भ को उजास देती राष्ट्रकवि दिनकर की रचनाएँ युगीन संदर्भ में प्रांसगिक है। इन रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य एवं देश की सीमाएँ उसके जन, उसकी संस्कृति उसके महापुरुष आदि आलम्बन विभाव एवं शत्रु के आक्रमण अथवा देशवासियों पर आए किसी भी प्रकार के संकट को उद्दीपन विभाव के रूप में ग्रहण करके देश-भक्ति रस की निष्पत्ति हुई है। लोक-कल्याण की कामना से अनुप्राणित रचना समाज का मंगल पथ प्रशस्त करती है। राष्ट्रकवि दिनकर की देशभक्ति रस से युक्त कालजयी रचनाएँ रसज्ञ पाठकों को आत्मविभोर कर देती हैं। शोषण और असमानता की एक झलक हृदय को झकझोरती है:-

विद्युत की इस चकाचौंध में देख, दीप की लौ रोती है,
अरी! हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है,
देख कलेजा फाड़ कृषक, दे रहे हृदय शोणित की धारें
और उठी जातीं इन पर ही वैभव की ऊँची दीवारें।

डागाजी मार्ग वार्ड क्रं. 8, सिवनी मालवा, जिला- होशंगाबाद (म.प्र.)

उर्वशी : सवालों का संकट

प्रमीला के.पी.

कोई माने या न माने, वाद-विवाद से घिरी हुई हर रचना राजनीति व विशेष जीवन-दर्शन से युक्त होती है। वाद-विवाद इसकी मांग करते हैं कि रचना का पुनर्पाठ हो और पाठक अपना मंतव्य स्वयं बनाए। साथ ही सुपरिचित-बहुचर्चित रचना पर बोलना-लिखना चिंतनशील व्यक्ति के लिए सबसे कठिन होता है। किसी पौराणिक अभिमत को उसके आध्यात्मिक परिसर से अलग करके पढ़ना या वाचित करना हमारे लिए बहुत मुश्किल है। हमारे मानसिक गठन और वैचारिक परिदृश्य उसके परंपरागत अनुकूलन में धँस गए हैं। इस कठिनाई को पार करने के लिए मौलिक दृष्टि की महती जरूरत है। उर्वशी के माध्यम से उठे अनुत्तरित सवालों को पुनः देखना एक तरह का साहित्यिक दायित्व है।

रोलाड बार्थ्स का सिद्धांत कर्ता की मृत्यु व रेमण्ड विलियम्स की रचना को उपभोक्ता संदर्भ में वाचित करने की माँग, दोनों को सामने रखकर यदि हम आज 2007 में उर्वशी को हाथ में लेते हैं तो कई सवाल हमें उद्वेलित करते हैं। उसमें प्रमुख को उभारने का यहाँ पर प्रयास है:

उर्वशी का मूलभूत सवाल यह है कि प्रकृति और ईश्वर क्यों एक साथ नहीं रह सकते? इसका साफ उत्तर आज हमारे सामने है- प्रकृति निज होती है जबकि ईश्वर मानवनिर्मित है, जो कि संस्कृति का अंग है। संस्कृति आंतरिक हो या बाहरी, उसकी व्याख्या मानवीय सीमा में प्रवर्तित है। जबकि प्रकृति हर बार मनुष्य के अहंकारपूर्ण नियंत्रण से बाहर होकर ताकत दिखाती है, पर मनुष्य तब भी अपनी गतलफहमी नहीं छोड़ता, बरक्स दार्शनिक होने के अंदाज में फिर 'महान' होने के रुख में पलता है। असल में रचना के वाचन कर्म में कृति की महानता से बढ़कर पाठक या आलोचक की रुचि व संस्कृति की पहचान होती है। अक्सर हम यह तथ्य भूल कर वाद-विवाद-संवाद में भागीदार रहते हैं। अप्सरा की कथा हो या वेश्या की; उर्वशी की कथा के पुनर्वाचन में कृत्रिम मनोविज्ञान होने का ऐलान करते हुए हम यह भूल गए कि वह विचार उर्वशी व दिनकर से बढ़कर वाचक की पहचान बन जाता है। लगता है, कथा के प्लॉट के संदर्भों को पीछे छोड़कर, हमें उसकी सामयिकता और वाचिकता पर नजर डालनी चाहिए थी। इस तरह उर्वशी के माध्यम से कुछ नई बातें उभर आती हैं तो उनका निरीक्षण करें ताकि आगामी पीढ़ी उसकी चर्चा को आगे बढ़ाए। 'उर्वशी' पर परीक्षा में विद्यार्थियों से पूछे जानेवाले कामाध्यात्म और पुरूरवा के द्वन्द्व आदि की चर्चा अब अयाचित है। पर उन्हीं के मायनों पर विकसित 'सामाजिक आध्यात्मिकता' की चर्चा आज प्रासंगिक है। उस दृष्टि से उर्वशी का कार्य 'बाहर के संसार' में है, उसमें वह दखल करती है, अपना योगदान प्रस्तुत करती है, साथ ही इस दखल में वैयक्तिक चयन की भी रक्षा देखती है। इस तरह राजनीतिक अर्थ में 'उर्वशी' अपनी पुरानी कथा की सीमाओं में भी स्त्री-विमर्श की प्रतिनिधि रचना बन जाती है और उसकी निज प्रकृति के सर्वप्रमुख पहलू -यौनिकता-पर खुलकर बोलती है *(मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण-कथा है, / उसी भाँति निस्सीम, असीमित जैसे स्वयं प्रकृति है)*।

उर्वशी अदम्य है क्योंकि वह प्रकृति है जबकि राजा निर्मित है, विभिन्न अनुशासनों व संस्कारों से व्युत्पन्न। उर्वशी का अप्सरा होना भी प्रकृति की उद्दाम प्रवृत्तियों के अनुरूप है। पुराण पर आधारित होने के कारण कवि के इस प्रयास की अपनी सीमाएँ होंगी ही। पर समय व काल की दृष्टि से यह प्रयास क्रान्तिकारी है क्योंकि आज भी 'उर्वशी' के सवाल अनुत्तरित हैं। इसकी नायिका उच्चकुलीन पुरुष का उपकरण है, जिससे वह पुत्र-प्राप्ति का व्यावहारिक लक्ष्य प्राप्त करता है। पर इस पात्र-सृजन में उनके परंपरानिर्णीत दांपत्य-जीवन के एकलस्वरूप को, जिसे हम हेटेरोसेक्सुअलिटी कहते हैं, खंडित करने की चाहत है। इसमें एक औरत की स्वचयन के आधार पर जीवन बिताने और आजाद जीने की चाहतें हैं,

इसमें मानव संस्कृति के प्रतिबन्धों से उत्पन्न घुटन का प्रतिपादन है। उत्तर-औपनिवेशिक दृष्टि में उर्वशी का स्वर्ग 'पहली दुनिया' है तो पुरूरवा की धरती 'तीसरी दुनिया' का कोई राष्ट्र है। सौंदर्य और प्रजनन के उपनिवेशी मानकों पर पुरूरवा के द्वन्द्व की पहचान आसान है। पुरूरवा में परंपरागत भारतीय राजा के ही नहीं बल्कि उत्तर-औपनिवेशिक प्रशासक के भी संकट दिखायमान है। 'उर्वशी' में यौनिकता को लेकर विक्टोरियन मानकों की झाँकियाँ हैं, तो ऐसा होना स्वाभाविक है। उस समय में भी 'सेकेण्ड-वेव फेमिनिज्म' की शुरुआत नहीं हुई थी। तब भी स्त्री-यौनिकता का बयान हेय समझा जाता था। यदि औरत उच्चकुलीन है तो उसे संयमित और दायित्वपूर्ण होना अत्यंत जरूरी था। पौराणिक कथाओं के आधार पर रोमिला थापर ने 'शकुंतला' के पुनर्वाचन में प्रकृति व संस्कृति के द्वन्द्व पर काफी चर्चा की है। 'उर्वशी' के रचना-प्रसंग में यह याद करें कि शकुंतला की माता अप्सरा है- मेनका, जो कि उर्वशी की सहेली और इस रचना की एक पात्र है। 'उर्वशी' में स्वतंत्र नारी की त्रासद व विनिर्मित स्थितियों का बयान है। उस जमाने में नारी-जीवन के इस पक्ष को रचना में स्थान मिलना बड़ी बात लगती है। कथागति में होने वाले परिवर्तन पर या कथा के अंत को लेकर जो भी व्यंग्यात्मक-आलोचनात्मक टिप्पणियाँ मिलती हैं, उनसे परहेज कर वर्तमान संदर्भ में स्त्री के सतीत्व व मातृत्व के सांस्कृतिक सवालों पर उर्वशी का पुनर्वाचन होना चाहिए। साथ ही 'उर्वशी' में प्रतिपादित अरण्य-राजमहल के द्वन्द्व की चर्चा महत्वपूर्ण है। भारत के प्रसंग में प्रकृति व संस्कृति का यह संकट 19वीं शती में सर्वाधिक हो गया था। यह भी न भूलें कि इसमें उपनिवेश की कयामत कम नहीं थी। यह भूमिशास्त्र को बदलनेवाला परिवर्तन भर नहीं था, यह राजा-प्रजा, गोरा-काला, स्वर्ग-नरक, गाँव-जंगल, सरकारी-गैर सरकारी आदि अनेक द्वन्द्वों पर सोचने को मजबूर करता है।

'उर्वशी' परिवार, प्रेम, यौनिकता और नैतिकता की परंपरागत धारणा पर सवाल करती है। उसका कार्य परंपरागत धारणा को ध्वस्त करना नहीं, वह खुद विकल्प सामने रखती है। उसका सच मूल्यों को प्रतिष्ठापन नहीं है। वहाँ कोई टकराहट भी नजर नहीं आती, उसमें स्त्री-यौनिकता घूँघट के बाहर प्रस्तुत होती है। यौनिकता को लेकर यह अलिखित धारणा है कि स्त्री उसका प्रतिपादन-प्रकटीकरण नहीं करे। कोई ऐसा करती है तो वह वेश्या बन जाती है। पर हमारे समाज में वेश्या हमेशा 'अन्य' रहती है। पर उनका उपयोग माता के रूप में खूब उपयुक्त है। कई उदाहरणों मे राजा-महाराजाओं के लिए वही एकमात्र पुत्र-संपादन का मार्ग भी चित्रित किया गया है। मेनका, उर्वशी, रंभा आदि इस पंक्ति की मिसालें हैं। माधवी, द्रौपदी, गांधारी और सीता के समवर्ती पौराणिक उदाहरणों में उनके रूप भले ही राजपत्नी के नाते चित्रित हैं, पर स्त्रीत्व और मातृत्व का उपयोग उन अप्सराओं से कुछ भिन्न नहीं हैं।

आज की अप्सराएँ हैं-फिल्मी तारिकाएँ। उनके पृथ्वी की होने की कोई सूचनाएं न टीवी में हैं, न अन्य संचार माध्यमों में। चैनलों की बौछारों में उनकी अदाएँ उसी तरह वर्णित-प्रसारित हैं। उनकी इच्छाएँ, डेटिंग, प्रेम, सौंदर्य-संरक्षण, संबंध, मातृत्व आदि विस्तार से एकसाथ अनेक चैनलों में बार-बार प्रक्षेपित किए जाते हैं। धन व यश के बल के कारण कोई उनकी नैतिकता पर सवाल भी नहीं उठा सकता। इसके उलट बच्चे-बूढ़े सब, इसी को देखते-समझते और मानक खड़े करते रहते हैं। इन तमाम विसंगतियों से किसी को शिकायत नहीं; न वाम को, न सत्ताधारी को। बस, यह सब हमारे लिये आम हो गया है। हमारा युग आजादी की वैयक्तिक परिभाषा का है, इसलिए उसमें 'सामाजिक' सच का कोई स्थान नहीं है। समाज का अर्थ सत्ता और धन के ठेकेदारों द्वारा तैयार किया जाता है। 'आम आदमी' का नारा सभी लोगों को सुनाया जा रहा है। सच तो यह है कि 'आम आदमी' सब के लिए आसान सुरक्षाकवच है, उसकी धारणा 'एब्स्ट्रैक्ट' है, इसलिए कोई यह पूछने नहीं आएगा कि आपने मुझ पर क्यों कुछ कहा। इस सुरक्षा कवच पर अपने को 'आम आदमी' के प्रतिनिधि के रूप में, अपनी ही पार्टी के भुजबल-धनबल पर प्रतिष्ठित करने वाले 'तारनहारों' के युग में सब कुछ नैतिक बन जाता है। संदेह यह है कि हम इस सच्चाई को क्यों नहीं स्वीकार करते हैं कि चैनलों के माध्यम से हम यही संदेश फैलाते हैं। पिछली बार के विधान सभा चुनाव में तमिलनाडु की मुख्य पार्टी ने यह वादा किया था कि जीत होने पर वे हर परिवार को टीवी देंगे। सच्चाई यह भी है कि भ्रूणहत्या और लड़की ट्रैफिकिंग में यह राज्य भारत में सबसे आगे है। वहाँ के नवयुवक रोजगार की तलाश में पड़ोसी राज्यों में घूम रहे हैं और बराबर श्रम-शोषण के शिकार होते हैं। नैतिकता के ढोंग और 'वैचारिक विप्लव' की भाषणबाजी से मनुष्य के पेट व देह की भूख मिटनेवाली नहीं, उसकी तो सस्ते वेतन पर ही सही, पेट भरने के रोजगार और राखी सावंत के सनसनीखेज दृश्यों में ज्यादा 'रुचि' है। यह युग दर्शन से बढ़कर सेक्स बिकनेवाला युग है। आम आदमी के लिए जीवन-दर्शन प्रमुख नहीं रहा। दिन भर काम करने के बाद भी उसकी तसल्ली भिन्न-भिन्न सामाजिक कारणों पर जब नष्ट-सी हो जाती है, तो वह पेट भरने के बाद 'सेक्स' रूपी दैहिक प्राथमिकता के पीछे जाता है। गोयनका अवार्ड वितरण के प्रसंग में खबरों की सनसनी प्रचारित करने पर खूब आलोचना हुई तो हिंदी के एक पत्रकार ने उठकर अपनी लाचारी व्यक्त की। उनके अनुसार यदि वह मसाला नहीं डालेगा, तो रेटिंग कम हो जाएगी, हो सकता है कि इस वजह से उसका रोजगार तक बंद हो जाए, कोई यह चाहेगा नहीं। इस सच्चाई को समझ लेने के विपरीत हम उर्वशी के 'कृत्रिम मनोविज्ञान' को उपेक्षित करते रहें तो हम पीछे रह जाएँगे। चुनावों में जिस तरह जनप्रिय गानों की अनुकरणात्मक पैरोडी का इस्तेमाल होता है, उसी तरह अब भगवान के मंदिरों में भी अनुकरण संगीत उपयुक्त होता है। जनप्रियता के मायनों पर हमें देखना चाहिए। इस दृष्टि से उर्वशी को भी पढ़ें और यह

देखें कि उसमें क्या-क्या नई बातें हैं। जीवन यौनिकता भर नहीं है, पर वह वैचारिकता या आध्यात्मिकता भी नहीं है। हमारे जीवन का कार्यान्वयन, अनोखे वितरण में इन सबका समन्वित रूप है।

उर्वशी का अगला सवाल यह है कि रचनात्मक दृष्टि में वह मातृत्व को कैसे देखती है। भले ही संस्कृति में प्रचलित मातृत्व का निर्वहन उर्वशी नहीं करती, प्रकृति का एक विकल्प वहाँ पर उपलब्ध होता है कि दूसरी स्त्री मातृत्व की खाद देती है। संस्कृति पर प्रकृति की जीत के एक और संदर्भ के रूप में इसे व्याख्यायित किया जा सकता है। इको-फेमिनिज्म में मातृत्व के सार्वजनिक स्वरूप का बयान है। उस दृष्टि से अनाथता बच्चों की नहीं होती। उसमें प्रकृति सभी प्राणियों की माता है या प्रकृति में स्वतः अपनी संतानों को देखने की क्षमता है। जननी से अलग होने पर भी बच्चा माता की ममता से वंचित नहीं होता। 'आयु' के कथनों के आधार पर इसकी पुष्टि संभव है। बुर्जुवा समाज में प्रजनन को किराए पर लिया जाता है और प्रजनन के नाम पर औरतों की आजादी रोकी जा रही है तो प्रतिरोध का यह मार्ग बताया जाता है कि स्त्रियों का अंतरंग समान है, इस तरह एक के अभाव में दूसरी अपनी सहेली का काम कर सकती है। 'लेस्बियन कांटिनुअम' में भी औरतों की भीतरी एकात्मकता को पुष्टि मिलती है। यह भी बताया जाता है कि औरत से औरत का आकर्षण इस दुनिया की सच्चाई है, उसमें दैहिक आकर्षण या देह-व्यापार की तुलना में मानसिक एकजुटता प्रमुख है। इसके सदुपयोग में उर्वशी खुद की आजादी अपनी इच्छानुसार तय करती है और साथ ही अपने पुत्र को सुकन्या को सौंपकर उसका ठीक-ठाक भविष्य तय करती है। वह चाहती है कि उस पर थोपा गया 'वेश्यात्व' सामाजिक दृष्टि में अपने पुत्र पर हावी न हो। प्रकृति का अंग होने के कारण उर्वशी की संवेदनाओं को प्रकृति सँजोती है, बाँटती है। वह प्रकृति और संस्कृति के द्वैत को मानती ही नहीं, उसके लिए मात्र प्रकृति यथार्थपूर्ण है, आनंदमयी है (उर्वशी कहती है: *मन की कृति यह द्वैत, प्रकृति में, सचमुच द्वैत नहीं है*)। प्रकृति के सभी गुणों पर उसका बखान है। प्रजनन के बाद जब वह अपने पुत्र को संस्कृति में छोड़ देती है, तब आयु का जीवन प्रकृति से संस्कृति में स्थानान्तरित किया जाता है। कानन में जन्म लेने पर भी 'राजा के पुत्र' या 'विशेष शिशु' होने के कारण यही संभव रास्ता था। इस तरह बुर्जुवा समाज की भावी पीढ़ी पर भी उर्वशी के अपने विशेष दर्शन हैं। क्योंकि उसमें वेश्या के बच्चे के संरक्षण के लिए न राजा कुछ करता है, न समाज। सत्तावर्ग के अधिनिर्णयों पर इस तरह वह लगाम देती है ताकि औरत के साथ उसकी यौनिकता और मातृत्व को लेकर उनकी पूर्व-परिभाषा गलत निकले और उससे संभाव्य विकल्प सामने आएँ। इस तरह यौनिकता और मातृत्व को लेकर प्रवर्तित बुर्जुवा मानसिकता के विरोध में उर्वशी का कार्य है तो इसमें वामपंथ के लोग क्यों बौखलाते हैं? इस कदर एक 'प्रगतिवादी उदाहरण' जोड़ दूँ कि गोदान में एक ऐसा प्रसंग है जिसमें झुनिया की छाती से दूध नहीं आता, बच्चा मरने जा रहा है तब चुहिया उसे दूध पिलाती है और ममता की रक्षा में बच्चा बच जाता है। वहाँ हमने यह नहीं पूछा कि वैज्ञानिक दृष्टि से बूढ़ी औरत के स्तन से दूध नहीं निकलता! इसी की कड़ी के रूप में आयु की परवरिश को देखा जाय तो वह प्रजनन की प्रक्रिया में स्त्री और प्रकृति के संबंधों की व्याख्या पेश कर देगा। इस प्रसंग में यह सामाजिक तथ्य भी सामने आता है कि पुरुष की अपेक्षा ऐसे प्रसंगों पर स्त्री की सहायता पहुँचानेवाली स्त्री होती है। परवर्ती नारीवादी सैद्धान्तिकी ने इसका विश्लेषण इस तरह किया कि यह स्त्री-पुरुष दांपत्य की सांस्कृतिक परंपरा के प्रतिरोध में युग-युगों से विद्यमान प्रकृति सिद्ध व्यतिरेकी प्रयास है। इसे वे सामाजिक जीवन और यौनिक व्यवस्था दोनों की दृष्टि से विश्लेषित करती हैं। इन सबसे उर्वशी की प्रकृति-पुत्री होने की बात साबित हो जाती है। यह सही है कि उसकी छवि में अप्सरा की झाकियाँ हैं, पर यह भी महत्वपूर्ण है कि दिनकर ने उसे किस आधार पर संबोधित किया है। सारे ठाट-बाट और तथाकथित समृद्धियों के बावजूद हमारे समाज में गणिकाओं का 'अन्य' रहने की बात भी वे छुपाते नहीं है।

मातृत्व के साथ जुड़ी हुई संकल्पना है- पितृत्व। लेकिन पुरुष के इस सामाजिक दायित्व पर न इतिहास कुछ कहेगा, न पुराण। उनमें पितृत्व एक चिह्न मात्र है, जो कि परंपरा-निर्वाह के लिए प्रयुक्त है। पुत्र मात्र 'उनका' होने के कारण यशस्वी और सर्वगुणसंपन्न होगा (पुरूरवा का अभिमानः *उरुदण्ड परिपुष्ट, मध्य कृश, पृथुल, प्रलंब भुजाएँ*) और पूरे विश्व में पिता का नाम रौशन करेगा। पुरूरवा भी इसी की कड़ी है। उसमें न कुछ नए ढंग से सोचने की क्षमता है, न गढ़ने की, न ही कुछ भी अस्थिर करने की हिम्मत। इसलिए वह लोगों की आलोचना से अधिक डरता है जैसे राम-सीता के प्रसंग को लेकर करते हैं। सामाजिकता के बने-बनाए रास्ते से हटकर वह कुछ नहीं करते। पुरूरवा संस्कृति से डरता है व उसकी स्थिति हमेशा यह है कि वह संस्कृति की छाया में रहे (उर्वशी की टिप्पणी : *तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर*)। पुत्र को पाने पर, पहले वह अपने पुंसत्व पर इतराता हुआ 'अंबर' को ललकारना नहीं भूलता (*लाओ मेरा धनुष, यहीं से बाण साध अम्बर में / अभी देवताओं के वन में आग लगा देता हूँ*)। मगर शीघ्र ही संस्कृति के बताए गए 'संन्यास के भारमुक्त मार्ग' पर आगे बढ़ता है। हमारे समाज में विवाह के बाद, चाहे वह राजोचित गंधर्व-विवाह ही क्यों न हो, युवती अगर गर्भवती नहीं होती है तो उसका पूरा दायित्व स्त्री पर ही होता है। वह अपने-आप अपराध-बोध से जूझेगी, अपनी देह को द्वेष से देखेगी। यह परंपरागत बात ही नहीं बल्कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। यदि वह माता बन जाती है तो उसके साथ स्वतः बच्चे की परवरिश, खाना-खिलाना, शिक्षा-दीक्षा आदि अन्तर्निहित दायित्व स्वयं समा जाते हैं। वह इन सबको मना नहीं कर

सकती। उर्वशी का खेल यहाँ भी स्पष्ट है। जूलिएट मिशेल ने इसी प्रसंग में पुंसाधिपत्य के नारी-नियंत्रण के चार औजारों को रेखांकित किया है-निर्माण, प्रजनन, सामाजिक आजादी और यौनिकता। भारतीय परंपरा में दाम्पत्य को सुरक्षित रखने का एक मार्ग बच्चा पैदा करना भी बताया जाता है, इसलिए औरतों को यह उपदेश दिया जाता है कि वे जल्दी ही बच्चा पैदा करके संबंध को घनिष्ठ बनाएँ।

स्वतंत्रता की साठवीं वर्षगाँठ पर वामपंथ के क्रान्तिकारी नेताओं की जीवनी पर केन्द्रित रचनाएँ व फिल्में निकल रही हैं। उन्हीं के साथ उभरनेवाली आलोचना-प्रत्यालोचना में यह प्रश्न बराबर पूछा जाता है कि इनकी पत्नियों-प्रेमिकाओं पर पुस्तकें क्यों नहीं लिखी जा रही हैं? कई नेताओं के एकाधिक प्रेम-संबंध हैं और उनकी संतानें भी। उनके महान सामाजिक व प्रशासनिक कार्यों के बीच दबती-घुटती 'नालायक' संतानों की कराह चैनलों पर गूँजने के समय हम सोचने के लिए मजबूर होते हैं। नेता हों या राजा, उनके बहुचर्चित सामाजिक हस्तक्षेप और इतिहास-निर्माण में प्रेम और संतान-प्राप्ति का 'सार्वभौमिक इतिहास' दब जाता है तो इसका जिम्मेदार कौन है?

'उर्वशी' का अगला सवाल है- स्त्री की देह की परिभाषा कौन करता है, सौंदर्य की परिभाषा कौन करता है? आज भी इन प्रश्नों का उत्तर उसी के समान है जो सालों पहले विद्यमान था। पुरुष की परिभाषा में विश्वसुंदरी के कीर्तिमान सत्तर के दशक से 'पहली दुनिया' में जोर पकड़े हुए हैं। इससे संबंधित वर्चस्ववादी मिथक अब भी उसी पैमाने पर प्रचलित है, प्रवर्तित है। विनिर्मित सौंदर्य और देह-भंगिमा पर लट्टू होकर तारिकाएँ अपने अवयवों की शल्यक्रिया में जुटी हुई हैं । इस कृत्रिमता को लेकर हमें कोई एतराज नहीं है। परोक्ष सच यह भी है कि जिस देह को गठित किया जा सकता है, उसे 'वस्तु' ही बताना चाहिए। शारीरिक संरचना और देहभाषा को जिस समाज में गठित किया जाता है, वहाँ उर्वशी की आधुनिक नारी को अपनी यौनिकता और व्यवहार को लेकर शर्मिन्दा रहने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यह उर्वशी की 'डिविनिटी' के कारण नहीं, इस संसार और सांसारिकता से प्रयाण के कारण उपलब्ध हुआ है। इस पर प्रश्न करने वाले यह भूल जाते हैं कि वही पत्थर मार सकता है जिसने पाप नहीं किया हो। याद होगा कि इस राजनीतिक मंत्र के दुहराने से बिल क्लिंटन भी यौनिक अपराध के आरोप में राष्ट्रपति के पद से 'इंपीचमेन्ट मोशन' से बच गए थे। इस तरह उर्वशी की यौनिकता का खुला बयान पुरुष परिभाषा के विरोध में प्रस्तुत होता है।

तीसरी दुनिया के राष्ट्रों से अवयस्क बालिकाओं के अन्तरराष्ट्रीय ट्रैफिकिंग के इस दौर में पुरूरवा के बुर्जुवास का यह ललकार सामान्य लगता है कि वह स्वर्ग में जाकर उसे परास्त कर, उर्वशी नामक विश्वसुंदरी को ले आएगा। पराजित करने की राजकीय क्षमता हमारे इतिहास के पुंसत्व का बुनियादी लक्षण है। रणक्षेत्र में औरतों का 'वस्तूकरण' आज भी सामान्य है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। पितृसत्तात्मकता को बनाए रखने के लिए यह आज भी उपयुक्त है। बलात्कार के बाद संपन्न होनेवाली शादी के ड्रामा को सामाजिक स्वीकृति मिलने के पीछे यही वर्चस्ववादी-संस्कृतिक पूर्वधारणा छुपी रहती है। अक्सर हम यह भूल जाते है कि समाज में स्त्री की अस्मिता की बहुस्वरता भी विद्यमान है। उर्वशी के प्रसंग में उनके दो अलग-अलग विश्वों के बीच में पलने की खासियत को भी अभिहित करना होगा। आधुनिकता के समय में औपनिवेशिक स्त्रीत्व-मानक के प्रचलन के कारण उर्वशी की नायिका में 'स्वप्न के मणिकुट्टिम सौंदर्य' के साथ 'दिमाग' भी है :

तुम मेरे बहुरँगे स्वप्न की मणिकुट्टिम प्रतिमा हो,
नहीं मोहती हो केवल तन की प्रसन्न द्युति से ही,
पर, गति की भंगिमा-लहर से, स्वर से किलकिंचित से,
और गूढ़ दर्शन-चिंतन से भरी उक्तियों से भी।

वेगमयी दुनिया के वर्ग-वर्ण संस्करण के परिप्रेक्ष्य में इसकी चर्चा संभव है। लगता है उर्वशी का स्त्रीत्व उसके 'भूत, भविष्यत् वर्तमान की कृत्रिम बाधा से मुक्त होकर' (*मैं भूत, भविष्यत् वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त, मैं विश्वप्रिया..*) हमसे इस चर्चा की अपेक्षा रखता है।

आधुनिकता के समय में उभर आई स्त्री-पुरुष संबंधों की व्याख्या के साथ-साथ स्त्री व पुरुष की अलग-अलग जीवन-दृष्टि होने के मनोवैज्ञानिक सच को भी 'उर्वशी' सामने रखती है। उर्वशी साथी को लेकर अपने आकर्षण को कुबूल करके यौनिकता का चयन करनेवाली स्त्री है। पर इस संसार में उसकी भी बंदिशें हैं, आजादी की सीमाएँ हैं। 'स्ववेश्या' के इस उदाहरण को पृथ्वी के उदाहरणों से मिलाएँ तो इसकी समकालीन व्याख्या बेहतर निकल सकती है। मलयालम में प्रकाशित 'एक यौनिक मजदूरनी-नलिनी जमीला की आत्मकथा' को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। यौनिक मजदूरनी किन संदर्भों में समाज के अधिकाधिक पुरुषों के लिए तसल्ली देने वाली 'आया' बन जाती है, इस प्रकार अपने क्लाइंट (ग्राहक) के 'परिवार' को सँभालने का सामाजिक देय पूरा करती है, इसका प्रतिपादन इस किताब में है। हम उनसे सहमत हों या नहीं, नलिनी जमीला साफ बताती है कि *'उसकी यही सच्चाई है'*। वह तीस साल के अपने कार्य के अनुभवों के आधार पर यह सिद्ध कर देती है कि प्रेम को स्त्री के पक्ष में देखने की पद्धति हमारे समाज में है ही नहीं। कम से कम उसे लोकतांत्रिक स्वरूप में देखने की रीति होती तो उर्वशी में मूल्यों की टकराहट नहीं होती। वह पुरुषों को भी नए सिरे से देखने-परखने का दम पैदा करती है।

साथ ही राजा, गृहस्थ आदि पुरुष की भूमिकाओं की चिंता 'उर्वशी' के अंतर्गत है। ये मुद्दे इस रचना के प्रासंगिक पहलू हैं जिनसे हमने मुँह मोड़कर उसे 'कामाध्यात्म' के परिसर में डाल दिया। प्रेम को 'अभिसार' या 'जारगमन' की परिभाषा में परिणत करना शत-प्रतिशत स्त्री-विरोधी रवैया था। इसके अनुकूल स्त्री यौनिकता का प्रतिपादन भी होता रहा। पर

परवर्ती अध्ययनों में इसको प्रकृति शोषण का विक्टोरियन तरीका माना जाता है। इसमें औपनिवेशिक शक्तियाँ प्रजा संरक्षण की आड़ में उपनिवेश की स्त्रियों पर निगरानी रखेंगी और उसके सामाजिक संपर्क को नियंत्रित करेंगी। अफ्रीकी राज्यों में यह 'रेशियल मिक्सिंग' को रोकने का वर्चस्ववादी तरीका है। सत्ता और प्रशासन के माध्यमों से यह प्रचार किया जाता है कि स्त्री अपनी यौनता को मत दिखाएँ, यह शुचिता से युक्त स्त्रियों का लक्षण नहीं है। भारत में हिन्दू प्रचारकों के माध्यम से यह बात आज भी फैलायी जा रही है। उनके अनुसार स्त्रीत्व की परिभाषा शक्ति में नहीं, पवित्रता में है! क्योंकि उनके पास यह विवशता है कि 'कुलवनिता, परिणीता' के अभाव में कोई भी पुंस-यज्ञ पूरा नहीं होगा (निपुणिका का कथन : *यज्ञ न होगा पूर्ण बिना कुलवनिता, परिणीता के*)। पर राजपत्नी के सीमित दायरे में पलती हुई औशीनरी पुरुषत्व के इस अधूरे नाटक को समझती है। औशीनरी का वक्तव्य है:

किंतु, बंध को तोड़ ज्वार नारी में जब जगता है,
तब तक नर का प्रेम शिथिल, प्रशमित होने लगता है।
पुरुष चूमता हमें अर्द्ध-निद्रा में हमको पाकर,
पर, हो जाता विमुख प्रेम के जग में, हमें जगाकर।

अपनी भीरुता व मौन पर खुद उसे शिकायत और शर्म आती है (औशीनरी कहती है : *और हाय, तब भी मैं केवल त्रिया, भीरु नारी हूँ*); फिर भी वह परंपरागत सामाजिक ढाँचे से ऊपर उठ नहीं पाती। दिनकर ने स्त्रीत्व की इस परंपरागत स्वरूप की स्थिति को सुकन्या के माध्यम से 'अति दुरन्त और दुस्सह' कहा है। उसे सांत्वना देने हेतु परंपरागत विनिर्मित कारणों को ही दुहराया है। पर अपने अनुभव के आधार पर औशीनरी उस पर व्यंग्य करती है : *नारी का स्वर्णिम भविष्य, जाने वह अभी कहाँ है!* उर्वशी में स्टीरियोटाइप्ड राजा, राजपत्नी, महामात्य, ऋषिपत्नी आदि के उदाहरण हैं तो इन्हीं के पुराने मानकों पर सवाल करने वाली वेश्याएँ, सखियाँ, सेविकाएँ भी हैं। इन सबके समन्वय से ही उर्वशी की सच्चाई को देखना चाहिए। 'उर्वशी' की वेश्याएँ और सेविकाएँ अनपढ़ व 'अन्य' जरूर हैं; मगर अनुत्तर या अवाक् नहीं। जीवन, दर्शन, प्रेम, दांपत्य, राजत्व आदि सभी विषयों पर उनकी राय है, वे खुलकर इन्हें प्रकट भी करती हैं। पुरूरवा, महर्षि च्यवन, महामात्य, विश्वमना आदि वरेण्य पात्रों की तुलना में सहजन्या, रंभा, मेनका, चित्रलेखा, निपुणिका, मदनिका, अपाला आदि स्वतंत्र व भरोसेमंद रूप में बोलती हैं और इनकी आवाज में जीवन व जगत को जानने का आत्मविश्वास है। अपने चारों ओर के सभी विषयों पर इनके विचार हैं। इस तरह 'उर्वशी' पर 'वरेण्य' प्रेम की रचना होने का आरोप मिट सकता है। यौनिकता को लेकर भारत के मध्यवर्ग की कपटताओं के वाचन में और उनकी धारणाओं में सम्मिलित औपनिवेशी लीक को अभिहित करने में इस तरह 'उर्वशी' के विचार सहायक बन जाते हैं।

जनप्रिय संस्कृति में भाषा की भी अहमियत है, पर उसके साथ यह भी देखा जाता है कि विषय का प्रतिपादन किस दृष्टि से हुआ है। उर्वशी के आख्यान की एक महिमा यह भी है कि उसमें स्त्री पात्र अधिकाधिक बोलती हैं। यौनिकता हो या आध्यात्मिकता, स्त्री के बयानों का स्थान है। उसमें भी नौकरानियों व सखियों के संवादों का अहम स्थान है। अनेक पंक्तियाँ गद्ययुग के सुकुमार कथनों के अच्छे उदाहरण भी हैं। प्रचार-प्रसार के अनुरूप गद्य-भाषा का पद्यमय उपयोग 'उर्वशी' की लोकबद्धता का कारण बन गया है। खुली और प्रवाहमान भाषा में गाने की सुविधा है। खूबसूरत खड़ीबोली, काव्यपाठ की प्रवाहमयता व रेडियो प्रसारण की खूबियों ने इस रचना को जनता की रचना बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तो इसमें बौखलाने-असूया जताने की बातें स्वाभाविक ही बन जाती हैं। हिन्दी कविता के इतिहास में बच्चन की रचनाओं के बाद जनता में खड़ीबोली काव्य-स्वरूप के प्रचार-प्रसार में दिनकर का योगदान प्रमुख है। प्रवाहमयता पर नजर डालने से यह तथ्य भी सामने आता है कि दिनकर उर्दू-काव्य से प्रभावित रहे थे (मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं कि *दिनकर में हाली, चकबस्त और इकबाल की तेजस्विता और ऐहिकता जगमगा उठती है*)। रचना की प्रसिद्धि में भाषा की लोकरंजकता का तत्व आज भी महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए भारत की आजादी की साठवीं वर्षगाँठ पर किए गए सर्वेक्षण में यह पूछा गया कि भारत की जनता सबसे गौरवशाली फिल्म किसे मानती है? बुद्धिजीवी निर्णायकों ने 'पाथेर पांचाली' को बता दिया तो जनता ने वोट दिया 'मदर इंडिया' को। हो गया वर्डिक्ट। यह हमारी सच्चाई है कि जन-जन तक पहुँचने के लिए 'वैचारिकता' से बढ़ कर संवेदना का कार्यान्वयन और समन्वयात्मक मनोरंजन की जरूरत है।

'उर्वशी' की महानता के कारणों पर बोलते हुए हमें उस पर उत्पन्न 'वाद-विवादों' के ऐतिहासिक कारणों पर भी देखना चाहिए। वे विवाद समय, काल व जीवन के मानकों से व्युत्पन्न थे। इसे कालजयी रचना रखने के पीछे उन विवादों का बहुत बड़ा योगदान है। इसलिए उन्हें सकारात्मक मानना और कृति के साथ रखना मुनासिब लगता है। मध्ययुग की आजादी की परिकल्पना आधुनिक युग में आकर राजनीतिक तरीका बन गई है। मानें या नकारें, इस रचना की सच्चाइयाँ हमारे सामने हँसती हैं। प्रेम राजनीतिक कार्य है। यह देखना जरूरी है कि एक रचना के रूप में 'उर्वशी' किसको संबोधित करती है। रेडियो संप्रेषण के रूप में लिखे जाने से इसका उत्तर पहले ही साफ हो गया था। 'बहुजन' इसका लक्ष्य था। प्रेम के क्रान्तिकारी स्वरूप को जन-सामान्य की भाषा में प्रयुक्त करने के कारण 'उर्वशी' में भी दिनकर का कवित्व क्रान्तिकारी बन जाता है। वे हमें इसकी याद दिलाते रहते हैं कि आबोहवा के भिन्न होने पर प्रकृति नहीं मिटती। समय के आने पर, वह अपनी तीव्रता अलग-अलग ढंग से ही सही, दिखाती जरूर है।

हाउस नं. 9-971, कालड़ी- 683 574, केरल

दिनकर : झलकियाँ

जिनारानी दत्ता भुयाँ

आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय विचारधारा के पोषक और सामाजिक चेतना के गायक दिनकर उन कवियों में से हैं जो बिना किसी 'वाद' में बँधे, जन-जागरण का शंख फूँकने में अग्रसर रहे हैं।

दिनकर जी ने बाल्यावस्था से ही साहित्य रचना आरम्भ कर दी थी। इन्होंने अनेक ग्राम्य गीत भी लिखे थे। दिनकर जी आजीवन साहित्य-साधनारत रहे। इन्हें 'उर्वशी' महाकाव्य पर हिन्दी साहित्य का सर्वोच्च पुरस्कार ज्ञानपीठ प्राप्त हुआ। इस बीच इन्होंने पद्य और गद्य में अनेक रचनाएँ हिन्दी-संसार को प्रदान कीं।

दिनकर की काव्य-कृतियाँ इस प्रकार हैं: रेणुका, हुंकार, द्वंद्वगीत, रसवंती, सामधेनी, कुरुक्षेत्र, बापू, धूप और धुआँ, रश्मिरथी, नील कुसुम, नये सुभाषित, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा, हारे को हरिनाम, संचयिता एवं रश्मिलोक आदि।

दिनकर की गद्य कृतियाँ हैं: मिट्टी की ओर, अर्द्धनारीश्वर, संस्कृति के चार अध्याय, शुद्ध कविता की खोज, रेती के फूल, उजली आग, काव्य की भूमिका; प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण, लोकदेव नेहरू एवं हे राम आदि।

हिन्दी-संसार में दिनकर की ख्याति प्रधानतः कवि के रूप में है। हालाँकि इन्होंने अपनी किशोरावस्था अर्थात् सन् 1922 से काव्य रचना आरम्भ कर दी थी; किन्तु प्रकाशन की दृष्टि से ये सन् 1929 ई. में पहली बार 'प्रणभंग' के साथ काव्य-मंच पर अवतरित हुए। 'रेणुका' इनकी उल्लेखनीय काव्य-कृति है। 'हुंकार' में इनकी वाणी ओजपूर्ण हो गई है। 'रसवंती' को छायावादी काव्य-धारा में ही घुलमिल जाने वाली एक सरस तरंग कहा जा सकता है। इसकी रचना के समय दिनकर की मान्यता यह थी कि, 'कवि के नाते इसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी कोमल भावनाओं की कैद में हत्या नहीं करे'। 'सामधेनी' में विविध विषय-परक स्फुट कविताओं का संग्रह है। 'कुरुक्षेत्र' द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखित और महाभारत की युद्ध-घटना पर आधारित एक प्रबंध है जिसमें कवि ने प्रश्न उठाया है कि आखिर नरसंहारक युद्धों का उत्तरदायी कौन है? 'बापू' काव्य के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें महात्मा गांधी की प्रशस्ति है। 'धूप और धुआँ' में संग्रहीत कविताएँ विभिन्न सामयिक विषयों से संबंधित हैं। 'धूप' यदि स्वराज्य-प्राप्ति के हर्ष का प्रतीक है तो 'धुआँ' विभिन्न शंकाओं और जन-साधारण के जीवन में व्याप्त असन्तोष का परिचायक। 'रश्मिरथी' दानवीर कर्ण के चरित्र पर आधारित एक प्रबन्धकाव्य है। दिनकर के अपने शब्दों में कर्ण चरित्र का उद्धार, एक तरह से नई मानवता की स्थापना का ही प्रयास है।

'उर्वशी' दिनकर जी का एक समस्या-प्रधान महाकाव्य है। यहाँ इनके समक्ष सबसे बड़ी समस्या है- काम अथवा प्रेम की समस्या और दर्शन तथा मनोविज्ञान के द्वारा इस समस्या का उद्घाटन। और शायद 'उर्वशी' के कवि का यही उद्देश्य भी रहा है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' एक वीर-भावनापरक काव्य है, जिसकी रचना भारत पर चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण की पृष्ठभूमि में हुई थी। इसमें कवि की राष्ट्र-रक्षा की चेतना और शौर्य दर्प को जागृत करने वाली ओजपूर्ण वाणी सुनाई देती है। 'हारे को हरिनाम' शीर्षक रचना दिनकर के जीवन के अन्तिम पड़ाव की सूचक है।

दिनकर के काव्य की भाव-धारा विविधोन्मुखी है। उसमें जीवन के विविध पक्षों को अभिव्यक्ति मिली है। इन्होंने आत्मविश्वास, आशावाद, कर्मठता एवं समाजव्यापी सामयिक प्रश्नों के प्रति अपना दृष्टिकोण अनेक कविताओं में व्यक्त किया है। इनकी मुख्य विशेषता यथार्थ-कथन, दृढ़तापूर्वक अपनी आस्था की स्थापना और अस्वीकार्य को चुनौती देना है।

दिनकर छायावादोत्तर-काल के उन कवियों में से हैं जो छायावाद के कल्पनाजन्य निर्विकार मानव के खोखलेपन से

परिचित हो चुके थे। अतः हिन्दी काव्य-जगत् पर छाये छायावादी कुहासे को काटने वाली शक्तियों में दिनकर जी की प्रवाहमयी ओजस्विनी कविता का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इनके अपने शब्दों में *'सोशलिस्ट ही हूँ लेकिन कुछ जरा अधिक देशी हूँ।'* इसी प्रकार ये गांधीवादी अवश्य हैं परन्तु शक्तिविहीन विनम्रता की शान्ति इन्हें स्वीकार्य नहीं। इस प्रकार दिनकर के काव्य व्यक्तित्व का विकास प्रमुखतः राष्ट्रवादी के रूप में हुआ है। इनका समस्त देशवासियों के नाम यही सन्देश है कि-

स्वातंत्र्य जाति की लगन व्यक्ति की धुन है,
बाहरी वस्तु यह नहीं, भीतरी गुण है।
नत हुए बिना जो अशनि-घात सहती है,
स्वाधीन जगत् में वही जाति रहती है।
वीरत्व छोड़ पर का मत चरण गहो रे!
जो पड़े आन खुद ही सब आग सहो रे!

कवि की गांधीजी के प्रति श्रद्धा इन शब्दों में व्यक्त हुई है:

सारे सम्बल के तीन खण्ड,
दो बसन एक सूखी लकड़ी,
सारी सेनाओं की प्रतीक,
पीछे चलने वाली बकरी।

दिनकर कोरी सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा व्यावहारिक कर्मठता पर अधिक बल देते हैं। इन्हें शिकायत है कि -

भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान,
बुद्ध हों कि अशोक, गांधी हों कि ईशु महान,
सिर झुका सबको, सभी को श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुःख दाह,
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।

मानव की मानव के प्रति उपेक्षा और भेद-भाव की विभीषिका का चित्रण करते हुए इन्होंने लिखा है:

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।

नवयुग के नवविकास की आकांक्षा रखते हुए दिनकर को अतीत के प्रति आस्था है। इन्हें इतिहास से गहरा मोह है। इनके अधिकांश प्रबन्धकाव्यों के कथानक ऐतिहासिक हैं, इनका कथन है:

प्रिय दर्शन इतिहास कंठ में,
आज ध्वनित हो काव्य बने।
वर्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने।

दिनकर जी ने जहाँ सामाजिकता और मानवता के गीत गाए हैं, वहीं मानव मन की मूलभूत प्रवृत्ति *प्रेम* या *काम* की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। यौवन के उन्माद और शृंगार के आह्लाद की इनके अनेक गीतों में सरस अभिव्यक्ति हुई है-

पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु मकरन्द
तृषा प्राणों की पर हे देवि!
एक पल को न सकी हो बन्द।

इसी प्रकार-

दाह मात्र ही नहीं, प्रेम होता है अमृत-शिखा भी,
नारी जब देखती पुरुष को इच्छा भरे नयन से,
नहीं जगाता है केवल उद्वेलन, अनल, रुधिर में,
मन में कान्त कवि को भी जन्म दिया करती है।

किन्तु यह प्रवृत्ति दिनकर के काव्य की सर्वथा गौण प्रवृत्ति है; प्रमुखता राष्ट्रीय और मानवीय चेतना की ही है।

दिनकर के काव्य का कलापक्ष भी इनके भावपक्ष की भाँति विविध प्रयोगों से समन्वित है। इन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों शैलियों में काव्य रचना की है। इनकी अनेक मुक्तक कविताएँ भी वर्णनात्मक हैं। प्रचलित छन्दों के प्रयोग के अतिरिक्त दिनकर ने अतुकान्त मुक्तक छन्द का भी सफल प्रयोग किया है। उर्दू की रूबाई और नज्म-शैली को भी इन्होंने अपनाया है। एक रूबाई देखिए-

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ रहे,
जो भी चाहे, ले परस जलाशय के तल की,
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जान बूझ गंदला करते अपने जल को।

दिनकर की भाषा सरल, स्वाभाविक और व्यावहारिक है। उसमें भावाभिव्यक्ति की प्रबल क्षमता है।

आधुनिक युग के सभी कवियों की तुलना में दिनकर की काव्य भाषा में ही यह विशिष्टता है कि उसमें माधुर्य और प्रसाद गुण के साथ-साथ ओज गुण का भी यथास्थान प्रभावी समावेश हुआ है। माधुर्य और प्रसाद के विभिन्न उदाहरण लेख में पीछे विभिन्न प्रसंगों में देखे जा सकते हैं। ओजगुण की छटा देखिए-

कह दो शंकर से आज करें,
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार,
सारे भारत में गूँज उठे,
हर-हर बम-बम का महोच्चार!

निष्कर्ष-रूप में हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार दिनकर की कविता का भाव एवं विचार-पक्ष जन-सामान्य के हृदय की धड़कन को वाणी देने वाला है, उसी प्रकार इनकी भाषा-शैली भी सहज-सुबोध है। अतः ये जनकवि जैसी गौरवमयी उपाधि के भी अधिकारी हैं।

प्रखर चिंतक, महान विचारक, विख्यात गद्य-लेखक और क्रांत-कवि दिनकर का देहान्त 24 अप्रैल 1974 को हृदय-गति रुक जाने से हुआ। इससे प्राचीन सभ्यताओं के धनी राष्ट्र भारत को गंभीर आघात लगा।

कृष्णा नगर, ओल्ड अमूलापट्टी (गनकपट्टी)
पोस्ट : सिबसागर, जिला : सिबसागर, असम - 785640

उर्वशी : अतीन्द्रिय जगत का संस्पर्श

डॉ. मृदुल जोशी

'उर्वशी' रामधारी सिंह 'दिनकर' कृत एक सफल और उत्कृष्ट रचना है। यह इतनी महत्वपूर्ण है कि विद्वान आलोचकों और कवियों के मध्य सदा चर्चा का विषय रही है। भगवतशरण उपाध्याय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, अज्ञेय, देवीशंकर अवस्थी, रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल और नामवर सिंह सदृश मूर्धन्य आलोचकों और कवियों ने समय-समय पर इस कृति के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण रखे हैं। रामविलास शर्मा 'उर्वशी' को एक उदात्त काव्य-कृति मानते हैं, जहाँ कवि ने जीवन-सम्बन्धी अनेक प्रश्न उठाये हैं। मुक्तिबोध इसे एक 'कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य' मानते हैं। उनके अनुसार उर्वशी में कवि दिनकर 'कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना उतराना चाहते हैं; साथ ही इस गतिविधि में सांस्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर उस श्रेष्ठत्व को प्रतिपादित करना चाहते है।' स्पष्टतः दोनों की आलोचना की कसौटियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

कवि की कोई भी कृति एक सुचिन्तित विचारधारा की अनुगामिनी होती है। किसी भी 'प्लॉट' पर सोचते हुए उसकी दृष्टि बिल्कुल साफ होती है कि वह चयनित विषय पर क्यों लिख रहा है, क्या लिख रहा है और क्या देना चाहता है? उर्वशी स्पष्टतः एक बहुश्रुत, बहुपठित प्रणयकथा का ही रूपान्तरण है लेकिन इस शृंगार-कथा के पीछे एक 'दर्शन' भी छिपा हुआ है। दिनकर के ही शब्दों में-*"इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है। देश और काल की सीमा से बाहर निकलने का एक मार्ग योग है, किन्तु, उसकी दूसरी राह नर-नारी-प्रेम के भीतर से भी निकलती है, मनुष्य का यह अनुमान अत्यन्त प्राचीन है। तंत्र-साधना के मूल में ऐसा कोई न कोई विश्वास रहा होगा; सहजमार्गियों के मन में कोई न कोई भावना काम करती होगी।... प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है, जो समाधि से मिलती-जुलती है। जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन, स्वभाव से ही, ऊर्ध्वगामी और उड्डयनशील है, उसे काम के स्पर्श मात्र से इस समाधि का बोध होता है।"*

मध्य युग में वैष्णव धर्म में सहजिया संप्रदाय नाम की एक शाखा पैदा हो गई। इस संप्रदाय की स्पष्ट मान्यता थी कि विधि और निषेध दोनों ही अप्राकृतिक हैं। जीवन की वास्तविकता विधि-निषेध से परे सहज मार्ग में है, जिससे परम सुख या महासुख प्राप्त होता है। दिनकर ने इस दृष्टिकोण को न केवल चिंतन की शृंखला के रूप में स्वीकार किया है, बल्कि स्पष्ट रूप में राग ओर विराग के अतिरेक को सहजता का द्रोही कहकर इसकी निन्दा की है।

उर्वशी देह से देहातीत होने की कथा है, फिजिकल से मेटाफिजिकल तक पहुँचने तथा भोग से योग तक की यात्रा है। यह काम द्वारा अध्यात्म के धरातल के संस्पर्श की गाथा है। वाममार्गी, कौलमार्गियों ने भोग में रहकर भी योगानुभूति का उद्घोष किया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक 'नाथ-सम्प्रदाय' में रुद्रयामल के-

यत्रास्ति भोगो न तु तत्र योगो,
यत्रास्ति मोक्षो न तु तत्र भोगः।
श्री सुन्दरी साधक पुंगवानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

श्लोक को उद्धृत करते हुए कौलमार्गीय दृष्टिकोण

को प्रस्तुत किया है। इनका रास्ता सहज है, योगियों का दुरूह। श्रीसुन्दरी साधना के व्रती पुरुषों को योग और भोग दोनों प्राप्त होते हैं। पुरूरवा इसी मत का अनुयायी जान पड़ता है। ओशो के 'सम्भोग से समाधि तक' में भी देह से देहातीत हो जाने की कल्पना को समर्थन मिला है। 'उर्वशी' के माध्यम से भी कवि कुछ ऐसी ही अभिव्यक्ति देना चाहता है जहाँ भोग से योग, द्वन्द्व से द्वन्द्वातीत अवस्था तक पहुँचने की पुष्टि है। दिनकर ने 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान' में लिखा है कि *प्रेम का प्रारम्भ और भौतिकता में और परिपाक अध्यात्म है। प्रेम पहले फिजिकल और तब मेटाफिजिकल होता है।*

काम को भारतीय चिन्तन में पुरुषार्थ चतुष्टय में स्थान दिया गया है। हमारे पूर्वजों ने जहाँ धर्म, अर्थ और मोक्ष की साधना को आवश्यक घोषित किया, वहाँ काम की साधना या सिद्धि भी आवश्यक मानी। वृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष (ईश्वर) को *'काममय एवायं पुरुषः'* कहकर काममय स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में सृष्टि-रचना के मूल में भी काम को स्वीकारा गया। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मन में बीज रूप में पूर्व से ही काम विद्यमान था-

कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स तो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।।

इसी प्रकार शिवपुराण, मनुस्मृति, कामसूत्र, पद्मपुराण, नारदभक्तिसूत्र, रामचरितमानस इत्यादि में काम की महत्ता असंदिग्ध बतायी गयी है। स्वयं दिनकर ने भी स्वीकारा है-

"हीन केवल वही नहीं है, जिसने धर्म और काम को छोड़कर केवल अर्थ को पकड़ा है; न्यायतः उकठा काठ तो उस साधक को भी कहना चाहिए, जो धर्म-सिद्धि के प्रयास में अर्थ और काम दोनों से युद्ध कर रहा है।" एक सन्तुलित जीवन में धर्म, अर्थ, काम, तीनों की ही उपयोगिता है। गीता में एक स्थल पर काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बताकर उसे त्याज्य बताया गया वहीं दूसरे स्थल पर कृष्ण कहते हैं- 'प्राणी मात्र में जो काम धर्म के अनुकूल है, वही मैं हूँ।' इससे सिद्ध होता है कि जो काम धर्म-विरुद्ध है वही नरक का द्वार है जबकि धर्मानुकूल काम अध्यात्म में बाधक नहीं है। यदि हम प्रकृति व अध्यात्म में विरोध न मानकर विचारें तो काम अध्यात्म का विरोधी दृष्टिगोचर न होगा। 'उर्वशी' की भूमिका में दिनकर ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है-

तत्पाणिस्पर्शसौख्यं परमनुभवति सच्चिदानन्दरूपम्
तत्रासीत् वाणभिन्ना रमणरतिपतेः योगनिद्रां गतेव।

पाश्चात्य जगत् के विद्वान फ्रायड, फ्राउस्ट व हेनरी बेंजामिन ने भी काम को जीवन की प्रमुखतम प्रेरक शक्ति माना है।

इस सृष्टि का रचयिता सर्वशक्तिमान ईश्वर है। इस संसार में न कोई पुरुष है और न कोई नारी, बल्कि दोनों एक ही सत्ता के प्रतिमान हैं। संसार उसी का प्रतिरूप है। ईश्वर और प्रकृति दो विरोधी सत्ताएँ न होकर एक-दूसरी की सहायक हैं। मनुष्य के जीवन में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों में से अर्थ और काम उसके जैव धरातल पर स्थित रहते हैं जबकि धर्म आत्मिक धरातल पर आसीन होता है। बुद्धि दोनों धरातलों का स्पर्श करती है। अर्थात् बुद्धि एक ओर धार्मिक-क्रियाओं में भी प्रेरणा देती है और दूसरी ओर अर्थ और काम के व्यापारों में भी सहयोग देती है। इन तीनों पुरुषार्थो में से आर्थिक व्यापारों में उसका जितना सहयोग रहता है, उतना शेष दो में नहीं।

धर्म की प्रसूति आत्मिक धरातल से ही होती है तथापि उसकी सार्थकता इसी में है कि वह जैव धरातल पर आकर हमारे जीवन की समस्त सहज आवश्यकताओं के उपार्जन एवं ग्रहण में हमारे आचरणों, क्रियाओं तथा व्यापारों को प्रभावित कर उनमें औदात्य का उज्ज्वल रंग भर दे। इसी प्रकार कला, सुरुचि, सौन्दर्य, ज्ञान तथा प्रेम की उद्भूति जैव धरातल पर होती है, परन्तु उसकी सार्थकता तभी है, जब वे ऊपर उठकर आत्मा के धरातल का स्पर्श करें। दिनकर समूचे काव्य में इसी मान्यता को लेकर चले हैं।

'उर्वशी' का प्रारम्भ तो स्पष्टतः लौकिक प्रेम के रूप में हुआ है, जहाँ किसी भी प्रकार की उदात्त भावना नहीं, केवल वासना की गन्ध है। यही वह अवस्था है जब पुरुष समस्त पुरुषार्थ के रहते भी नारी के आगे घुटने टेक देता है। यही नहीं, स्त्री का आकर्षण तो इतना दुर्निवार है कि संन्यासी हो या गृहस्थ, कोई भी उससे बच नहीं पाया है। यह उस प्रेम का चित्रण है, जो एकांत शारीरिक होता है, जिसमें केवल शारीरिक क्षुधा का स्पन्दन होता है। यह प्रेम की प्रथम अवस्था है। दिनकर प्रेम की इस अवस्था को तो स्वीकारते हैं लेकिन यहीं प्रेम की इति नहीं मानते।

'उर्वशी' के आधार पर प्रेम को तीन रूपों में विभक्त कर सकते हैं- दानवी, दैवी और मानवी। दानवी प्रेम या उत्कट वासना का रूप हमें उस दैत्य में दृष्टिगोचर होता है जो कुबेर-भवन से लौटती हुई उर्वशी का बलात् अपहरण कर ले जाता है। प्रेम का यह रूप पाप है, जिसमें मन की ही पतित अवस्था कामासक्त हो बलात्कार के लिये प्रेरित करती है। प्रस्तुत गीति-नाट्य की नायिका उर्वशी अनुपम सुन्दरी है। पुरूरवा उसके अप्रतिम रूप-लावण्य को देखकर ही उस पर आसक्त हुए हैं। सुरपुर की अप्सरा उर्वशी दैहिक प्रेम की इच्छुक है। पुरूरवा एक अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त मनुष्य है। शारीरिक क्षुधा उसे पीड़ित तो करती है लेकिन वह इससे कहीं दूर अतीन्द्रिय लक्ष्य का भी इच्छुक है। इसीलिए तो राजा पुरूरवा की अन्यमनस्कता उर्वशी को भयभीत कर देती है। उर्वशी तो अविरल आलिंगन, चुम्बन, दर्शन-स्पर्शन की अभिलाषिणी है। उसका विश्वास है कि पुरुष-प्रकृति में कोई भेद नहीं है तथा मनुष्य प्रकृति का अंग है, अतः भगवान है। उससे प्रेम करना इस प्रकार ईश्वर से प्रेम करना सिद्ध होता है। यही उदात्त प्रेम मनुष्य के जीवन का उन्नायक है।

पुरूरवा का भौतिक प्रेम उसे आध्यात्मिक जगत में पहुँचा देता है। सम्भवतः उसमें काम का वह रूप था जो ईश्वर

की ओर उन्मुख करता है। वह नर और नारी को एक ही मूल सत्ता का प्रतिमान समझने लगता है। पर वह यह भी मानता है कि प्रेम उसकी ऊर्ध्व प्रगति में बाधक भी है व साधक भी। इसीलिए वह देह का अतिक्रमण करना चाहता है।

वस्तुतः पुरूरवा आत्मसाक्षात्कार की ही इच्छा रख रहा है। वह नाम व रूप से परे अपने वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता है। नायिका उर्वशी दार्शनिक के रूप में यह बताने की चेष्टा करती है कि मनुष्य को विधि-निषेध से परे निष्काम कर्म करना चाहिए। अधिक मनन-चिन्तन तो खिन्नता का कारण है। काम तो धर्म है। यह तो पाप रूप तब होता है जब आसक्त मन विकारपूर्ण हो जाता है। सहजाकर्षण से मिलने वाले प्रेमियों का काम पाप नहीं। मनुष्य प्रकृति का अंग है व प्रकृति परमेश्वर से भिन्न नहीं है। पुरूरवा संशयग्रस्त है लेकिन उर्वशी की दृष्टि बिल्कुल साफ है। वह प्रकृति को ईश्वर-प्राप्ति में बाधा नहीं मानती। वह तो प्रकृति को ईश्वर का ही प्रतिरूप मानती है। द्वंद्व झेलते-झेलते पुरूरवा भी अब स्पष्ट समझने लगा है कि ईश्वर रचित सृष्टि में प्रकृति के आकर्षण से निकलना आसान नहीं है क्योंकि यह तो उसी की इच्छा का प्रसार है। यहाँ पुरूरवा 'गीता' के इस श्लोक के बहुत नजदीक है-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूभनि मायया।

स्पष्टतः पुरूरवा इस तथ्य को भी समझ रहा है कि सृष्टि का निर्माण ईश्वर की इच्छा 'एकोऽहम् बहुस्याम्' के आधार पर हुआ है। उसी एक रूप का प्रसार स्त्री-पुरुष के अनेक रूपों में है। उसी की इच्छा मात्र से सृष्टि का चक्र चल रहा है। उसी की इच्छा के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष का परस्पर दुर्निवार आकर्षण सृष्टि की निरन्तरता का कारण बना है। यहाँ दिनकर कामायनीकार के विचारों के बहुत नजदीक जा बैठते हैं। कामायनीकार ने भी काम को सृष्टि का मूल कारण स्वीकारते हुए इसे महाचिति की इच्छा का परिणाम माना है।

उर्वशी का स्पष्ट मानना है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए संसार से भागने की आवश्यकता नहीं। नैसर्गिक वृत्तियों का दमन कर अध्यात्म कदापि प्राप्त नहीं होगा। उर्वशी संभवतः राजा जनक के अधिक निकट है जहाँ वे *'जोग भोग महँ राखेउ गोऊ'* को सार्थक सिद्ध करते हुए भोग में भी निर्लिप्त बने हैं। *'शरीर माध्यम खलु धर्म साधनम्'* के समान ही दिनकर भी शरीर को अध्यात्म में जाने का माध्यम मात्र मानते हैं। लेकिन जिस तरह से साधन साध्य नहीं हो जाता ठीक उसी प्रकार यह यात्रा केवल शरीर पर ही समाप्त नहीं हो जाती। उनका लक्ष्य तो शरीर के द्वारा एकाग्र मन की उस स्थिति तक पहुँचना है जहाँ अव्यक्त का साक्षात्कार होता है। दैहिक प्रेम से गुजरकर वायवीय प्रेम अथवा अलौकिक प्रेम तक पहुँचना ही उनका लक्ष्य है। यह स्थूल से होकर सूक्ष्म तक पहुँचने की यात्रा है। ईश्वर तक पहुँचने की यह राह शरीर से गुजरती है। वैसे तो किसी भी स्थिति में शरीर को नकारा नहीं जा सकता। डॉ. कुमार विमल ने इसी अवस्था को 'वासना से दर्शन' तक की यात्रा माना है। दिनकर ने पुरूरवा को शनैः शनैः दिव्य लोक का विहारकर्त्ता बनाया है। उदात्त प्रेम की स्थिति में प्रेमी का मन अनासक्त होने लगता है। उसका हृदय पुकार उठता है कि नारी का दैहिक सौन्दर्य केवल भोग की वस्तु नहीं है। उद्दीपन की प्रक्रिया प्रेमी को प्रिया की गोद में तो पहुँचाती है लेकिन आत्मिक पिपासा, विकलता उसे ऊर्ध्वगमन हेतु प्रेरित करती है। प्रेमी मन की दशा विचित्र है। कभी वह प्रेयसी की रूप-विभा में विराट् विभा (ब्रह्म) का दर्शन करता है, तो कभी प्रकृति में साकार उस विराट् विभा की अनुपम छटा के अंश को रमणी के लावण्य में निहारता है। इस प्रक्रिया में कभी वह सांसारिक प्रेम से ओत-प्रोत होता है तो कभी इसके सहारे ईश्वरीय प्रेम तक पहुँच जाता है। उर्वशी अद्वैत को स्वीकारती है, परन्तु प्रकृति को माया-मृषा न मानकर सत् मानती है। प्रकृति माया नहीं, माया तो भ्रान्त बुद्धि है जो मानव को द्विधाग्रस्त रखती है। निःसन्देह द्वैतभाव मन की कृति है, प्रकृति में कहीं भी द्वैत नहीं है। यहाँ उर्वशी *'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धन मोक्षयोः'* का उद्घोष करती प्रतीत होती है। मन में बसे राग-विराग शान्ति-समता में बाधक हैं, अतः आत्मा को दोनों से विमुक्त रहना ही उचित है। हम सब अकालुष प्रमोद के इच्छुक हैं, परन्तु आनन्द निरामय है, वह स्वतः उद्भूत होता है। उर्वशी यही तो पुरूरवा को समझाना चाहती है कि ईश्वरीय आनंद स्वयं से ही उद्भूत होगा, उसके लिए बेचैन होकर भटकना कदापि उचित नहीं है।

वास्तव में अकाम आनन्द उन्हीं को प्राप्त होता है जो सुखों को निमन्त्रित नहीं करते और न दुःखागमन पर दृष्टि डालते हैं। यहाँ दिनकर की दृष्टि 'गीता' के *'सुखे-दुःखे समे कृत्वा'* के समकक्ष जा बैठी है। जब व्यक्ति राग-विराग, सुख-दुख, मान-अपमान, हानि-लाभ से परे कामनाशून्य हो जाता है, ईश्वरीय आनन्द उसकी झोली में आ गिरता है। कर्मठ बनकर प्रकृति में रमना ईश्वर में रमना है। आसक्तिमय काम पाप व निरासक्तिमय काम पुण्य है; अध्यात्म है।

यदि हमें परमात्मा तक पहुँचना है तो प्रेम (काम) का आनन्द लेना चाहिये क्योंकि पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिन्तन भी। 'उर्वशी' की चित्रलेखा भी यही कहती है।

यह प्रेम मांसल धरातल का परित्याग कर कुछ उच्च भावनाओं की परिधि में आ जाता है तो वायवीय हो जाता है। केवल शरीर ही आकर्षण का कारण न रहकर, भावना प्रबल हो उठती है। इससे अलौकिक प्रेम का दर्शन हो सकता है। 'गीता' में एक स्थान पर लिखा है कि जो समस्त प्राणियों की रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है- *या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी, यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतां मुनेः।* यही भाव पुरूरवा इस प्रकार प्रकट करते हैं:

निशा योग-जागृति का क्षण है और उदग्र प्रणय की
ऐकायनिक समाधि; काल के इसी गरुत के नीचे
भूमा के रस-पथिक समय का अतिक्रमण करते हैं,

योगी बँधे अपार योग में, प्रणयी आलिंगन में।

योगी ही नहीं, प्रेम की उदात्तावस्था में भोगी भी देश-काल का अतिक्रमण कर परमानन्द का आभास कर लेता है। सहजमार्गियों, तंत्रसाधकों व वाममार्गियों ने मोक्ष के द्वारा ईश-प्राप्ति की जो कल्पना की थी, वह त्रुटिपूर्ण नहीं है। केवल आसक्ति रहित हो, मनोमय कोश में पहुँचकर किया गया प्रेम ईश्वर-प्राप्ति कारक होता है। मांसल और वायवीय प्रेम का कारण देह नहीं है, मन है। देह तो यंत्र-मात्र है-

तन का क्या अपराध? यंत्र वह तो सुकुमार प्रकृति का;
सीमित उसकी शक्ति और सीमित आवश्यकता है।
यह तो मन ही है, निवास, जिसमें, समस्त विपदों का;
वही व्यग्र, व्याकुल, असीम अपनी काल्पनिक क्षुधा से
हाँक-हाँक तन को उस जल को मलिन बना देता है,
बिम्बित होती किरण अगोचर की जिस स्वच्छ सलिल में,
जिस पवित्र जल में समाधि के सहस्रार खिलते हैं।

तात्पर्य यह कि दूषित मन का अनुगन्ता शरीर पापाचार करता है परन्तु यदि मन दूषित नहीं तो जितेन्द्रिय मनुष्य शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप नहीं करता। निष्कलुष पुरूरवा तभी तो उर्वशी में अनन्त सौन्दर्य का दर्शन कर लेता है। उर्वशी भी इसका समर्थन करती है।

नारी प्रकृति रूप है। प्रकृति से डरकर, दूर भागकर परम पुरुष के दर्शन नहीं हो सकते। निष्कामतः प्रकृति भोग कर भी उसमें चिर परमसत्ता की झलक दिखायी पड़ सकती है। दिनकर के अनुसार दैहिक-मांसल प्रेम, प्रेम का प्रथम सोपान है। शारीरिक नयनों में झाँककर, देह-त्वचा का स्पर्श-सुख प्राप्त करके ही वह आत्मिक सौन्दर्य की ओर बढ़ता है। धीरे-धीरे मानसिक वृत्तियाँ उदात्त हो जाती हैं। जैव आकर्षण का विमोह हो जाता है और ऐसा आभास होता है कि इसके परे भी कुछ है जिसे प्राप्त करना हमारा ध्येय है। प्रेमी-साधक ही ऊर्ध्व लोक के इन द्वारों को खोलने में समर्थ हो सकता है। इस तथ्य को दिनकर ने अपने शब्दों में प्रकट किया है-

"नारी नर को छूकर-तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में सन्तोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती और जब वे मिलते हैं तब भी, उनके भीतर एक ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है। नारी के भीतर एक और नारी है, जो अगोचर और इन्द्रियातीत है। इस नारी का सन्धान पुरुष तब पाता है जब शरीर की धारा उछालते-उछालते उसे मन के समुद्र में फेंक देती है, जब दैहिक चेतना से परे, वह प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुँचकर निस्पन्द हो जाता है। और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है जो शरीर के धरातल पर नहीं रहता, जिससे मिलने की आकुलता में नारी अंग-संज्ञा के पार पहुँचना चाहती है। परिरम्भ-पाश में बंधे हुए प्रेमी,परस्पर एक दूसरे का अतिक्रमण करके किसी ऐसे लोक में पहुँचना चाहते हैं, जो किरणोज्ज्वल और वायवीय है। इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।"

दिनकर ने प्रेम की उदात्तीकृत स्थिति को समाधि के समकक्ष ठहराया है। यह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रसरण है, अन्नमय कोश में पहुँचकर आनन्दमय कोश की यात्रा है, मांसलता के सहारे वायवीयता का संस्पर्श है, फिजिकल से मेटाफिजिकल की उड़ान है। नर और नारी का प्रारम्भिक प्रेम सौन्दर्य और भोग के रूप में स्थापित होता है। परन्तु यही भोगवाद चिंतन का संस्पर्श पाकर अध्यात्म की भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब प्रेम ब्रह्म-सहोदर के रूप में व्यक्ति को प्रेमी से संन्यासी बना देता है। पुरूरवा इसी सन्धान में है। पुरूरवा बारम्बार अन्तिम सत्य तक पहुँचने के चिन्तन में निमग्न रहता है। उर्वशी द्वन्द्वग्रस्त पुरूरवा से स्पष्ट करती है कि ईश्वर प्राप्ति के लिए द्वन्द्वात्मक परिधि से ऊपर उठना पड़ेगा। वस्तुतः 'उर्वशी' के अनेक वाक्यों में योग के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ स्थितप्रज्ञ की-सी स्थिति दिखाई पड़ती है। हमारे शरीरावयव स्थूल ओर मृत हैं, किन्तु हमारी प्रेम-विभा सूक्ष्म और शाश्वत है।

यद्यपि गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'उर्वशी' के सन्दर्भ में 'कामाध्यात्म' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति व्यक्त करते हुए कामाध्यात्म को गोल-मटोल शब्द कह दिया है। उनका मानना है कि यदि इसका अर्थ काम और अध्यात्म के मध्य द्वन्द्व है तो स्वीकार्य है। अन्यथा इसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। लेकिन हमारी दृष्टि में पुरूरवा हो चाहे उर्वशी, स्थान-स्थान पर देह के माध्यम से अध्यात्म के शिखर पर पहुँचने की कोशिश की गई है। अतः इन्द्रियों के द्वारा अतीन्द्रिय अलौकिक सत्ता की प्राप्ति ही इसका अर्थ है।

'उर्वशी' में जिस भोग सुख के माहात्म्य की स्वीकृति है, उसे वैदिक काल से ही आर्यों ने स्वीकारा था। ऋग्वेद में काम की उपासना कामेश्वर के रूप में प्रचलित थी और उसका विकसित स्वरूप परिमार्जित भी था।

इस प्रकार 'उर्वशी' में जिस काम के माहात्म्य अथवा आनन्द का निरूपण है वह हमारी अत्यन्त प्राचीन धारणा व पाश्चात्य धारणा, दोनों के अनुकूल है। दिनकर ने चित्त की समता, विधि-निषेध की निरर्थकता और निष्काम भाव के निरूपण में 'गीता' का आधार ग्रहण किया है।

हिन्दी विभाग, गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तराखंण्ड

□

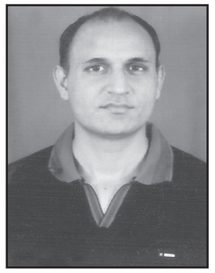

‘संस्कृति के चार अध्याय’ में कविता के स्वर

पंकज सुबीर

पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा लिखी गई ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ हो चाहे राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर द्वारा रचित ‘संस्कृति के चार अध्याय’, दोनों में ही एक बात समान है कि इन ग्रन्थों में गागर में सागर भरने का प्रयास किया गया है। भारतवर्ष के इतिहास के विभिन्न चरणों को जिस कुशलता से इन दोनों रचनाकारों ने एक ही ग्रन्थ में समाहित किया है, वह शैली चमत्कृत कर देने वाली है। यदि भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना हो तो ये दो ग्रन्थ ही काफी हैं। दोनो ही ग्रन्थ इतिहास तो बताते हैं पर इतिहास की भाषा में बात नहीं करते, उसी भाषा में बात करते हैं जिस भाषा में पढ़ने वाला जुड़ जाए।

इतिहास की शुष्क और नीरस भाषा के स्थान पर ये ग्रंथों किस्सागोई शैली को लेकर चलते हैं। दादी-नानी की कहानियाँ सुनकर बड़ा हुआ भारतीय जनमानस किस्सागोई शैली से जल्दी जुड़ जाता है। वरना इतिहास तो आम आदमी के लिए हमेशा से एक ऐसा विषय रहा है जिसमें मनोरोचक तत्वों की कमी रहती है। इन दोनों ही ग्रंथों ने आम जन मानस (इतिहास के शोधार्थियों तथा विद्यार्थियों को छोड़कर) पर जो उपकार किया है वो ये कि इन ग्रंथों ने इतिहास के मोटे-मोटे ग्रंथों की भूल-भुलैया से बचा लिया है। सभ्यता के विकास के सारे चरण (ज्ञात इतिहास से प्रारंभ करते हुए) एक ही ग्रंथ में समेटने के प्रयास में इन ग्रंथों का आकार वृहद कुछ जरूर हो गया है, किन्तु जब इन्हें पढ़ना प्रारंभ किया जाता है तो इनकी किस्सागो शैली वृहदाकार होने का एहसास नहीं होने देती है।

‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ तथा ‘संस्कृति के चार अध्याय’, इन दोनों की भाषा-शैली, विन्यास तथा उद्धरणों में स्पष्ट अंतराल दिखाई देता है। यह अंतराल वास्तव में दोनों ग्रंथों के लेखकों का अंतर है। एक लेखक जहां राजनीतिक क्षेत्र का व्यक्ति है इसलिए सारी घटनाओं के पीछे के राजनीतिक समीकरणों पर अधिक प्रकाश डालता है। वहीं दूसरा लेखक, भले ही इतिहास का विद्यार्थी रहा हो, कवि पहले है। शायद इसीलिए ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में कविता का स्वर बहुत स्पष्ट है। जैसा कि दिनकर जी स्वयं ही इसकी भूमिका में लिखते हैं, ‘इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रंथ कहता हूँ। उनकी स्वीकारोक्ति ही सारी बातों को स्पष्ट कर देती है। यह पूरा ग्रंथ कविता की भाँति चलता है; ईसा पूर्व से प्रारंभ होकर आधुनिक काल तक। ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ और इस ग्रंथ में एक और बारीक अंतर है। पंडित नेहरू ने ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ में भारत की कहानी कही है जबकि दिनकर जी ने खोज की है संस्कृति की। इस ग्रंथ में मूलतः संस्कृति, उस पर प्रभाव डालने वाले कारक और सांस्कृतिक परिवर्तन ही प्रधान हैं। जो घटनाएँ, व्यक्तित्व और उद्धरण आए हैं, वे सारे के सारे वही हैं जो हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक चेतना को प्रभावित करते हैं। चूँकि बात संस्कृति की है इसीलिए इस ग्रंथ में कविता भी मुख्य स्वर में शामिल है जो ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ में नहीं है। ऐसा इसीलिए कि वैदिक काल से लेकर उन्नीसवीं सदी तक जिन ग्रंथों को इतिहासकार अध्ययन के लिये उठाते हैं, उनमें मूल स्वर तो काव्य ही है।

कहा जाता है कि कविता वह होती है जो हमेशा विपक्ष में खड़ी होती है। कहीं न कहीं आम जनता हमेशा विपक्ष में होती है और इस विपक्ष को स्वर प्रदान करती है कविता। ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में भी ऐसा ही होता है। यह पूरा ग्रंथ विपक्ष में खड़ा हुआ है। यह विभिन्न संस्कृतियों की बात करता

है, उनके प्रभावों की बात करता है किन्तु उसके बाद तुरंत बात होती है कमजोरियों की, दुष्प्रभावों की और क्षति की। वैदिक जीवन, बौद्ध धर्म, इस्लाम, ईसाईयत इन सबकी बात तो होती है परंतु इन सभी धर्मों में शनैः शनैः आए पतन की ओर स्पष्ट इशारा किया जाता है। अपने समय और इतिहास की हर व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करने के बाद कवि वकील बन जाता है और गिन-गिन कर उन सभी अंगों की तरफ इशारा करता है जा सड़ गए हैं, बजबजा रहे हैं। दिनकर जी भी चूँकि चिरविद्रोही कवि रहे हैं, उनका राष्ट्र-प्रेम राष्ट्र से न होकर राष्ट्र की जनता से है। तभी तो 15 अगस्त 1948 को आजादी की पहली वर्षगाँठ पर ‘पहली वर्षगाँठ’ शीर्षक की अपनी कविता में वे लिखते हैं-

आजादी खादी के कुरते की एक बटन
आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई
फैशनवालों के लिए नया फैशन निकाला
मोटर में बाँधो तीन रंगवाला चिथड़ा

ऐसा कहने का साहस कोई जनकवि ही कह सकता है क्योंकि वह जनता का प्रतिनिधि होता है। उसकी प्रतिबद्धता केवल उस जनता के प्रति है जो राष्ट्र का अंग है, इसलिए वह लोकोपचार को ताक में धरकर बहुत-कुछ कह देता है।

‘संस्कृति के चार अध्याय’ का प्रारंभ ही होता है रवीन्द्र नाथ टैगोर की कविता से। ‘एई भारतेर महामानवेर सागर-तीरे’ से जब ग्रंथ शुरू होता है तो संकेत तो मिल ही जाता है कि ग्रंथ में काव्य प्रधान रहेगा। अगर लेखक स्वयं लिख भी चुका हो कि मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर निर्भर करता है, तब यह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। दिनकर प्रारंभ में ही कवि के लिए कहते हैं कि *कवि एक ही युग में जीता हुआ अपने अन्य समकालीन बन्धुओं की अपेक्षा कुछ अधिक जीवित और चैतन्य होता है। इसलिए उसे कुछ ऐसी बातें भी सुनायी दे जाती हैं जिन बातों तक औसत मनुष्य के कान नहीं पहुँच पाते। किन्तु कवि की अनुभूति जब कविता बनकर प्रकट हो जाती है तब उसके सहारे अन्य सहृदय लोग भी इस अनुभूति तक पहुँच सकते हैं।* ‘कुछ अधिक जीवित और चैतन्य’ जैसे शब्दों का उपयोग संभवतः पूरी बात कह देता है। ‘कुछ अधिक जीवित’ कहना ही संकेत देता है कि विभिन्न कालखण्डों की कविताओं में मौजूद आहटों को पकड़कर ही संस्कृति का विकास क्रम निर्धारित करने का काम कवि कर रहा है। कविताओं को इतिहास नहीं माना जा सकता लेकिन यह तो माना ही जाएगा कि यदि किसी कालखण्ड का इतिहास उपलब्ध नहीं हो, तब उस समय की कविताओं में भी संकेत ढूँढ़े जा सकते हैं। और फिर जहाँ ऋग्वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत और गीता जैसे महाकाव्यों की उपस्थिति हो, तो फिर ये संकेत और सुस्पष्ट हो जाते हैं।

पंडित जवाहरलाल नेहरू जहाँ ‘डिस्कवरी ऑफ इंडिया’ में रामायण और महाभारत की बात करते हैं और महाभारत को श्रेष्ठ निरूपित करते हैं, वहीं वे कवि की बात नहीं करते। किन्तु दिनकर जी इन दोनों महाकाव्यों की विशद विवेचना करते हैं और बात करते हैं कवि की भी, उसकी मनोदशा की भी और उसकी प्रेरणा की भी। वे कहते हैं कि रामायण और महाभारत भारतीय जाति के दो महाकाव्य हैं। पर चूँकि बात एक कवि कह रहा है इसलिये वे यह नहीं कह रहे हैं कि ये हिन्दू जाति के महाकाव्य हैं। वे ‘भारतीय जाति’ कह रहे हैं क्योंकि यह कवि ही जानता है कि कविता किसी एक जाति या धर्म की हो ही नहीं सकती। रामायण और महाभारत के संदर्भ में ‘भारतीय जाति’ का प्रयोग अपने आप में अनूठा है, वे स्वयं महाकाव्यों की उत्पत्ति पर कहते हैं कि महाकाव्यों की रचना तब संभव होती है जब संस्कृति की विशाल धाराएँ किसी संगम पर जाकर मिलने वाली होती हैं। रामायण के बारे में तो वे यहाँ तक लिखते हैं कि राम, रावण और हनुमान के विषय में पहले स्वतंत्र आख्यान काव्य प्रचलित थे और इनके संयोग से रामायण काव्य की उत्पत्ति हुई है। आदि कवि ने तीनों को जोड़कर रामायण की रचना की। आख्यान काव्यों के आधार पर वाल्मीकि ने आदि रामायण की रचना की जिसमें अयोध्या कांड से लेकर युद्ध कांड तक बारह हजार श्लोक थे। दिनकर जी के अनुसार भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के कवियों पर वाल्मीकि का गम्भीर प्रभाव पड़ा तथा आदि कवि के काव्य सरोवर का जल पीकर भारत की सभी भाषाओं ने अपने को पुष्ट किया। राम, रामायण और कवियों को लेकर दिनकर जी ने इस ग्रंथ में संभवतः सबसे अधिक चर्चा की है।

‘संस्कृति के चार अध्याय’ में दिनकर जी का कवि मन जहाँ क्रूर होकर व्यवस्था पर प्रहार करता है वह है ‘प्राचीन भारत और बाह्य विश्व’ अध्याय का प्रारंभ। *छठी शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं सदी तक इस देश ने बुद्धि के क्षेत्र में कोई बड़ा काम नहीं किया, प्रायः बारह सौ वर्ष का समय इस देश ने व्यर्थ गँवाया। भामह (छठीं शताब्दी) से लेकर हिन्दी के रीतिकाल तक इस देश में संस्कृत में जो काव्य रचना की गई वह वाल्मीकि और कालिदास की कोटि तक नहीं पहुँच सकी। उस साहित्य में हम अपने जातीय जीवन का स्पन्दन नहीं पाते। वह पच्चीकारी के सौंदर्य से खचाखच भरा हुआ जरूर है, लेकिन उसमें जीवन को आलोड़ित करने की शक्ति का पूरा अभाव है। जब जाति का हृदय सरोवर सूख जाता है, तब वह रचना को छोड़कर आलोचना में जा फँसती है। जब नई सूझें नहीं मिलतीं तब कवि और कलाकार पुरानी चीजों पर ही पच्चीकारी और नक्काशी के चमत्कार दिखाने लगते हैं। अगर साहित्य जाति के भीतर जीवन का प्रतिबिम्ब है तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सातवीं सदी से अठाहरवीं सदी तक का भारत निर्जीव देश था।*

इस निष्कर्ष पर एक कवि ही पहुँच सकता है। जनकवि की दृष्टि कहीं ज्यादा विस्तृत और समकालिक होती है, वह चाहता है कि यदि कविता लिखी जा रही है तो अपने समय की व्यवस्था के दोष उसमें उजागर हों, क्योंकि वह तो खुद भी

लिखता हैः *कलम उठी कविता लिखने को अंतस्तल में ज्वार उठा रे। सहसा नाम पकड़ कायर का पश्चिम पवन पुकार उठा रे* (वसंत के नाम) या फिर *महँगी आजादी के जीवन का एक साल, बापू को डाला मार, नमक का दाम दिया* (पहली वर्षगाँठ) या नागार्जुन की कविता *कागज की आजादी मिलती ले लो दो-दो आने में, लाल भवानी प्रकट हुई है सुना के तैलंगाने में* (लाल भवानी)। यही कविताएँ जब सदियों बाद पढ़ी जाएँगी तो इनमें अपने समय के अंधकार की पदचाप मिलेगी और वहीं से सूत्र पकड़ेंगे इतिहासकार। ये पदचापें जब दिनकर जी को उस हजार-बारह सौ वर्षों के काल खण्ड में नहीं मिलतीं तो व्यथित होकर वे कहते हैं, *वह पच्चीकारी के सौन्दर्य से खचाखच भरा है।* अंधकार हर युग में होता है, और वह कविता जो केवल अपने समय के उजियारे के प्रशस्तिगान में लगी होती है, समाज का कितना नुकसान करती है, यह उस समय के बीत जाने के बाद ही ज्ञात होता है। 'पच्चीकारी' शब्द का थोड़े से अंतराल पर ही दो बार प्रयोग कर संभवतः दिनकर जी अपने आक्रोश को पूरी शिद्दत के साथ, किसी को एक प्रतिशत भी क्षमा किये बगैर व्यक्त करना चाहते हैं।

तीसरे अध्याय के 'हिन्दू मुस्लिम संबंध' में दिनकर जी एक बार पुनः गरजते हैं और इस बार और भी अधिक तीखे शब्दों का प्रयोग करते हैंः *भारतीय इतिहास का मुस्लिम काल राजनीति-शून्यता का काल है, इस काल के सन्तों और कवियों को यह जानने की तनिक भी उत्सुकता नहीं है कि देश में राज्य किसका चल रहा है। वे हरिभजन में व्यस्त हैं और जनता में भक्ति भावना का प्रचार कर रहे हैं। जनता भी इसी धार्मिक आवेश में मग्न है। उसमें भक्ति के लिये तो उत्साह है, किन्तु, विदेशियों को भगाने की तनिक भी चिन्ता नहीं। तुलसीदास और राणा प्रताप कुछ समय के लिए समकालीन थे, किन्तु तुलसीदास ने राणा प्रताप का नाम सुना था या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। संत बड़ी आसानी से कह देते हैं 'सन्तन को कहाँ सीकरी सों काम' अथवा 'तुलसी अब का होंहिंगे नर के मनसबदार'।*

संभवतः यहाँ कवि बहुत क्षुब्ध है क्योंकि वह तो 'समय के रथ का घर्घर नाद...' जैसा कुछ चाहता है। कवि व्यथित है कि उस समय ने जनचेतन की कड़वी गोली की जगह धर्म का शहद जनता को चटाया। 'सन्तन को कहाँ सीकरी सों काम' का उद्धरण वे इसीलिए देते हैं कि कवि राजनीति में भले ही न जाए, पर राजनीति के आस पास रहे, उस पर नजर रखे क्योंकि उसे तो चिर विरोधी की भूमिका अदा करनी है। राजनीति से दूर भागने का अर्थ तो राजनीति को जनता का शोषण करने के लिए खुला छोड़ देना है। दिनकर 'सिंहासन खाली करो...' का संघर्ष चाहते हैं। वे स्वयं कहते हैं, *आजादी केवल नहीं आप अपनी सरकार बनाना है, आजादी है उसके विरुद्ध खुलकर विद्रोह मचाना भी (रोटी और स्वाधीनता)* और तभी वे कहते हैं कि 'तुलसी अब का होंहिंगे नर के मनसबदार' कहना तो वास्तव में पलायन है उन कर्तव्यों से, जो कवि होने के नाते जनता के प्रति हैं।

'हिन्दी साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव' में एक जगह वे लिखते हैं, *भावुकता हमारे साहित्य का साधारण लक्षण नहीं थी। कविता का लक्ष्य इस देश में किसी महान उद्देश्य की सेवा रहा है। यहाँ के आचार्य उसे निरुद्देश्य आनंद का साधन नहीं मानते थे।* यहाँ पर आकर दिनकर जी ने अपने विचार को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है। एक बात जो और यहीं आती है कि 'हिन्दू जन्म से विचारक एवं मुसलमान जन्म से कवि होता है', यह बात उन्होंने मुसलमानों की भावुकता को ध्यान में रखकर लिखी है। तभी वे कबीर, मीरा, बोधा, घनानन्द की भावाकुलता को इस्लाम की देन मानते हैं। वे कहते हैं 'भारतीय भावुकता कबीर के हाथों में इस्लामी भावुकता से मिलकर एक नए रंग में खुल पड़ी, जिसकी झाँकी हमें मीराबाई से लेकर महादेवी तक में मिलती है।' परंतु इस भावुकता के बारे में ही वे पुनः लिखते हैं 'इस्लाम से आई हुई भावुकता को मैं हेय नहीं वांछनीय ही मानता हूँ। उर्दू में भावुकता का पूरा साम्राज्य होने के कारण यह गुण वहाँ दुहराहट के मारे सस्ता-सा लगता है। किन्तु, भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि बौद्धिक थी...' अर्थात् वे भावुकता को स्वयं स्वीकार भी करते हैं। दिनकर जी की अपनी कविताओं में भावुकता एक प्रबल स्वर कभी नहीं रही, किन्तु वे स्वयं भी मानते हैं कि बौद्धिकता और भावुकता के सम्मिश्रण से भारतीय साहित्य का भला ही हुआ।

चौथे अध्याय के 'हिन्दू नवोत्थान' में वे एक बार पुनः गरजते हैं, 'हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निस्सार मानने लगे थे। निवृत्ति की धारा में बहते-बहते हिन्दू एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे थे जहाँ स्वाधीनता और पराधीनता में कोई भेद नहीं था। यह बड़ी ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्व भारतीय साहित्य में कोई भी लेखक या कवि ऐसा नहीं हुआ जो यह कहने का साहस करे कि यह अन्याय है और हम इस अन्याय का विरोध करने आये हैं। किन्तु उन्नीसवीं सदी के बाद से भारतीय साहित्य में क्रांतिकारी और अन्य विरोधी स्वर बड़े जोर से गूँजने लगते हैं।' दिनकर जी पलायन को पूरे ग्रंथ में खंडित करते हैं और संघर्ष को स्थापित करते हैं। अन्याय को अन्याय कहने का साहस वे कवि में चाहते हैं। चौथे अध्याय में ही दिनकर जी एक बार फिर कवि और कविता की व्याख्या करते हैं। 'ईसाई धर्म और इस्लाम' में वे जब वापस कवि की ओर मुड़ते हैंः *कविता कवि के हृदय की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की सामग्री समाज के भीतर से आती है। समाज निराकार प्रतिमा है जिसकी धड़कन कवि के कलेजे में उठती है, जिसकी शंकाएँ और विश्वास कवि के मुख से उद्गीर्ण होते हैं।* इन पंक्तियों में कवि को श्रेष्ठतम बनाने और बताने का काम दिनकर जी कर गए हैं। राजनीति, तर्क, दर्शन, इतिहास- सबको कविता के बाद वाली सीढ़ियों पर स्थान मिला है। क्योंकि ये सब कभी न कभी दूषित हो जाते हैं, असत्य के हामी हो जाते हैं, किन्तु कविता सदैव सत्य की पक्षधर होती है और इसलिए वह सदैव से विपक्ष में खड़ी होती है। वे दर्शन को भी शंका की परिधि में ले आते हैं और तर्क को भी। यहाँ पर कविता सूर्य की भाँति प्रकाशित है। और अंत में उसी चौथे अध्याय की ये पंक्तियाँ जो किसी व्याख्या की माँग भी नहीं करतींः *कवि अपने भाव आकाश से लाता है, ऐसा बेवकूफ लोग ही कहा करते हैं। कवि भी सामाजिक प्राणी होता है। अतएव उसके सारे भाव समाज के भाव होते हैं उसकी सारी शंकाएँ समाज की शंकाएँ होती हैं, अनेक आशाएँ कुलबुलाती रहती हैं, अनेक उमंगें अपनी राह टटोलती रहती हैं। कवि इन अदृश्य भावनाओं को सुन लेता है। यही उसकी विशेषता होती है। इसलिए वह समाज के विकास का अनिवार्य यंत्र समझा जाता है। जिस समाज में कवि उत्पन्न नहीं होते, वह अंधों का समाज होता है, वह बहरे लोगों का समाज होता है जो अपनी धमनी की आवाज भी नहीं सुन सकता। प्रत्येक समाज अपने कवि के आगमन की राह देखता है क्योंकि कवि ही वह यंत्र है जिससे समय के ताप की ऊँचाई अथवा निचाई मापी जाती है। जब तक कवि जन्म नहीं लेता तब तक समाज को यह पता ही नहीं चलता कि उसकी चेतना किस दिशा में और किस स्तर तक विकसित हुई है। सौभाग्यशाली है वह समाज जिसे ठीक समय पर अपना कवि मिल जाता है और सौभाग्यशाली है वह कवि जिसका समाज अंधा या बहरा नहीं होता।'*

अंतिम पृष्ठों में कही गई यह बात सब कुछ स्पष्ट कर देती है। पूरे ग्रंथ में जो छटपटाहट है वह यही है कि उस दौर का कवि विरोध क्यों नहीं करता? क्यों वह शब्दों के पत्थर काँच के महलों पर नहीं बरसाता कि उस तरफ का सब कुछ जनता को दिखाई देने लगे? क्यों वह बरबस जनता को कर्म और संघर्ष से हटा-हटा कर भक्ति की ओर ले जा रहा है? इस छटपटाहट को वे जगह-जगह पर व्यक्त करते जाते हैं। पूरे ग्रंथ में काव्य का यह स्वर पूरी गूँज के साथ विद्यमान है। दिनकर जी ने क्षमा किसी को नहीं किया है, कवि कभी भी गलत को क्षमा नहीं करता। कवि कायरता का, पलायन का महिमामंडन नहीं करता। वही तो यह कहने का साहस करता हैः

मन की उमंग पर जंजीरें,
तन ऊपर एक लँगोटी है,
आँखें गड्ढे में धँसी हुई,
हाथों में सूखी रोटी है,
यह वही आदमी है जिसकी
पीड़ाओं को आगे करके,
स्वाधीन हुए थे तुम जिसकी,
प्रतिमा जग के सम्मुख धरके... (हक की पुकार)।

पी. सी. लैब, शॉप नं. - 3,4,5; बेसमेंट, सम्राट कॉम्प्लेक्स,
नए बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मध्य-प्रदेश - 466001

□

संस्मरण

वीरनारायण शर्मा

प्रातः स्मरणीय रामधारी सिंह 'दिनकर' के दो पत्र मुझे मिले थे, परन्तु मेरे एक मित्र कहीं छपवाने के नाम से मुझसे उन्हें लौटाने की शर्त पर ले गये थे जो उन्होंने आज तक नहीं लौटाये। एक पत्र उनका रामवृक्ष बेनीपुरी के साहित्य पर शोध और संकलन के संबंध में था। दूसरा पत्र मेरे एक पत्र के उत्तर में था। जब वे भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे तब उन्होंने देश में व्याप्त भ्रष्टाचार पर 'धर्मयुग' में एक लेख सन् 1972 में लिखा था। लेख बहुत अच्छा था। लेख की प्रशंसा करते हुए मैंने उनसे निवेदन किया था कि आप भ्रष्टाचार के उन्मूलन के कुछ ठोस उपाय भी सुझावें। दिनकर जी ने उत्तर में निम्नलिखित दो पंक्तियाँ लिखकर भेजीं, जो मुझे ज्यों की त्यों याद हैं और निम्न प्रकार हैं :

करें रफू तो कहाँ-कहाँ पर,
रहा न गिरेबाँ में तार बाकी।

आज दिनकर जी हमारे बीच नहीं हैं लेकिन देश में व्याप्त भ्रष्टाचार दिनकर जी की उक्त पंक्तियों के परिप्रेक्ष्य में और अधिक भीमकाय रूप में देशवासियों के सामने खड़ा है। कितने भविष्यद्रष्टा थे दिनकर जी, और कितनी सटीक हैं उनकी उक्त पंक्तियाँ।

हिन्दी साहित्य में दिनकर जी का विशेष स्थान है। हिन्दी साहित्य के सुन्दर, सघन, सृजन उपवन के कछार में उनकी माँद से उनके सिंहनाद की गूँज की प्रतिध्वनि आज भी आकाश से सुनाई देती है जो वर्तमान संदर्भों में भी उतनी ही प्रासंगिक, सत्य और सटीक है, जितनी तब थी -

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
फिर फिरा हमें गाण्डीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।।

दिनकर जी ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में इकबाल पर बहुत कुछ लिखा है परन्तु आज जब हम उनका जन्मशताब्दी समारोह मना रहे हैं तब इकबाल की निम्नलिखित पंक्तियाँ सहसा याद आ रही हैं :

मौत को समझा है, गाफिल इख्तामे जिन्दगी,
यह है शामे जिन्दगी, सुबहे दवामे जिन्दगी।

दिनकर जी का व्यक्तित्व व कृतित्व हिन्दी साहित्य की शाश्वत निधि है जो सदा आनेवाले समय में निर्बल और अशक्त लोगों में प्राण फूँकती रहेगी।

रावजी पथ, सिरोंज (म.प्र.)- 464228

साहित्य के कुशल कृषक

सुधा

जन गण मन को प्रेरणादायक शब्दों से उत्साहित कर देने वाले राष्ट्रकवि दिनकर अपनी कृतियों के माध्यम से लोगों के हृदयों में निरन्तर बसे हुए हैं। उनकी इस उपस्थिति में इतनी सक्रियता है कि जब कभी हम अपने को श्लथ पाते हैं, तब उनकी कड़कती हुई पंक्तियाँ हमें धनुष की डोरी तान कर शर-सन्धान के लिए तैयार कर देती हैं। जब कभी हम शुष्कता से तप्त होते हैं, तब उनके अति कमनीय प्रणय-गीत हमें शीतल फुहारों से सिक्त कर देते हैं।

और, सबसे अधिक उनकी ऐसी चेतक उक्तियाँ हमें मन-वचन-कर्म के अनुशासन में बाँधा करती हैं- 'रोष, घोष, स्वर नहीं, मौन शूरता मनुज का धन है'।

दिनकरजी अपने दायित्वों का निर्वाह करना जानते थे। सांसारिक दायित्व के अतिरिक्त एक समर्थ कवि और चिंतक होने के कारण उन पर यह दायित्व था कि वे राष्ट्र की चेतना को जगायें; इस दिशा में उनकी कलम सबसे अधिक सक्रिय रही है। 'कुरुक्षेत्र' के शोकग्रस्त युधिष्ठिर हों या 'रश्मिरथी' के आहत कर्ण या 'उर्वशी' के नरपति पुरूरवा; सब-के-सब अपने दायित्वों के साथ प्रतिबद्ध हैं। लेकिन इन महानायकों के उदाहरण प्रस्तुत करने से भी उन्हें संतोष नहीं होता है, तो साफ शब्दों में कह उठते हैं:

झकझोरो, झकझोरो महान सुप्तों को,
टेरो, टेरो चाणक्य-चन्द्रगुप्तों को;
विक्रमी तेज, असि की उद्दाम प्रभा को,
राणा प्रताप, गोविन्द, शिवा सरजा को;
वैराग्यवीर, बन्दा फकीर भाई को,
टेरो, टेरो माता लक्ष्मीबाई को।

('परशुराम की प्रतीक्षा' से)

दिनकरजी स्वयं जीवन संग्राम के अन्यतम योद्धा थे। उन्होंने हारने-टूटने की प्रवृत्ति को कभी जीवन में आने नहीं दिया। भौतिक, आधिभौतिक-सभी विपत्तियों को सम्मुख खड़े होकर झेला। उनके आदर्श थे भीष्म, जिनमें 'आयी हुई मृत्यु' को भी सुयोग तक रोक रखने की क्षमता थी।

और, उन्होंने स्वयं जब जीवन के कुरुक्षेत्र से प्रयाण करने तथा देहान्त का उचित समय देख लिया तो महायात्रा पर चल पड़े। श्री अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी या रमणाश्रम, तिरुवन्नमलाई के समीप कहीं पर अपने जीवन का अन्तिम काल बिताने की इच्छा वे व्यक्त किया करते थे। इसी क्षेत्र के समीप उनके अचानक देहत्याग के पीछे उनकी विकसित आत्मा के ही निर्णय का संकेत मिलता है। जीवन की सुख-सुविधाओं के प्रति दिनकर जी तनिक अन्यमनस्क-से थे। वे कहा करते थे कि आदमी अपने सुखों के लिय असबाब जुटाता है और बाद में उन्हीं असबाबों की देखरेख के लिए जीता है।

देश के एक शीर्षस्थ उद्योगपति ने, जो दिनकर जी के मित्र थे, उनसे आत्मीयता से भरकर कहा - "आप क्यों नहीं आराम से मेरे साथ रहते हैं! आपको कोई बाधा नहीं पहुँचायी जायेगी। निर्द्वन्द्व होकर रहिए और आराम से लिखिए।" दिनकर जी मुस्कराये और मित्र की व्यवहारकुशल आँखों में अपनी भावभरी दृष्टि से सीधे देखते हुए बोले - "तो आप ही क्यों नहीं लिख देते हो?" - दिनकरजी असुविधाओं की छाती पर बैठकर रचना करने वाले वीर साहित्यकार थे।

किसी काम से दिल्ली जाने पर उनके आवास पर टिकने का सौभाग्य मिला करता था। ऐसे ही किसी दिन, मैं बिना पंखा खोले, बैठी कुछ लिख रही थी; वे अचानक उस कमरे में आ गये थे। बैठने के पूर्व उन्होंने पंखा खोल दिया और पूछा- 'तुझे गर्मी नहीं लगती?' - फिर खुद ही कहा -'मैं युवावस्था में तब तक अच्छा नहीं लिख पाता था, जब तक माथे से पसीना न चूने लगे। दरअसल खेत में फसल उगाने और लिखने में अधिक अन्तर नहीं है।' - साहित्य के क्षेत्र में हीरा-पन्ना-मोती-माणिक उगाने वाले कुशल कृषक थे दिनकर जी। उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर उन्हें शत-शत नमन!

अरविंद आश्रम, पांडिचेरी

दलित और दिनकर

डी. आर. ब्रह्मचारी

दलित-दलित की चिल्लाहट में जो तथ्य हमारे सामने आते हैं, वे हैं- ऐसा प्रयत्न कि दलितों को उठाकर गैर-दलितों के समक्ष स्थापित कर दिया जाय, दलितों में इतनी शक्ति-क्षमता का संचार कर दिया जाय कि दलित स्वतः अपने प्राप्तव्य को खींचने में सक्षम हो जाएँ, दलितों को गैर-दलितों से निरंतर लोहा लेते रहने को उकसाकर उन्हें संघर्ष करने को प्रेरित करते रहें । इसमें से प्रत्येक बात अच्छी या समन्वयात्मक ही नहीं है। दलितों की हिताकांक्षा के नायाब नुस्खे से शिक्षित दलित स्वतः उत्तरोत्तर वाकिफ होते जा रहे हैं, यह शुभ है। साहित्य के क्षेत्र में प्रसाद हों, प्रेमचंद हों, निराला हों या फिर दिनकर ही क्यों न हों; मानवीय आदर्शों की कसौटियों पर यह सिद्ध कर दिखाया है कि कौन खरा है और कौन खोटा? वह, जो आभिजात्य का बोझा ढोने में आत्मसुख मानता है या फिर वह, जिसे अंत्यजत्व के अभिशाप के दंश को भोगने के लिए पग-पग पर विवश किया जाता है?

'दुक्खी चमार' की पीड़ा के रूप में इनका हाहाकार सुनाई पड़ता है; 'चतुरी चमार' के क्रियाकलापों से इनकी आत्मा कसक उठती है, कर्ण के माध्यम से इनका चीत्कार सुनाई पड़ता है: *मस्तक ऊँचा किए जाति का नाम लिए चलते हो, / पर अधर्ममय शोषण के बल से सुख में पलते हो।* हालात में आज भी तब्दीली कहाँ?

सन् 1952 ई. में प्रकाशित 'रश्मिरथी' रामधारी सिंह 'दिनकर' की प्रसिद्ध रचना है जो वर्षों से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में अनुशंसित रही है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है: रंगभूमि में राजकुमार अर्जुन की वाहवाही सुनकर कर्ण अपने को रोक नहीं पाता है- *तूने जो-जो किया उसे मैं भी दिखला सकता हूँ, / चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ।* साथ ही, आगे बढ़कर वह द्वन्द्व युद्ध के लिए पार्थ को ललकार भी उठता है। उस नवयुवक को क्या पता कि राजकुमारों के बीच, सभा में अर्जुन को फीका होते देखकर राज्यान्न पर पले लोग तिलमिला उठेंगे? कृपाचार्य, कर्ण का तेज मलिन करने में कोई कसर बाकी नहीं रखते- *अर्जुन से लड़ना हो तो मत रहो सभा में मौन, / नाम-धाम कुछ कहो, बताओ कि तुम जाति हो कौन?*

स्वाभाविक तेज से दृप्त कर्ण को यह सह्य नहीं हो पाता-

अधम जातियों से थर-थर काँपते तुम्हारे प्राण
छल से माँग लिया करते हो अँगूठे का दान।

सहज ही सभा पर कर्ण का सिक्का जम जाता है-

कर्ण भले ही सूत-पुत्र हो अथवा श्वपच चमार
मलिन मगर इसके आगे हैं सारे राजकुमार।

कर्ण फिर अर्जुन के क्षत्रियत्व के दंभ पर वार कर डालता है-

अर्जुन बड़ा वीर क्षत्रिय है तो वह सामने आवे, / क्षत्रियत्व का तेज जरा मुझको भी तो दिखलावे।

राजकुमार की रक्षा करते हुए राजपुरुष कृपाचार्य कर्ण पर दूसरा बाण मारने से क्यों चूकते- *राजपुत्र से लड़े बिना होता है अगर अकाज, / अर्जित करना तुम्हें चाहिए पहले कोई राज।*

इस प्रकार कर्ण की छीछालेदर दुर्योधन से असह्य हो उठती है। वह सामने आ जाता है। भले ही कर्ण के प्रति उसकी आंतरिक सहानुभूति हो अथवा नहीं, किंतु शत्रुओं से प्रतिशोध का उपकरण तो हाथ लग ही जाता है उसे-

बिना राज्य यदि नहीं वीरता का उसको अधिकार,
तो मेरी यह खुली घोषणा सुने सकल संसार।
अंगदेश का मुकुट कर्ण के मस्तक पर धरता हूँ,
एक राज्य इस महावीर के हित अर्पित करता हूँ।

इस उपकार-भार से कर्ण दब जाता है। सब कुछ

भूलकर वह अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देता है-

है ऋणी कर्ण का रोम-रोम, जानते सत्य यह सूर्य सोम,
तन-मन दुर्योधन का है, यह जीवन दुर्योधन का है।

इस परिस्थिति में वह और कर भी क्या सकता था? *सबते कठिन जाति अपमाना।*

कर्ण के लिए सभा द्वारा उच्चरित *'महाराज अंगेश'* संबोधन अभिजात मन को तीर के समान वेध डालता है-

हय की झाड़े पूँछ जनम भर रहा यही तो काज।
सूत पुत्र किस तरह चला पाएगा कोई राज।

विष-व्यंग्य से आहत कर्ण के जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है अर्जुन, जिससे दो हाथ कर लेने में ही वह अपनी सार्थकता समझने लगता है।

धनुर्वेद-शिक्षण के प्रसंग में गुरु परशुराम की भूमिका शिक्षण जगत का वह कलंक है जिसे किसी प्रकार मिटा पाना असंभव है। बड़ी भक्ति की, पर बदले में शाप भयानक पाया। केवल जाति की निकृष्टता के चलते ही तो।

कर्ण को अब पांडवों के पक्ष में लाने का नाटक शुरू होता है। स्वयं कृष्ण उसे प्रलोभन देकर पांडवों की तरफ खींचने में नहीं चूकते-

कुरु राज्य समर्पण करता हूँ, साम्राज्य समर्पण करता हूँ।
यश मुकुट मान सिंहासन ले, बस एक भीख मुझको दे दे।

पर कर्ण तो कच्ची धातु का बना था नहीं, और न उसके हृदय में चुभने वाला शल्य ही साधारण था। कृष्ण के यह कहने पर कि तुम कुंती के ज्येष्ठ पुत्र ठहरे, वह भी तुम्हारे अभिषेक को तत्पर है; उसे कृष्ण की चाल भाँपते देर नहीं लगती: *कुंती का क्या चाहता हृदय / मेरा सुख या पांडव की जय?* वह अपना निर्णय सुना डालता है-

ले लील भले ही धार मुझे, लौटना नहीं स्वीकार मुझे।

क्या लोगों के मुख से आप मुझे यही सुनवाना चाहते हैं-

फिर गया तुरत जब राज मिला, यह कर्ण बड़ा पापी निकला।

वह कहता है- केशव! इस कृत्य से केवल मेरी ही तौहीन नहीं होगी, आपका प्रिय अर्जुन भी कलंकित होगा-

सब लोग कहेंगे डरकर ही, अर्जुन ने अद्‌भुत नीति गही।
मेरे जीवन में इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई अर्थ नहीं
मुझको न कहीं कुछ पाना है, केवल ऋण मात्र चुकाना है

वह दो टूक शब्दों में अपना निर्णय कृष्ण से कह सुनाता है- *मित्रता बड़ा अनमोल रतन, कब उसे तोल सकता है धन? / धरती की तो है क्या बिसात? आ जाय अगर बैकुंठ हाथ, / उसको भी न्योछावर कर दूँ, कुरुपति के चरणों पर धर दूँ।* साथ ही, वह श्रीकृष्ण से निवेदन करता है, मधुसूदन! मेरी जन्म-कथा धर्मराज से नहीं कहिएगा। नहीं तो वे सिंहासन ठुकरा देंगे और मुझे समर्पित कर देंगे। परिणाम होगा, मैं उसे स्वयं न स्वीकार कर दुर्योधन को दे डालूँगा, फिर पांडव वंचित के वंचित ही रह जाएँगे।

इस पर कृष्ण अभिभूत हो उठते हैं- *तू कुरुपति का ही नहीं प्राण, नरता का है भूषण महान।* अप्रतिभ कृष्ण के लिए दूसरा उपाय भी क्या था!

उसके दुर्भाग्य का दूसरा अध्याय तब उपस्थित होता है जब राजकुमार अर्जुन के रक्षार्थ उसके पिता देवराज इंद्र स्वयं ब्राह्मण का वेश धारण कर दानवीर कर्ण से जन्म के साथ प्राप्त उसका कवच-कुंडल छलपूर्वक दान माँग लेते हैं। कर्ण को चाल समझते देर नहीं लगती: *महाराज किस्मत ने मेरी की न कौन अवहेला?* चाहे दिखाने भर को सही, इंद्र निस्तेज हो जाते हैं: *तू दानी मैं कुटिल प्रवंचक, तू पवित्र मैं पापी।*

लज्जित इंद्र उसे अपना एकघ्नि नामक अस्त्र देकर चले जाते हैं, इस शर्त के साथ कि इस अमोघ अस्त्र का प्रयोग केवल एक ही बार किया जा सकता है, उसके बाद यह लौटकर मेरे पास चला आएगा। उसके दुर्भाग्य के तीसरे अध्याय में ठकुरानी कुंती स्वयं उसको पांडवों के पक्ष में लाने के लिए कुछ बाकी नहीं रखती हैं। प्रखरबुद्धि कर्ण को राजनीति समझते देर नहीं लगती- *जोड़ने नहीं बिछुड़े-वियुक्त कुल जन से, / फोड़ने मुझे आई हो दुर्योधन से।*

वहाँ पर भी वह अपने भीतर चुभी कील को प्रकट किए बिना नहीं रहता। सच कहिए तो यह कर्ण-पार्थ का रण है। आज तक अपने यहाँ से किसी को रिक्तहस्त नहीं लौटने देने वाला कर्ण भला, कुंती को खाली हाथ कैसे लौटने देता- *पुत्रिणी पाँच पुत्रों की बनी रहोगी।* अर्जुन को छोड़ मैं बाकी चार पांडवों को अपना शरव्य नहीं बनाऊँगा। यदि बाण के सम्मुख वे आ भी जाते हैं तो भी मैं उनका वध नहीं करूँगा। वचन देता हूँ-अर्जुन के हाथों यदि मैं मरूँ, तब तो कोई बात ही नहीं, परः

कहीं काल का कोप पार्थ पर बीता, / वह मरा और दुर्योधन ने रण जीता / मैं एक खेल फिर जग को दिखलाऊँगा,
जय छोड़, तुम्हारे पास चला आऊँगा। चार पांडवों को जीवन-दान देकर वह वचन निर्वाह से रंचमात्र भी विमुख नहीं होता। वह कहता है- *पर, केशव जिनके साथ, उन्हें क्या दुख है?*

युद्ध का शंखनाद हो जाता है। दोनों ओर से सेनाएँ लड़ती-कटती और मरती हैं। भीष्म पितामह के द्वारा कर्ण को 'अर्द्धरथी' कहे जाने से अपमानित वह तब तक रणाँगन में प्रवेश नहीं करता है जब तक भीष्म लड़ रहे होते हैं। उनके धराशायी होने के पश्चात् ही वह युद्ध-भूमि में पैर रखता है। वह गिरे हुए भीष्म के समीप पहुँचता है और उनके चरण छूता है। भीष्म उसे अवरोधते हैं: *चल सके सुयोधन पर यदि वश, बेटा! लो जग में नया सुयश, लड़ने से बढ़ यह काम करो, आज ही बंद संग्राम करो।* उस पर तो बस अर्जुन-पराजय की धुन सवार है। भीतर तक हिला देने वाली चोट को वह भूले भी तो कैसे: *करने दीजिए स्वव्रत पालन, अपने महान् प्रतिभट से रण।* अर्जुन और कर्ण का विकट संग्राम शुरू होता है। कर्ण के अद्‌भुत युद्ध-कौशल और उसकी एकघ्नि के भय से कृष्ण, सावधान कृष्ण, हमेशा अर्जुन को बचाते फिरते हैं-

वह चतुर पार्थ सारथी आज, रथ अलग बचाए फिरते थे
कर्ण के साथ द्वय रथ रण से, शिष्य को बचाए फिरते थे।

कृष्ण की दूरदर्शिता, दुर्योधन की मोहांधता तथा कर्ण के भाग्य-विपर्यय से घटोत्कच के साथ हुए युद्ध में उसका एकघ्नि अस्त्र प्रयोग में आकर इंद्र के पास लौट जाता है। यह तो होना ही था! फिर भी वह वर्णनातीत हिम्मत से काम ले रहा था। उसका युद्ध देखने योग्य था- *सहदेव युधिष्ठिर नकुल भीम को बार-बार वश में लाकर, / कर दिया मुक्त हँसकर उसने भीतर से कुछ इंगित पाकर।*

इस प्रकार माता कुंती को दिए अपने वचन का उसने तत्परतापूर्वक पालन किया, बट्टा नहीं लगने दिया। फलतः उसका सारथी शल्य भी उसे कोसकर तेजमंद करने से बाज नहीं आया-

रे सूत पुत्र! किसलिए विकट यह काल पृष्ठ धनु धरता है?
मारना नहीं है तो फिर क्यों वीरों को घेर पकड़ता है?

यहाँ 'वीरों' विशेषण का प्रयोग ध्यातव्य है। यही नहीं, अश्वसेन-प्रसंग में भी उसकी निष्ठा छिपाए नहीं छिपती है। वह अश्वसेन को सीधे फटकार देता है- *संसार कहेगा जीवन का सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया/ प्रतिभट के वध के लिए सर्प का पापी ने साहाय्य लिया।* अब कर्ण और अर्जुन का भीषण संग्राम निर्णायक स्थिति में पहुँचता है। वह प्राणपण से लड़ता हुआ अर्जुन के छक्के छुड़ाता है-

मत कवच और कुंडल विहीन इस तन को मृदुल कमल समझो/ साधना दीप्त वक्षस्थल को अब भी दुर्भेद्य अचल समझो/। अर्जुन की स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि- *सँभले जब तक भगवान, बचाए इधर-उधर किंचित् स्यंदन।* यहाँ 'भगवान' शब्द का प्रयोग भी ध्यातव्य है। कर्ण के युद्ध-कौशल के श्रीकृष्ण स्वयं कायल होते हैं। वह अर्जुन से कहते हैं: *मैं चक्र सुदर्शन धरूँ और गांडीव अगर तू तानेगा/ तब भी शायद ही, आज कर्ण आतंक हमारा मानेगा।* यहाँ हमारा 'सर्वनाम' ध्यातव्य है।

दुर्भाग्य कर्ण का पीछा कहीं नहीं छोड़ता। ठीक युद्ध के उत्कर्ष के अवसर पर ही उसके रथ का पहिया पृथ्वी में धँस जाता है, जबकि उसकी दीप्ति परवान पर होती है। विरथ वह निरस्त्र होकर पूरे बल से उसे पृथ्वी से छुड़ाने में लग पड़ता है, पर पहिया है कि टस से मस होने से रहा-

मगर, है ठीक किस्मत ही फँसे जब
धरा ही कर्ण का स्यंदन ग्रसे जब।
...मही डोली सलिल आगार डोला,
भुजा के जोर से संसार डोला
न डोला किंतु, जो चक्का फँसा था,
चला वह जा रहा नीचे धँसा था।

शरासनहीन अस्त-व्यस्त कर्ण को पाकर स्वयं परात्पर मधुसूदन अर्जुन को संकेत करने में सकुचते नहीं-

शरासन तान, बस अवसर यही है,
घड़ी फिर और मिलने की नहीं है।
विशिख कोई गले के पार कर दे,
अभी ही शत्रु का संहार कर दे।

पार्थ सहम जाता है-

नरोचित किंतु क्या यह कर्म होगा?
मलिन इससे नहीं क्या धर्म होगा?

कृष्ण फिर प्रेरित करते हैं-

क्रिया को छोड़ चिंतन में फँसेगा,
उलटकर काल तुझको ही ग्रसेगा।

बिना देर किए अर्जुन लगा निहत्थे कर्ण को बाणों से अंधाधुंध बेधने। ऐसा सुनहला अवसर वह चूकता ही क्यों? कवि लिखता है-

शरों से वेधने तन को, वदन को
दिखाने वीरता निःशस्त्र जन को।
खड़े निर्वाक् सब जन देखते थे
अनोखे धर्म का रण देखते थे।

कर्ण ने सँभलने का थोड़ा समय माँगा भी, पर उसे वह मिलता ही क्यों! धुआँधार बिंधा जाता हुआ रथ से उतरा निरस्त्र कर्ण श्री कृष्ण को नंगा कर डालता है-

कृपा कुछ और दिखलाते नहीं क्यों?
सुदर्शन ही उठाते हैं नहीं क्यों?

इस प्रकार कर्ण का वध कराकर श्रीकृष्ण उसका स्मारक इन शब्दों में तैयार करते हैं-

किया किसका नहीं कल्याण उसने?
दिए क्या-क्या न छिपकर दान उसने?
जगत् के हेतु ही सर्वस्व खोकर,
मरा वह आज रण में निःस्व होकर।

महाभारत की अनेक कथाओं में एक कथा अंत्यज-अभिजात्य की भी है जो कर्ण अर्जुन प्रतिद्वंद्विता के रूप में साकार हुई है और अद्यपर्यंत जीवित है। आज भी राजकुमारों के त्रास की बातें अप्रासंगिक नहीं हुई हैं। स्थिति यह भी है कि दलित-दलित के शोर में दलित गौण, शोर प्रधान हो गया है। 'रश्मिरथी' में रचनात्मक स्तर पर दिनकर ने दलित का जैसा चित्र प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है-

जग में जो भी निर्दलित प्रताड़ित जन हैं,
जो भी निहीन हैं, निंदित हैं, निर्धन हैं,
यह कर्ण उन्हीं का सखा बंधु सहचर है
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।

बिना ऐसी अनुभूति के क्षणों को जिए, इस प्रकार की रचना संभव है क्या?

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बी.आर.बी. कॉलेज
समस्तीपुर, बिहार - 848101

कुछ पन्ने दिनकर की डायरी के

डॉ. मीनाक्षी जोशी

हूँ जगा रहा आलोक अरुण बाणों से,
मरघट में जीवन फूँक रहा गानों से।
मैं विभा-पुत्र जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा। -हुंकार

जागरण की ये पंक्तियाँ, आधुनिक हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का शंखनाद करने वाले कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की हैं, जिन्हें साहित्य अकादमी तथा ज्ञानपीठ पुरस्कार के अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण' कि उपाधि से सम्मानित किया गया।

'गोरा-चिट्टा रंग, लम्बाई पाँच फुट ग्यारह इंच, भारी-भरकम शरीर, बड़ी-बड़ी आँखें (जो रचना करते समय चिंतन-क्लिष्ट लगती हैं, पर बात करते समय या कविता पाठ करते समय प्रदीप्त हो उठती हैं) ललकार भरी आवाज, तेज चाल और क्षिप्र बुद्धि...' दिनकर के व्यक्तित्व को रेखांकित कर उनकी गौरवपूर्ण छवि प्रस्तुत करने वाले ये शब्द हैं मन्मथनाथ गुप्त के।

इस वर्ष पूरे देश में प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की 150 वीं जयंती पर वीर शहीदों को श्रद्धांजलि दी जा रही है, फिर कलम के सिपाही राष्ट्रकवि दिनकर को कैसे भुलाया जा सकता है, जिनके शब्दों की धार ने देशप्रेम और आजादी की लहर से लोगों के दिलो-दिमाग को हिला कर रख दिया। दिनकर उन व्यक्तियों में थे जिन्हें अपने पर्यावरण की हलचलें सतत् स्पन्दित करती रहीं। जिनके लिए समाज, राष्ट्र और विश्व की प्रत्येक धड़कन उनकी अपनी धड़कन रही और जो काल देवता के रथ के पहिए के नीचे नष्ट होकर भी ऐसे निशान छोड़ गया जो अमिट हैं।

किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व की व्यंजना करने वाली उसकी कृतियाँ होती हैं। यह संभव नहीं कि साहित्यकार जीवन कुछ और जिए, तथा उसकी रचनाओं में कुछ और व्यंजित हो। दिनकर जी के कृतित्व का विवेचन करते हुए अधिकांश समीक्षकों ने उनके कवि रूप को ही आधार बनाया है, लेकिन उनके सम्पूर्ण साहित्य का अवलोकन करने पर निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि उन्हें केवल कवि मानना और कविताओं के आधार पर उनका मूल्यांकन करना अधूरा और एकांगी है। वस्तुतः दिनकर सफल गद्यकार, विवेकशील समीक्षक, सहृदय आलोचक एवं सजग निबंधकार भी हैं। इतना ही नहीं उन्होंने संस्मरण, जीवनी, यात्रा-साहित्य एवं डायरी आदि गद्य की नई विधाओं का भी सशक्त प्रयोग किया है। दिनकर द्वारा रचित प्रमुख गद्य विधाओं की चर्चा तो प्रायः अनेक बार, अनेक रूपों में एवं अनेक रचनाकारों ने की है, किन्तु उनके द्वारा लिखित डायरी पर पाठकों का ध्यान बहुत कम गया है। 'दिनकर जी की डायरी' 1973 में प्रकाशित हुई थी। इसका प्रथम पृ. 2 जनवरी, 1961 का है और अंतिम पृ. 31 दिसम्बर, 1972 का है। डायरी वह चीज है, जो रोज लिखी जाती है। और उसमें घोर रूप से वैयक्तिक बातें भी लिखी जा सकती हैं। बहुत से महापुरुषों की डायरियाँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें से लज्जा या कलंक की बातें निकाल दी गई हैं। दिनकर की डायरी में वैयक्तिक बातों के साथ अन्य जो भी बातें प्रकाशित हुई हैं उनसे उनके विचारों, उनकी भावनाओं, और अनुभवों का स्पष्ट परिचय तो मिलता ही है, यह जानकारी भी मिलती है कि वे अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में पीड़ाओं का ऐसा बोझ ढो रहे थे, जिसने अंत में उन्हें तोड़ कर रख दिया था। इसी टूटन का परिणाम है उनकी काव्य-कृति- 'हारे को हरिनाम'। अपनी डायरी-लेखन के सम्बन्ध में दिनकर जी ने लिखा है-

'जब मैं दिल्ली रहने लगा था, तब से अगर मैंने नियमित रूप से अथवा मुख्य घटनाओं की भी डायरी लिखी होती, तो वह साहित्य और इतिहास की दृष्टि से काम की चीज हो जाती।' आगे वे लिखते हैं -'मैं न गांधी हूँ, न रवीन्द्र, जिनका उठना-बैठना, बोलना-चालना, सब कुछ महत्व रखता

हो। बहुत-सी चीजें तो इसी दृष्टि से छाँट दी गईं। कुछ ऐसी बातों को भी पुस्तक में जाने से मैंने रोक लिया, जिन्हें प्रकाशित करने के साहस का मुझमें अभाव है। ऐसी जो थोड़ी-सी बातें धर्मयुग में छप गई थीं, उनको लेकर ही चें चें-पें पें मच गई।'

'दिनकर की डायरी' में उनके जीवन के दस वर्षों के महत्वपूर्ण प्रसंगों का विवरण है। उन्होंने अपनी मूल डायरी के उन्हीं अंशों का प्रकाशन किया है जिनका राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और आध्यात्मिक दृष्टि से कोई महत्व है। यह डायरी उनके जीवन की उस खुली किताब की तरह है, जो दिनकर के इन्द्रधनुषी भाव जगत एवं उनके चिन्तन के विविध आयामों से साक्षात्कार कराती है। तो आइए, खोलते हैं डायरी के कुछ उन पृष्ठों को जो बड़ी रोचकता के साथ दिनकर के विचारों के अचम्भित करने वाले पहलुओं से हमारा परिचय कराते हैं-

5 मार्च, 1963 (दिल्ली)

बहुत-सी नारियाँ इस भ्रम में रहती हैं कि वे प्यार कर रही हैं। वास्तव में वे प्रेम किए जाने के कारण आनंद से भरी होती हैं। चूंकि वे इनकार नहीं कर सकतीं, इसलिए यह समझ लेती हैं कि वह प्रेम कर रही हैं। असल में यह रिझाने का शौक है, हल्का व्यभिचार है। प्रेम का पहला चमत्कार व्यभिचार को खत्म करने में है, पार्टनर के भीतर सच्चा प्रेम जगाने में है।

8 मार्च, 1963 (दिल्ली)

ऐसी औरतें कम हैं जिन्होंने प्रेम केवल एक ही बार किया हो। जब प्रेम मरता है तो वह बची हुई चीज ग्लानि होती है, पश्चाताप होता है। प्रेम आग है, जलने के लिए उसे हवा चाहिए। आशा और भय के समाप्त होते ही प्रेम समाप्त हो जाता है। सुखमय विवाहित जीवन सम्भव है। स्वादमय विवाहित जीवन सम्भव नहीं।

6 मई, 1963(दिल्ली)

जो पद हमें नहीं मिला है, अपने को उसके योग्य सिद्ध करना आसान है किंतु जिस पद पर हम हैं उसकी योग्यता सिद्ध करना बड़ा कठिन काम है।

छल पूर्ण प्रशंसा से उपयोगी आलोचना श्रेष्ठ है, मगर कम ही लेखक उसे पसंद करते हैं।

महापुरुषों की कीर्ति उन साधनों से नापी जानी चाहिए, जिनका प्रयोग कीर्ति पाने के लिए किया गया हो।

जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, आदमी के ज्ञान के साथ उसकी मूर्खता में भी वृद्धि होती है। विरह छोटे प्रेम को संकीर्ण और बड़े प्रेम को विस्तृत बनाता है। तूफान दीये को बुझा देता है किंतु होली की आग को खूब भड़काता है। जो प्रसिद्धि तुम्हें मिली है वह इस बात की प्रतिज्ञा है कि तुम और भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करोगे।

8 मई, 1963 (दिल्ली)

हम उन्हें खूब चाहते हैं जो हमारी प्रशंसा करते हैं, किंतु जिनकी प्रशंसा हम करते हैं, उन्हें हम चाहते भी हैं या नहीं, यह बताना बहुत कठिन है। रुपये से घृणा करने वाले लोग भी उसे छोड़ना नहीं चाहते, औरतें अपनी वासना को काबू में ला सकती हैं, मगर अपनी रिझाने की प्रवृत्ति को वे रोक नहीं सकतीं। कुछ लोगों के मरने पर विलाप कम होता है, लेकिन लोग याद उन्हें ज्यादा करते हैं। और कुछ ऐसे होते हैं जिनके मरने पर विलाप बहुत होता है, लेकिन लोग याद कतई नहीं करते। टुच्चे लोगों की एक पहचान यह भी है कि जिसके समान बनना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात है, उसकी वे हमेशा निंदा करते हैं।

15 मई, 1963 (दिल्ली)

कम ही औरतें ऐसी हैं, जो मित्रता से संतोष मानती हैं। जिन्हें प्रेम का रस मिल गया है, उन्हें मात्र मित्रता फीकी लगती है। प्रेम और सतर्कता, ये साथ नहीं चल सकते। जैसे-जैसे प्रेम में वृद्धि होती है, सतर्कता खत्म होने लगती है। जब हम अपनी आलोचना करते हैं तब हमारी इच्छा होती है कि लोग हमारी बड़ाई करें।

युवकों को चाहिए कि अपने आपका ख्याल वे बहुत ज्यादा न करें। मगर बूढ़ों को सब छोड़कर अपना ही ख्याल करना चाहिए। सूर्य जब सारी दुनिया को रोशनी से भर देता है तब वह संध्या समय अपनी सारी किरणें अपने भीतर समेट लेता है, जिससे यह खुद को भी प्रकाशित कर सके।

18 मई, 1963 (दिल्ली)

क्लासिक कवि वह है, जो प्राचीन काल के प्रसिद्ध महाकवियों के साथ खड़ा होने का सामर्थ्य रखता है और जिसकी अपील केवल अपने ही काल तक सीमित न रहकर दूरस्थ भविष्य के लिए भी है। सुंदरता के बारे में तर्क जितना ही अधिक किया जायेगा, उसकी अनुभूति उतनी ही कम होगी।

कवि होना उस शुद्ध, जीवंत बर्बर के समान है, जो सोचता नहीं, केवल अनुभव करता है, फील करता है, जिसके भीतर विचार नहीं होते, केवल बिंब या चित्र होते हैं।

20 मई 1963 (दिल्ली)

आज मुखौटे पर रिल्के की मार्मिक उक्ति पढ़ी। हर आदमी के कई चेहरे होते हैं। कुछ लोग सालों तक एक ही चेहरा पहने रहते हैं। इस चेहरे का घिस जाना स्वाभाविक है। वह गंदा हो जाता है, मुड़ जाता है, फट जाता है। मितव्ययी लोग चेहरे नहीं बदलते, न उसे धोते हैं, न साफ करते हैं। वे समझते हैं चेहरा अच्छा है। मगर चेहरा बुरा हो गया है यह बात उन्हें कौन समझाये? जिनके पास चेहरे बहुत हैं उन्हें कठिनाई होती है। एक को तो पहन लिया। बाकी का क्या करे? बाकी चेहरे बाल-बच्चे पहनेंगे या घर का कुत्ता भी

एकाध को पहन कर निकल सकता है।

12 सितम्बर, 1963 (दिल्ली)

मेरे भीतर एक आग है जो बुझती नहीं तो फिर वह मुझे जला क्यों नहीं डालती है? सौन्दर्य के तूफान में बुद्धि को राह नहीं मिलती। वह खो जाती है, भटक जाती है। यह पुरुष की चिरंतर वेदना है। मैं धर्म से छूटकर सौन्दर्य पर सौन्दर्य से छूट कर धर्म पर आ जाता हूँ। होना यह चाहिए कि धर्म में सौन्दर्य और सौन्दर्य में धर्म दिखाई पड़े।

5 अक्टूबर, 1963 (दिल्ली)

सुखी प्रेम का इतिहास नहीं होता। प्रेम का इतिहास रोमांस का इतिहास है और रोमांस तब जन्म लेता है जब प्रेम में बाधा पड़ती है, रूकावट आती है, विशेषतः तब जब प्रेम दुखांत होता है। जिस प्रेम में आतुरता है, तेजी है, छटपटाहट और बेचैनी है, वह विपत्ति लाकर ही रहेगा।

कहते हैं यूरोप और अमेरिका में व्यभिचार सबसे बड़ी प्रवृत्ति है। व्यभिचार न हो तो कविता और उपन्यास में क्या रह जाता है? सारा साहित्य उस प्रेम के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है, जो नियमों का पालन करना नही जानता। मनुष्य जाति की आधी से अधिक विपत्तियों का नाम व्यभिचार है।

विवर्जित के प्रति आकर्षण है इसलिए विवाह टूटते हैं। लेकिन विवर्जित के प्रति आकर्षण में दुःख है। यह जानते हुए भी आदमी संत्रास को स्वेच्छया क्यों अपनाता है?

6 अक्टूबर, 1963 (दिल्ली)

प्रेमी अपराध करके न तो सुधार की कोशिश करते हैं, न पश्चाताप! कारण? उनका अंतर्मन कहता है कि उन्होंने पाप नहीं किया है, पाप और पुण्य की सीमा को लांघकर वह आनंद लूटा है, जो आनंद पाप और पुण्य की सीमा के इधर है ही नहीं। अवैध प्रेम में प्रेम की पात्री नायिका नहीं होती, बल्कि यह अनुभूति होती है कि हम प्रेम कर रहे हैं....।

10 अक्टूबर, 1963 (दिल्ली)

वासना को शब्द और भाषा साहित्य से मिली है। अगर साहित्य ने प्रेम पर इतनी बातें नहीं कही होतीं, तो कम लोग इस जंजाल में फंसते। गेटे के वर्दर के प्रकाशन के बाद यूरोप में आत्महत्या की लहर आ गई थी। रूसो के प्रभाव में आकर लोग दूध ज्यादा पीने लगे थे। रेने के प्रकाश में आने के बाद कई पीढ़ियाँ गमगीन रही थीं। सुना है कि एक बार कलकत्ते में एक फिल्म का इतना भयानक प्रभाव पड़ा कि कई लड़कियों ने झील में कूदकर आत्महत्या कर ली।

13 नवम्बर, 1971 (पटना)

...विचित्र बात है कि अपना पाप आदमी को छोटा लगता है, दूसरे का बड़ा! कारण? कारण शायद यह है कि जिस परिस्थिति में हम पाप करते हैं, उस परिस्थिति का हमें पूरा ज्ञान रहता है। इसलिए अपने आप को हम क्षमा कर देते हैं। दूसरों को क्षमा हम इसलिए नहीं करते कि उनकी परिस्थितियों का हमें ज्ञान नहीं होता। पाप तो हर आदमी परिस्थिति से लाचार होकर ही करता है। एक साहित्यिक ने कहा "बच्चन जी ने अपने जीवन की खराब बातें क्यों लिखीं?" मैंने समझाया, "यह दिखाने को कि आदमी बड़ा लेखक हो या बड़ा नेता, वह सबसे पहले आदमी ही होता है। मगर आपका यह कहना ठीक है कि आदमी अपनी बुराई ही क्यों लिखें? और कहाँ तक लिखे? निश्चय ही बच्चन के जीवन में केवल दो ही घटनाएँ नहीं हैं। फिर भी अपना पर्दाफाश करने का साहस तो उसने दिखाया है।"

14 नवम्बर, 1971(पटना)

साहित्य और समाज में संबंध है, साहित्य और प्रचलित नैतिकता में संबंध है। समाज जिसे पसंद नहीं करता, वह चीज नहीं लिखी जाती है। कवि लाख दावा करे कि वह किसी की परवाह नहीं करेगा, परवाह उसे करनी ही पड़ेगी। हर लेखक श्रोता चाहता है, पाठकों का बड़ा समुदाय चाहता है, जो यह कहता है कि श्रोता और पाठक उसे नहीं चाहिए, वह अनजाने में झूठ बोलता है। कल्पना करो कि सभी आदमी मर गये। धरती पर एक ही मनुष्य जीवित है, तो क्या वह कविता लिखेगा? साहित्य का कारण कवि भी है समाज भी।

22 नवम्बर, 1971 (दिल्ली से पटना, तूफान ट्रेन में)

पौने नौ बजे तैयार हुआ। डॉक्टर राज आई। डॉक्टर तनेजा सपत्नीक आए। वे ही स्टेशन पहुँचा गये। रास्ते भर विश्वनाथ जी का 'सहस्त्रफण' उपन्यास पढ़ता आया। जितना पढ़ा, उसमें से कई मुहावरे नोट किए। ये हिन्दी के लिए नये मुहावरे होंगे-

- हींग बँधे कपड़े की बास कहाँ जायेगी?
- शास्त्री जी के हाथ में हड्डी नहीं थी। उन्होंने कभी किसी को 'न' नहीं कहा था।
- आँखों की भाषा व्याकरण दोष नहीं जानती।
- धूप को देखकर छाता पकड़ने की कला में वह निपुण था।
- छोटे साँप को भी बड़ी लाठी से मारना चाहिए।
- नदी पार करके नाव जलाना।
- मुँह में उँगली देने पर भी काटना नहीं जानते।

26 दिसम्बर, 1971 (पटना)

नारी स्वाधीनता का आंदोलन जब आरंभ हुआ, तब मर्द आंदोलन करने वाली नारियों को सेक्सलेस कहते थे। जब आंदोलन आगे बढ़ा, दफ्तर के शेर घर में चूहे बन गये। औरतों ने जब झगड़ा शुरू किया, मर्द लड़े नहीं, मैदान छोड़ कर भाग गए... नारी आंदोलन के आरंभ में कहा जाता था कि औरतों को क्षेत्र और अधिकार नहीं है। क्षेत्र और अधिकार मिल जाय तो वे मर्दों की बराबरी कर सकती हैं। मगर वे मर्दों से श्रेष्ठ क्यों नही रहें? बराबरी पर क्यों उतरें?

'सेकेन्ड सेक्स' की लेखिका मानती है कि शरीर-रचना की दृष्टि से नारी पुरुष से हीन है। मगर तब भी वह (यानी सिमोन द बुआ) औरतों को मर्दों के विरुद्ध उकसाती है। और अब अमेरिका की एक लेखिका लिखती है, औरतों ने अपने कार्य का क्षेत्र बदल लिया है, लेकिन अब वे जिस समस्या से परेशान हैं, वह अनिर्वचनीय है, उसका नाम नहीं है। जब मर्द घर से बाहर काम करते थे और औरतें घर में काम करती थीं, तब औरतों को जो संतोष मिलता था वह अब नहीं मिलता।

उपरोक्त कुछ अंशों के आधार पर यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि दिनकर की डायरी, डायरी और जर्नल का सम्मिश्रण है। मैनें इस डायरी से उनके राजनीतिक साहित्यिक एवं अन्य पक्षों को छोड़कर केवल उन टिप्पणियों को यहाँ प्रस्तुत किया है, जो दिनकर के वैयक्तिक जीवन-प्रसंगों पर आधारित हैं एवं हमें उनके मनोजगत की यात्रा कराती हैं। अंत में इस डायरी की भूमिका में लिखित दिनकर के इन विचारों का उल्लेख करना उचित होगा-

जितना प्रकाशित करने का औचित्य मुझे जान पड़ा, उतना तो इस पुस्तक में जा रहा है। अगर मैं ठीक से मर नहीं सका (यानी मरने के बाद कुछ-कुछ जीवित रह गया) तो कोई न कोई कौतुकी-प्रेमी मेरे कागजों के ढेर में घुसकर मेरे उस रूप को भी प्रकट कर सकता है, जिसे मैंने कम महत्व का समझा है। वैसे चाहता मैं यह हूँ कि "मरे अगर कवि तो उसको पूरा ही मरना चाहिए।"

लेकिन इसका शुबहा जरा वाजिबी-ही-वाजिबी है। निराला के कागज-पत्र कौन देखने गया? आचार्य शिवपूजन सहाय को एक-एक चिट-पुरजा तक जुटाने का शौक था। लेकिन उनकी बोरियों की तलाशी लेने की जहमत कौन उठाता? और परम पूज्य पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी के पास आने और जाने वाले पत्रों का जो विशाल अंबार है, वह डायरी और जर्नल से कुछ अधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन उसका उद्धार कौन करेगा?

डायरी हो या आत्मकथा, आदमी अपने सही रूप को उस तरह नहीं आंक सकता जिस तरह उसे कोई तटस्थ व्यक्ति आंक सकता है। जीवन में हम बहुत से गलत काम करते हैं, लेकिन इसका ध्यान हमें बराबर रहता है कि वे गलतियाँ हमारे लेखों में न आ जायँ। लेकिन मुखौटा बहुत पुराना पड़ जाय तो उसमें छेद हो ही जाते हैं और तब मुखौटे के होने पर भी आदमी का रूप पारखियों से छिपा नहीं रहता। मगर मेरे लिए इसमें शरमाने की क्या बात है? आप और हम, दोनों एक ही नाव में हैं। -रामधारी सिंह 'दिनकर' पटना, 24.02.1973

डायरी के पन्नों से पता चलता है कि उनका मैथिलीशरण गुप्त, नरेन्द्र शर्मा, रायकृष्ण दास, रामावतार त्यागी, बालस्वरूप राही, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, पुरुषोत्तम दास टंडन, बेनीपुरी, शिवपूजन सहाय, शिवमंगल सिंह 'सुमन', नगेन्द्र और हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि साहित्यकारों तथा पं. नेहरू, इंदिरा गांधी, शास्त्री जी, राजेन्द्र प्रसाद, जाकिर हुसैन, राधाकृष्णन्, द्वारिका प्रसाद मिश्र आदि राजनीतिज्ञों से घनिष्ठ संबंध रहे। दिनकर के कवि रूप से उनका गद्यकार रूप कम महत्वपूर्ण नहीं। आवश्यकता है उसके विवेचन, विश्लेषण, एवं गंभीर मूल्यांकन की।

'मधुरा' रामायण नगरी
खात रोड , भंडारा (महाराष्ट्र) 441904
□

दिनकर : प्रासंगिकता

प्रभा रानी शर्मा

दिनकर के जीवन-दर्शन की प्रांसगिकता बढ़ती गई है। आज हम अपने देश की अस्मिता कैसे बचा सकते हैं? कैसे विश्व शांति ला सकते हैं? और किस तरह सम्पूर्ण विनाश से विश्व को बचा सकते हैं? इन सभी ज्वलन्त प्रश्नों का उत्तर सहज ही कवि दिनकर के जीवन-दर्शन में ढूँढ़ा जा सकता है। कवि अपने जीवन काल में जितने प्रासंगिक थे उससे कहीं अधिक प्रासंगिक वे आज हैं। मानव का अस्तित्व बचाने हेतु हमें कवि दिनकर के जीवन-दर्शन को हर हाल में स्वीकारना होगा क्योंकि उनके विचार वैचारिक और चारित्रिक क्रान्ति के पर्यायवाची हैं। उनके साहित्य में वह शक्ति है, जो अनाचार, अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न के खिलाफ बगावत कर सकती है। समाज में भूचाल ला सकती है, सत्ता के मद में बेहोश राजनेताओं की नींद हराम कर सकती है और युवाओं में प्राण फूँक सकती है। कवि दिनकर की ये पंक्तियाँ-

रे! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दो, उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गाण्डीव-गदा, लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

उनके जीवन-दर्शन को समझने में कुंजी का काम देती हैं। भौतिक रूप से कवि आज हमारे बीच न होने पर भी हमारे साथ हैं। जब तक सूरज-चाँद रहेगा वे हमारे बीच ओजस्वी वाणी और तेजस्वी मुद्रा के साथ बने रहेंगे। दिनकर, प्रकाश के प्रतीक हैं, उनकी आलोक-किरणों की आज देश को अत्यन्त आवश्यकता है। आज हमें जिस क्रान्ति, दीप्ति, तेज और ओज की आवश्यकता है, वह कवि दिनकर के जीवन-दर्शन से ही सुलभ हो सकती है। आइए, हम कवि के जीवन-दर्शन को अपनाकर अपना व विश्व का मार्ग प्रशस्त करें। और कवि की तरह अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक कर्तव्य का पालन करते रहें, जैसा कि कवि ने कहा है -

मालिक, तुम्हारे इस दिए में तेल अभी बाकी है,
अंधकार को फाड़ने को मैं अभी और जलूँगा।

मरुधर बालिका विद्यापीठ, उ.मा.विद्यावाड़ी स्टे. रानी, जिला-पाली - 306115

कर्ण-चरित उद्धार और दिनकर का महान प्रयास : रश्मिरथी

धनंजय कुमार

हिन्दी के छायावादोत्तर युग की अनुपम उपलब्धियों में दिनकर व बच्चन हैं। हिन्दी के सामान्य पाठकों में भी दिनकर की ओजपूर्ण कविताओं ने नव रुचि और नव उत्साह का संचार किया। उनकी कविताओं का प्रधान स्वर अन्याय के प्रति आक्रोश का है। समाज में संस्थागत हो चुके अन्याय के प्रति आक्रोश की अभिव्यक्ति के लिए दिनकर को ऐसे नायक की तलाश थी जो उदात्त चरित्र-संपन्न होने के अतिरिक्त अनिवार्यतः पराक्रमी हो।

महाभारत के कर्ण में उन्हें मानस परिकल्पित नायक का समरूप मिल गया। महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण के कर्ण के प्रति व्यक्त उद्‌गार ध्यातव्य हैं –

त्वमेव कर्णं जानासि वेदवादान् सनातनम्।
त्वमेव धर्म शास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः।।
सिंहर्षभ गजेन्द्राणां बलवीर्य पराक्रमः।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः।।

ओजस्वी कविता की रचना में रमने वाले दिनकर का मन तेजस्वी कर्ण के व्यक्तित्व से सहज ही अभिभूत हो गया। युयुत्सा और संघर्ष कर्ण के व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे।

वैयक्तिकता का निषेध करने वाली वर्ण व्यवस्था के प्रति कर्ण के संघर्ष का आरम्भ किशोरावस्था से ही हो जाता है। किशोर कर्ण के अन्दर एक महान योद्धा होने की संभावना बीजरूप में विद्यमान थी। इस संभावना को विनष्ट करने की एक नाकाम कोशिश द्रोणाचार्य द्वारा कर्ण को शिष्य रूप में अस्वीकार किया जाना थी। परन्तु कर्ण तो मरुस्थल की वनस्पति की जिजीविषा लेकर जन्मा था, जो रेत से भी आर्द्रता सोख ही लेते हैं।

ज्ञान पर एकाधिकार की कपट क्रीड़ा का प्रतिरोध किशोर कर्ण परशुराम के समक्ष अपने वास्तविक परिचय को गोपन रखकर करता है। किशोर कर्ण का यह 'असत्य' प्रचलित व्यवस्था के क्रूर सत्य की तुलना में नगण्य था, फिर भी कर्ण शाप का भाजन बना।

वैयक्तिकता और व्यक्तित्व के हनन की ये दुष्चेष्टाएँ वर्तमान काल के लिए सर्वथा अप्रासंगिक हों, सो बात नहीं; हाँ, परिवर्तन की सुगबुगाहट अवश्य दिखने लगी है। स्वयं दिनकर के शब्दों में –'आगे मनुष्य केवल उसी पद का अधिकारी होगा जो उसके सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नहीं जो उसके माता-पिता या वंश की देन है। इसी प्रकार व्यक्ति अपने निजी गुणों के कारण जिस पद का अधिकारी है वह भी इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकेंगे। कर्ण-चरित का उद्धार एक तरह से नयी भावना की स्थापना का ही प्रयास है।' कर्ण का दलित आत्मगौरव यौवनकाल में अर्जुन को चुनौती देने के बहाने पूरी व्यवस्था के जड़ प्रतिमानों को चुनौती देता है –

तूने जो-जो किया, उसे मैं भी दिखला सकता हूँ,
चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ

कर्ण के जातीय परिचय की आड़ में कृपाचार्य द्वारा जब वैयक्तिकता के उद्‌घोष के स्वर को शमित करने का पुनः प्रयास होता है तो कर्ण का संचित आक्रोश फूट पड़ता है–

जाति-जाति रटते, जिनकी पूँजी केवल पाखंड,
मैं क्या जानूँ जाति? जाति हैं ये मेरे भुजदण्ड।
...पढ़ो उसे जो झलक रहा है मुझमें तेज प्रकाश,
मेरे रोम-रोम में अंकित है मेरा इतिहास।

दिनकर पूरे विश्व को अपने हृदय में समेटने वाली सहानुभूति को आदर्श मानते थे। उन्हीं के शब्दों में देखिए – 'भारत का मन राष्ट्रीय कम, अन्तरराष्ट्रीय अधिक रहा है। तब

भी, दासता से मुक्ति पाने के लिए हमने राष्ट्रीय विशेषण को स्वीकार कर लिया, सिर्फ इस भाव से कि राष्ट्रीयता के जागरण के बिना दासता का अन्त असम्भव है।'' कवि राष्ट्र की सीमा को भी स्वीकार नहीं करना चाहता और यह उस सरीखे महान कवि के लिए स्वाभाविक ही है क्योंकि विस्तार ही जीवन है और संकुचन मृत्यु। हृदय के विस्तार से ही परपीड़ा की समानुभूति की क्षमता मनुष्य में आती है और तभी वह प्रत्युपकार की लालसा किये बगैर अपना सर्वस्व भी उत्सर्ग कर पाता है। दान इसी विस्तार का व्यवहार में आंशिक रूपायन है। दिनकर की दृष्टि में दान करने की क्षमता उदात्त चरित्र का सबसे प्रमुख लक्षण है। यह क्षमता संसार में विरले लोगों में ही पायी जाती है। तमिल की गीता कही जाने वाली पुस्तक 'तिरुक्कुराल' दान के विषय में कहती है –

आर्रूवार आर्रल् पसियार्रल
अप पशियै मार्रूकर आर रलिर पिन्।

(अर्थात् अपनी क्षुधा पर विजय प्राप्त करने वाला आत्मबली तो है किन्तु दूसरों की क्षुधाग्नि शान्त करने के लिए दान देने वाला अधिक आत्मबली है।)

कर्ण ऐसे विरले आत्मबलियों में से एक था। देवराज इन्द्र की कपट मंशा को भाँप कर भी उन्हें निःशंक करने के लिए वह कहता है :

विप्रदेव माँगिए छोड़ संकोच वस्तु मनचाही,
मरूँ अयश की मृत्यु करूँ यदि एक बार भी नाही।

कर्ण का यह जानबूझकर 'छला जाना' उसके चरित्र को और उज्ज्वल बनाता है।

जीवन देकर जय खरीदना, जग में यही चलन है,
विजय-दान करता न प्राण को रखकर कोई जन है,
मगर, प्राण रखकर प्रण अपना आज पालता हूँ मैं,
पूर्णाहुति के लिए विजय का हवन डालता हूँ मैं।

कर्ण की इस वीरता से इन्द्र का भी हृदय परिवर्तित हो जाता है और वे कर्ण को एकाघ्नि देने के लिए विवश हो जाते हैं।

कर्ण-कुन्ती प्रसंग में दिनकर ने कर्ण को उपेक्षित पुत्र की भूमिका में रखा है। माता की कठोर उपेक्षा के कारण कर्ण लांछन भरा अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश हो जाता है। अतएव इस प्रसंग में माता द्वारा अप्रत्याशित स्नेह के प्रदर्शन पर उसका संचित विक्षोभ फूट पड़ता है। परन्तु कर्ण तो स्वभावतः ही उदारमना है जिसका नेह सब पर है और जिसकी दया सबके प्रति है। फिर जननी के प्रति वह कब तक कठोर रह सकता था। कर्ण मित्र-धर्म के निर्वाह के अर्थ अर्जुन को छोड़ शेष समस्त भाइयों को युद्ध में नहीं मारने का विलक्षण संकल्प करता है।

दान के अतिरिक्त कृतज्ञता भी श्रेष्ठ पुरुषों में पायी जाती है। स्वल्प सहायता भी उचित समय पर किये जाने पर अमूल्य हो जाती है, फिर दुर्योधन ने तो रंगभूमि में व्यंग्य के तीक्ष्ण बाणों से हतप्रभ कर्ण को उबारने के लिए उसे अंग प्रदेश का राजा ही घोषित कर दिया। कृतज्ञता और मित्र के प्रति प्रेम के वशीभूत होकर ही कर्ण कुन्ती के आग्रह को ठुकराता हुआ कहता है –

जोड़ने नहीं बिछुड़े वियुक्त कुल जन से
फोड़ने मुझे आई हो दुर्योधन से।

कपटी दुर्योधन का साथ देने के बावजूद भी कदाचित् कृतज्ञता की कर्तव्य भावना से प्रेरित होने के कारण ही कर्ण का व्यक्तित्व किंचित भी मलिन नहीं होता।

द्रौपदी का चीर हरण ही एक ऐसा प्रसंग है जहाँ कर्ण का आहत अभिमान उसे नारी की अस्मिता की रक्षा के लिए विरोध का स्वर भी मुखरित नहीं करने देता। दिनकर ने कर्ण-अर्जुन युद्ध के प्रसंग में कर्ण से पश्चाताप व्यक्त करवाकर इस कलंक को धोने की कोशिश की है। द्रौपदी चीर हरण के प्रसंग को छोड़ दिया जाये तो कर्ण का चरित्र सर्वथा निष्कलंक है।

कर्ण के युद्ध में सेनापति बनने तक युद्ध समस्त मर्यादाओं के अतिक्रमण से वीभत्स स्वरूप गहण कर चुका था परन्तु कर्ण पुनः मर्यादा की स्थापना करने की कोशिश करता है। नागवंश के सर्प अश्वसेन के उसके तूणीर पर सवार हो अर्जुन को डँसने देने के आग्रह को अस्वीकार करता हुआ वह कहता है –

उस पर भी साँपों से मिलकर,
मैं मनुज, मनुज से युद्ध करूँ?
जीवन भर जो निष्ठा पाली, उससे आचरण विरुद्ध करूँ?
संसार कहेगा जीवन का, सब सुकृत कर्ण ने क्षार किया।
प्रतिभट के वध के लिए सर्प का, पापी ने साहाय्य लिया।

कर्ण ने तो अधर्म का आश्रय नहीं लिया परन्तु अर्जुन ने नीतिज्ञ कृष्ण का कहा सुन अवश्य अधर्म का आश्रय ले लिया। कर्ण के रथ का पहिया पंक में फँस गया और निःशस्त्र, पहिया निकालते कर्ण को अर्जुन ने अपने बाणों से बींध डाला।

कर्ण के जीवन का सूर्य इस प्रकार अस्त हो गया परन्तु उसकी प्रभा का तूर्य अनन्त काल तक समष्टि को व्यष्टि के माहात्म्य का आख्यान करने के लिए बजता रहेगा।

दिनकर कर्ण-चरित के उद्धार के माध्यम से अपने अभीष्ट की अर्थात् नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना में कितना सफल हो सके हैं इसका आकलन तो श्रेष्ठ आलोचक ही कर सकते हैं किन्तु इतना तो तय है कि एक सामान्य पाठक भी रश्मिरथी को पढ़कर निरपेक्ष परिचय की महत्ता का बोध करेगा और परंपरा की धूल से धुँधली हुई उसकी दृष्टि कुछ तो अवश्य साफ होगी।

इंदिरा कॉलोनी, आदित्यपुर-2, जमशेदपुर, झारखण्ड-831013

मंजिल दूर नहीं है...

आशुतोष शुक्ल

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय और सबसे बढ़कर मानवीय भावनाओं एवं कृत्यों से ओत-प्रोत गद्य और पद्य लिखकर न केवल साहित्य को समृद्ध बनाया बल्कि अपने साहित्य के माध्यम से मानवता के प्रति मानव के कर्तव्य को भी चित्रित किया। परिणामस्वरूप 'दिनकर' ने छायावादोत्तर युग के साहित्येतिहास में एक गौरवपूर्व अध्याय जोड़ दिया। जब छायावादी कवि अलौकिक जगत् में विचरण कर रहे थे तो दिनकर लौकिक जगत की सच्चाइयों से सराबोर साहित्य के सृजन में जुटे थे।

'दिनकर' का साहित्य हताश, बेसहारा, कुण्ठित, क्षुधित, दमित, पीढ़ी में ऊर्जा का संचार कर उन्हें राष्ट्र व प्राणिमात्र के प्रति उनके दायित्वों के निर्वहन की चेतना भी प्रदान करता रहा। निश्चित रूप से साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद से पीड़ित देश के लिए 'दिनकर' का साहित्य नवजागरण का प्रतीक साबित हुआ और यह नवजागरण सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक; लगभग हर क्षेत्र में दिखायी भी पड़ता है।

'दिनकर' की कविताओं में दुःख, व्यंजना, करुणा, पीड़ा, लगभग सभी तत्वों का समावेश है। वह आमजन के दुःख से दुःखी दिखायी पड़ते हैं। करुणा का सागर भी उन्हीं के लिए है जो दो वक्त की रोटी भी नहीं जुटा पाते। ऐसे में कवि हृदय की संवेदनशीलता भला कैसे चुप रह सकती है। आखिर सृजनशीलता तभी सार्थक होती है जब उसका क्षितिज अत्यंत व्यापक हो और वह प्राणि-मात्र के हित में उपजी हो! 'दिनकर' के साहित्य में भारतीय संस्कृति का औदात्य और उत्कृष्टता के साथ-साथ गौरवशाली अतीत भी प्रतिबिंबित होता है। 'दिनकर' की रचनाओं की कथावस्तु में इनका दर्शन किया जा सकता है। चाहे वह 'कुरुक्षेत्र' हो या फिर 'उर्वशी' और 'रश्मिरथी'। ये सभी रचनाएँ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर तो रची गयी हैं लेकिन इनका उद्देश्य और विचार वर्तमान से भी अनुप्राणित है।

'दिनकर' के गद्य और पद्य साहित्य की शृंखला बड़ी लम्बी है। काव्य साहित्य में 'प्रणभंग' से प्रारंभ होकर 'रेणुका', 'हुंकार', 'रसवंती', 'द्वंद्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'नील कुसुम', 'चक्रवाल', 'कविश्री', 'सीपी और शंख' और 'नये सुभाषित' जैसी रचनाएँ उनके काव्य सृजन की समृद्धि की परिचायक हैं तो गद्य लेखन में 'मिट्टी की ओर', 'हे राम', 'संस्कृति के चार अध्याय', 'उजली आग', 'वेणु वन', 'धर्म, नैतिकता और विज्ञान' आदि उनके गद्य के प्रति समर्पण के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इन सभी कृतियों के माध्यम से 'दिनकर' ने अनेकानेक समस्याओं से लोगों को रू-ब-रू कराया। लेकिन साथ ही वे द्वंद्व में भी उलझे नजर आते हैं। यदि 'हुंकार' में विद्रोह और विरोध का ओजस्वी स्वर मुखरित होता है तो 'कुरुक्षेत्र' में 'दिनकर' राष्ट्र और क्षेत्र की सीमा से परे जाकर युद्ध को सम्पूर्ण मानवता के लिए अभिशाप घोषित करते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध से, जब पूरा विश्व दहल उठा, निर्दोष मारे गए, बच्चे अनाथ हो गए और नवयुवतियाँ विधवा, तो 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' के रण को याद करते हुए युद्ध जैसी भीषण विपत्ति के दुष्परिणामों के प्रति लोगों को चेताया। 'कुरुक्षेत्र' की भूमिका में वे प्रश्न करते हैं कि - *'युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु, उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है?'* शील, करुणा और प्रेम-व्यवहार

की बलि चढ़ाकर मानव जिस कदर स्वार्थ साधने में तल्लीन है उससे भी दिनकर का कवि हृदय छलनी हो चुका है। कुछ पंक्तियाँ देखिए -

अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान;
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार।

'उर्वशी' और 'रश्मिरथी' में 'दिनकर' के अंतर्द्वंद्व लेखनी के माध्यम से यथार्थ के धरातल पर उतर आते हैं। 'उर्वशी' में जहाँ प्रेम और अध्यात्म में से किसी एक का चुनाव मुश्किल हो रहा है तो 'रश्मिरथी' में मनुष्यों द्वारा बनायी गयी आपसी द्वेष, ईर्ष्या व भेदभावपरक व्यवस्था से दिनकर का कविमन घायल दिखता है।

दरअसल, 'दिनकर' की दृष्टि वंचना, पीड़ा और शोषण को तो देखती ही है, किसी भी राष्ट्र की संस्कृति और एकता की वाहक भाषा पर भी उनकी पैनी नजर है। जब 'दिनकर' अपने रचना कर्म में तल्लीन थे तो हिंदी में नए-नए प्रयोग भी हो रहे थे। हिंदी कविताओं में छंदबद्धता से इतर काव्य-लेखन भी हो रहा था। चूंकि 'दिनकर' का दृष्टिकोण किसी काल या दशक तक सीमित नहीं था, फिर कविता उनको विशेष प्रिय थी, इसलिए वे इस बात की फिक्र में रहते थे कि भविष्य की कविताओं का स्वरूप क्या होगा। नयी कविता जो गद्य-शैली में लिखी जा रही थी, को लेकर 'दिनकर' काफी उलझन में रहे और बड़ी जद्दोजहद के बाद नयी कविता को स्वीकारोक्ति दी। वे लिखते हैं- *'नयी कविता से मेरे घबराने का कारण यह था कि वह मेरी समझ में नहीं आती थी। दूसरे, उसने छन्द की राह छोड़ दी थी। किन्तु जब मैंने देखा कि चित्रकारी बालू और कोलतार से तथा मूर्तिकारी लोहे के तारों से की जा रही है, तब मैंने भी यह मान लिया, कि कविता का गद्य में लिखा जाना कोई अनुचित बात नहीं है।'* इतना ही नहीं, राष्ट्रकवि दिनकर कविता लिखने के पीछे के उद्देश्य को भी टटोलते हैं - *'जीवन भर मैं इस विचिकित्सा में पड़ा रहा हूँ कि कविता का वास्तविक प्रयोजन क्या है। क्या वह मनुष्य को जगाने, सुधारने और उन्नत बनाने के लिए है या उसका काम आदमी को रिझाना और प्रसन्न करना है। या इनमें से कोई भी ध्येय कविता का ध्येय नहीं है? ...मेरी दृढ़ धारणा है कि कविता व्यक्ति द्वारा सम्पादित सामाजिक कार्य है और शुद्ध कविता भी समाज के लिए ही लिखी जाती है।'*

किसी भी साहित्यकार का अपनी भाषा के प्रति प्रेम और आदर बहुत सामान्य-सी बात है। और लगभग हर साहित्यकार यह भी चाहता है कि जिस भाषा में वह साहित्य रचना करता है, उसका प्रचार-प्रसार दूर-दूर तक हो। हिंदी भाषा-साहित्य के बारे में भी न केवल साहित्यकारों का बल्कि आम जन-मानस का भी यही सोचना है कि उसकी भाषा को देश-विदेश में प्रतिष्ठा मिले। पराधीन भारत में हिंदी ने सबको जोड़ा था और आजादी में बड़ा योगदान दिया था, जिससे यह उम्मीद जगी थी कि स्वाधीन भारत में हिंदी अपना समुचित स्थान पा सकेगी। अफसोस, गुलाम भारत में 'बाबू' निर्मित करने वाली अंग्रेजी का मोह-संवरण अभी भी भारत का 'एलीट क्लास' नहीं कर सका है। 'दिनकर' भी भाषा के इन्हीं प्रश्नों पर विचार करते दिखायी पड़ते हैं - *ज्ञान का साहित्य मनुष्य किसी भी भाषा में लिख सकता है, जिसे उसने भली-भाँति सीख लिया हो, किन्तु रस का साहित्य वह केवल अपनी भाषा में रच सकता है। प्रत्येक ऐसे देश की आत्मा जिसका कोई इतिहास है, उस देश की भाषा बोलती है। ...अपनी भाषा की उन्नति करना और उन्नत देशों की भाषाएँ सीखना; ये दोनों परस्पर विरोधी कार्य नहीं है। किंतु, भारत को यदि मौलिक राष्ट्र बनना है, तो उसकी अपनी भाषाओं को सर्वाधिक महत्व देना ही पड़ेगा।* 'दिनकर' के ये विचार तब और भी प्रासंगिक हो जाते हैं, जब हम देखते हैं कि पैसे की होड़ और भूमंडलीकरण के पूँजीवादी मकड़जाल में फँसकर आज हिंदी दुर्दशा की शिकार हो चली है। यहाँ तक कि भाषा की रूप-रेखा व दशा-दिशा बाजार तय करने लगा है और सबसे दुःखद बात यह है कि 'निज भाषा उन्नति अहै' का ढोल पीटने वाले लगभग सभी प्रयास रंगारंग आयोजन व छलावा मात्र रह गए हैं।

'दिनकर' ने पराधीन भारत से लेकर स्वाधीन भारत तक की यात्रा की थी। हर वो लम्हा, जो 'दिनकर' के साथ बीता, बड़ी ही जिंदादिली के साथ उन्होंने उसे अपनी रचनाओं में पिरोया। वह अनुभव, वह वेदना, वह कसक सब-की-सब 'दिनकर' की लेखनी में उतर आयी है। 'दिनकर' ने देखा कि हमारे देश को तो आजादी मिल गयी है लेकिन अभी हम वास्तविक आजादी से मीलों दूर हैं। समाज विभाजित है, महिलाओं व बच्चों की दशा दयनीय है, व्यवस्था में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। इन विसंगतियों के पीछे 'दिनकर' स्वघोषित जननायकों को भी उत्तरदायी मानते हैं। 'दिनकर' ने अपने जीवन के अनेक वर्ष दिल्ली में बिताये थे लेकिन दिल्ली में रहकर भी वे गाँवों की बदहाल दशा के प्रति हमेशा चिंतित रहे। ग्रामीण जीवन के लिए उनका मोह और समर्पण बार-बार उन्हें इस बात की याद दिलाता रहा कि भारत वैसा नहीं है जैसा दिल्ली में दिखायी पड़ता है बल्कि भ्रष्टाचार व स्वार्थपरकता उसे खोखला बनाए दे रहे हैं। विक्षुब्ध होकर उनकी कलम बदहाल भारत की कुछ ऐसी तस्वीर पेश करती है -

समझाये उनको कौन, नहीं भारत वैसा
दिल्ली के दर्पण में, जैसा वह लगता है?
...भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्तियों के घेरे में।
दिल्ली में तो है खूब ज्योति की चहल-पहल,
पर भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।

सादा जीवन, सरल स्वभाव, उच्च विचार और त्याग की प्रतिमूर्ति दिनकर माल-असबाब की आकांक्षा को कलह का एक बड़ा कारण मानते हैं। 'दिनकर' ने जब देखा कि हर तरफ

संपत्ति अर्जन की हाय-हाय मची है, भाई-भाई का दुश्मन बन बैठा है, मानवीय मूल्य अधर में जा चुके हैं, तो इन सब से आजिज आकर वे लिखते हैं –

मुझ को न कहीं कुछ पाना है, केवल ऋण मात्र चुकाना है;
जीवन का मूल समझता हूँ, धन को मैं धूल समझता हूँ।

इन विसंगतियों की भयावहता के बावजूद 'दिनकर' हार मानने को तैयार नहीं हैं। वे एक बेहतर विश्व की तलाश में संधान करते हैं। जीवन को आशा की प्रतिलिपि मानते हुए विपत्तियों की आँधी में भी अपनी आशा का दीपक जलाए रखते हैं –

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल, दूर नहीं है;
थककर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।

सच है, 'दिनकर' ने समाज को मानवता की सच्ची तस्वीर दिखाने का साहसी कार्य किया, वे न तो किसी वाद से बँधे और न ही किसी विशेष रंग में रंगे थे बल्कि उनका व्यक्तित्व और कृतित्व देश और काल निरपेक्ष था।

गायत्रीपुरम, सिविल लाइन्स, गोण्डा, उत्तर प्रदेश-271001

दिनकर जी की देन

हरीश चंद्र खत्री 'निर्भय'

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने उर्वशी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, रसवंती, रेणुका, हुंकार, इतिहास के आँसू, सीपी और शंख, नीम के पत्ते, आत्मा की आँखें, धूप और धुँआ, हारे को हरिनाम, परशुराम की प्रतीक्षा, द्वंद्वगीत जैसे काव्य लिखे। इनके अलावा अनेक गद्य भी लिखे।

इतिहास में स्नातक ऑनर्स होने के कारण दिनकर के लेखन पर ऐतिहासिक घटनाओं की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। जैसे कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी आदि में महाभारत की घटनाओं के सटीक एवं हृदयस्पर्शी वर्णन हैं। महाभारत में श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश तो सभी जानते हैं, लेकिन दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' नामक ग्रंथ में श्री कृष्ण द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर को भी एक उपदेश दिया है। महाभारत का युद्ध समाप्त होने के बाद, धर्मराज युधिष्ठिर राजतिलक करवाने को तैयार नहीं हो रहे थे और संन्यास ग्रहण कर वनवास जाना चाहते थे, तब श्री कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं, दिनकर के शब्दों में :

धर्मराज संन्यास खोजना कायरता है मन की, / है सच्चा मनुजत्व ग्रंथियाँ, सुलझाना जीवन की
धर्मराज कर्मठ मनुष्य का, पथ सन्यास नहीं है, / नर जिस पर चलता, वह मिटटी है, आकाश नहीं है।

इसी तरह भारतीय व्यवस्था का निर्भीकता से वर्णन करते हुए 'परशुराम की प्रतीक्षा' नामक काव्य में दिनकर लिखते हैं –

पर कदम-कदम पर यहाँ खड़ा पातक है, / हर तरफ लगाये घात खड़ा घातक है।

दिनकर एक जगह लेखक की चिंता करते हुए लिखते हैं कि *जिस समाज में हम जीते हैं, उसके प्रोपराइटर राजनीतिज्ञ और मैनेजर अफसर हैं। मनीषी उस समाज का मजदूर है और अगर वह लेखक है तो ऐसा अभागा मजदूर है कि अपने पेशे से उसकी रोजी नहीं चलती, उसे कोई और काम भी करना पड़ता है।* दिनकर के बारे में कुछ भी लिखना सूरज को दिया दिखाने जैसा होगा, फिर भी, कलम के इस मजबूत सिपाही की जन्मशती पर उन्हीं की एक कविता याद आ जाती है –

अन्धा चकाचौंध का मारा, क्या जाने इतिहास बेचारा, / जिनकी महिमा के साक्षी हैं सूर्य, चंद्र, भूगोल-खगोल,
कलम आज उनकी जय बोल। कलम आज उनकी जय बोल।

6-बी, नव कला अपार्टमेंट, प्लाट नं.-14, इन्द्रप्रस्थ विस्तार, दिल्ली-110092

कुरुक्षेत्र का जीवन दर्शन

डॉ. दीपक प्रकाश त्यागी

रामधारी सिंह 'दिनकर' के लिए 1930 ई. का समय विशेष महत्वपूर्ण है। यहीं से साहित्य व संस्कृति के माध्यम से राष्ट्र निर्माण का स्वप्न मूर्त रूप लेता हुआ दिखाई देता है। साहित्य की दृष्टि से छायावाद की वृहद्त्रयी के प्रतिष्ठित होने का समय है और इस समय तक पंत का 'पल्लव' और 'वीणा', प्रसाद का 'प्रेम-पथिक' और 'आँसू' तथा निराला की 'अनामिका' छप चुकी थी, जिसका संस्कार दिनकर में दिखाई देता है। राजनीतिक दृष्टि से इस समय तक आते-आते उपनिवेशवाद-सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष तीव्र से तीव्रतर हो रहा था और गांधी जी का नेतृत्व स्थापित हो चुका था। यहीं से दिनकर की काव्य-यात्रा में विद्रोह का भैरव हुंकार सुनाई देने लगता है। 1933 में 'नई दिल्ली' एवं 'हिमालय' नामक कविताओं के माध्यम से उन्होनें साहित्य को स्वाधीनता के सिंहनाद का तेवर दे दिया था। इन्हें गांधी जी के सत्याग्रह ने जितना प्रभावित किया उससे कहीं अधिक चंद्रशेखर आजाद तथा भगत सिंह के क्रांतिकारी विचारों ने। हिमालय कविता में दिनकर का आक्रोश है–

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दो उनको स्वर्गधीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा, लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।

गांधीवाद से प्रभावित होकर 'कलिंग-विजय' लिखने वाला कवि 'कुरुक्षेत्र' में द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व की उन्माद भरी अराजक स्थितियों की चीड़-फाड़ करते हैं। साथ ही, उसके कारणों की खोज करते हुए शांति के लिए युद्ध के औचित्य पर विचार करते हैं। 'कुरुक्षेत्र' उनके उपनिवेश विरोधी तापमान को व्यक्त करने वाली कविता है, जिसकी पृष्ठभूमि 'नई दिल्ली', 'हाहाकार', 'अनल-किरीट, 'हिमालय', 'विपथगा' और 'जवानियाँ' जैसी उपनिवेशवाद विरोधी कविताओं से निर्मित होती है। डॉ. विजेंद्र नारायण सिंह ने लिखा है, 'कुरुक्षेत्र' उपनिवेशवाद के तहत कवि के आत्मसंघर्ष की काव्यात्मक परिणति है। सरकार ने उन्हें युद्ध प्रचार विभाग में पदस्थापित कर दिया था और उन्हें उस सरकार के युद्ध उपक्रम का समर्थन करना पड़ रहा था, जिस सरकार के विरोध में उन्होनें देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी थीं। उनके भीतर 1945 ई. तक पर्याप्त मनस्ताप भर गया था और आत्मग्लानि की बूंद-बूंद कविता के द्रव्य के रूप में बरसने लगी। उनका रचनात्मक मन अभिव्यक्ति के लिए कसमसा रहा था। उनका सर्जनात्मक मन धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व का, अपनी विवशता का प्रतिरूप 'महाभारत' के भीष्म में देखने लगता है और कुरुक्षेत्र का मिथक उनकी उपनिवेशवाद विरोधी चेतना में उभरने लगता है।' 'दिनकर' का राष्ट्रवादी कवि व्यक्तित्व 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म में अपने ही व्यक्तित्व का प्रक्षेपण कर मनुष्यता के निर्माण का एक नया पथ सृजित करता है–

धर्म, स्नेह दोनो प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,
अतः एक को देह, दूसरे, को दे दिया हृदय था
धर्म पराजित हुआ, स्नेह का, डंका बजा विजय का,
मिली देह भी उसे, दान था, जिसको मिला हृदय का।

उत्तर छायावादी काव्यान्दोलन में भगवतीचरण वर्मा, हरिवंश राय बच्चन के बीच दिनकर महत्वपूर्ण हैं। दिनकर के विषय में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'कल्पना की ऊँची उड़ान, विषम परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की उमंग और सामाजिक चेतना की तीव्रता के कारण 'दिनकर' प्रथम दो कवियों से एकदम भिन्न श्रेणी के है। दिनकर की उमंग और मस्ती में सामाजिक मंगलाकांक्षा का प्राधान्य है।' कहना न होगा कि दिनकर की मंगलाकांक्षा का विराट रूप 'कुरुक्षेत्र' में मिलता है। यह द्वितीय विश्वयुद्ध का समय था, लेकिन जैसे स्वयं दिनकर ने स्पष्ट किया है, 'कुरुक्षेत्र में विश्वशांति की स्थापना की चिंता कम, अपने देश-वासियों की विचार-दिशा बदलने की भावना ज्यादा है। यह इस विचार से प्रेरित था कि 'अहिंसा अगर परम धर्म है, तो हिंसा को आपद धर्म मानना

ही पड़ेगा।' हिंसा और अहिंसा, युद्ध और शांति का द्वंद्व इसमें महाभारत की कथा के सहारे व्यक्त किया गया है। भीष्म का यह प्रश्न दिनकर का भी प्रश्न है-

समर निन्द्य है धर्मराज, पर कहो, शांति वह क्या है,
जो अनीति पर स्थित होकर बनी हुई सरला है?

युद्ध जिसमें हिंसा अनिवार्य है, तभी होता है जब अन्याय पर आधारित शांति, न्याय की मांग को अस्वीकार कर देती है-

शांति नहीं तब तक जब तक सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।

शांति, न्याय, समता की स्थापना के बहाने मनुष्य को उसकी मनुष्यता से जोड़ना 'कुरुक्षेत्र' के अनेक उद्देश्यों में से एक है। बुद्धि एवं हृदय के समन्वय का राग 'कामायनी' में भी है और 'दिनकर' में भी। ऐसा लगता है कि 'दिनकर' के समक्ष आज की पूरी मानवता का वर्तमान और भविष्य है।

'कुरुक्षेत्र' की कथा सात सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग में युधिष्ठिर के पश्चाताप और आत्मग्लानि की कथा वर्णित है। महाभारत समाप्त हो चुका है। इस भयानक युद्ध में असंख्य जनों का जो भयानक संहार हुआ था, उससे कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि, कर्मभूमि अभी तक रक्तरंजित है। एक ओर पांडवों का विजयोल्लास के वातावरण में हर्ष निनाद है, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर का पश्चाताप एवं आत्मग्लानि में डूबा मन द्वंद्वग्रस्त है कि वह महासमर क्यों हुआ? और उसका परिणाम क्या हुआ? इन दो प्रश्नों से टकराते हुए आत्म मूल्यांकन में डूबे हुए हैं। उनकी दृष्टि में पांडवों की असहिष्णुता, स्वार्थपूर्ति कामना और द्रौपदी की प्रतिज्ञा ने इस नरसंहार को जन्म दिया, फिर भी शांति नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में पथ प्रदर्शन के लिए वे भीष्म के पास जाते हैं।

दूसरे सर्ग में व्यथित युधिष्ठिर वाणों की शैया पर लेटे भीष्म के समक्ष आते हैं। उनका मन चीत्कार उठता है कि इस महान विजय के उपरांत भी वे अपने को पराजित महसूस करते हैं। यदि मैं जानता कि महाभारत के युद्ध का इतना भयानक रूप होगा, तो कभी भी युद्ध के लिए तत्पर नहीं होता और अपने भाइयों को लेकर युद्ध की सीमा से दूर निकल जाता किंतु मुझे भीम की गदा पर, अर्जुन के गांडीव धनुष पर और अपनी तलवार पर अभिमान था। इस अभिमान ने ही मुझे बेचैन कर अशांति के गहरे गर्त में गिरा दिया है। भीष्म, युधिष्ठिर की दुखद एवं त्रासद स्मृतियों, चिंताओं को दूर करने के लिए युद्ध की आवश्यकता के तार्किक, सांस्कृतिक, मूल्यधर्मी पक्षों की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं और यह व्यवस्था देते हैं कि तुम्हारा यह भ्रम है कि महाभारत पांडवों की असहिष्णुता का प्रतिफल है। हिंसा पाप है, पर जब इसके द्वारा स्वत्व की रक्षा की जाती है तो यह पुण्य है।

तीसरे सर्ग में भीष्म ने युधिष्ठिर की दो शंकाओं का समाधान किया है-युद्ध एवं शांति। युधिष्ठिर की धारणा है कि युद्ध होने के पीछे वे स्वयं जिम्मेदार हैं, जिससे समग्र देश की शांति नष्ट हो गयी। लेकिन भीष्म उनकी इस बात का खंडन करते हैं और समझाते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर, युद्ध तुम्हारे कारण नहीं हुआ बल्कि इसके पीछे धर्म एवं नीति की स्थापना है -

पापी कौन? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला?
या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ाने वाला?

चतुर्थ सर्ग में दिनकर जी का प्रतिपाद्य है-महाभारत के आविर्भाव के कारण। इन कारणों का उन्होंने बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं तर्कसंगत विश्लेषण किया है। साथ ही इसमें हृदयवाद एवं मस्तिष्कवाद की समीक्षा भी है, जो कामायनी के इड़ा एवं श्रद्धा के द्वंद्व की याद दिलाता है। भीष्म की धारणा है कि महाभारत में जितने भी अनर्थ हुए, वे सब उनके अतिशय बुद्धिवाद से हुए-

बुद्धि शासिका थी जीवन की, अनुचर मात्र हृदय था,
मुझसे कुछ खुलकर कहने में, लगता उसको भय था,

इस सर्ग में भीष्म ने भी अपनी भूमिका का मूल्यांकन किया है।

इस पाँचवें सर्ग में गत युग का चित्रण है, जिसमें एक तरफ तो युद्ध की भयावहता का कारण है, तो दूसरी तरफ युधिष्ठिर के शंकाकुल, व्यथित, द्वंद्वग्रस्त हृदय एवं मस्तिष्क का चित्रण है। अंत में दिनकर के आशावादी मन की कल्पना है कि 'कुरुक्षेत्र' का नरसंहार मानवता की इतिश्री नहीं, बल्कि यह मानवता के नवधर्म को प्रज्ज्वलित करेगा-

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की, मानव ऊपर और चलेगा।
मनु का यह पुत्र निराश नहीं, नवधर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।

'कुरुक्षेत्र' का छठा सर्ग विचार प्रधान है, अन्य सर्गों की भाँति इस सर्ग में कोई कथा नहीं है, इसलिए स्वयं कवि के शब्दों में *पूरा छठा सर्ग ऐसा क्षेपक है, जो इस काव्य से टूटकर अलग भी जा सकता है।* इस सर्ग में दिनकर की मूल चिंता मनुष्य एवं उसकी मनुष्यता के विघटन व अवमूल्यन के कारणों की खोज करना है। यह मानवतावाद ही 'कुरुक्षेत्र' एवं इस सर्ग का मूल प्रतिपाद्य है, क्योंकि इसी से बंधुत्व एवं मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा। मनुष्य का हृदय संकुचित हो गया है, चारों तरफ अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार एवं भोगलिप्सा का युद्ध मचा हुआ है, इसलिए कवि छठे सर्ग के माध्यम से समाधान खोजना चाहता है और इसीलिए कवि की आकांक्षा है, उनकी चिंता भी-

धर्म का दीपक, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान?

इस पृथ्वी पर अनेक महापुरुष आए, उन्होंने अपने उपदेशों के माध्यम से मनुष्यता को ज्ञान की ज्योति का दर्शन कराया किंतु मनुष्य उन्हें अपने आचरण में नही उतार पाया, इसीलिए वह आज भी अन्याय और अत्याचार के कुत्सित अभियान में लगा है। आज भी वह हिंसा से ही प्रेम करता है उसका हृदय क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष से भरा हुआ है। मनुष्य भौतिक उपलब्धियों के चरम शिखर पर है, उसने संसार के गूढ़ रहस्यों को जान लिया है, प्रकृति के बहुत से रहस्यों को समझ लिया है। उसके चरणों के नीचे सम्पूर्ण धरती है तथा मुट्ठी में सम्पूर्ण आकाश बंद है, किंतु इन उपलब्धियों के बीच उसका हृदय प्रदेश शुष्क हो गया है चूँकि अब कोमल भावनाओं, स्नेह, बलिदान जैसे तत्व भी उसके भाव जगत् में नहीं आते, इसलिए मनुष्य का विकास एकांगी है। सम्पूर्ण विश्व वासना के पीछे पागल बना भटक रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के जीवन में मस्तिष्क एवं हृदय दोनों का समन्वय हो। इसी समन्वय से मनुष्यता की दिव्य ज्योति का प्रकाश फैलेगा अतएव मनुष्य का श्रेय है-

श्रेय उसका, प्राण में बहती प्रणय की वायु।
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।

इसी से समता, न्याय पर आधारित नये मनुष्य समाज का निर्माण होगा, जहाँ किसी भी प्रकार का शोषण नहीं होगा; धर्म से अनुप्राणित मनुष्य का एक नया, पवित्र इतिहास बनेगा, जिसमें आनंद, उल्लास, संतोष जैसे तत्व सभी मनुष्यों के हृदय में भरे होगें। मनुष्य एक-दूसरे के साथ परस्पर प्रेम के बंधन में बंध जायेगें।

सौम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी, विश्व में भगवान।

कहना न होगा कि जैसे तुलसीदास ने रामराज्य की परिकल्पना के माध्यम से एक नये समाज, मूल्य व्यवस्था का स्वप्न दिखलाया था। ठीक उसी तरह से दिनकर ने भी आधुनिक युग में मनुष्य को समता, न्याय, प्रेम एवं मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज का स्वप्न दिखलाकर मानवता, सभ्यता और संस्कृति का नया अध्याय लिखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। दिनकर का अदम्य विश्वास है कि प्रत्येक प्रकार के युद्ध के भय से वसुधा मुक्त होगी। स्नेह एवं समता की नींव पर ही नवविश्व का निर्माण होगा और यही 'कुरुक्षेत्र' में उनकी कामना भी है-

श्रेय होगा मनुज का समता विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिंचित न्याय पर नव निधि का निर्माण।

संपादक : 'प्रस्थान', ए-317, सूरजकुण्ड कॉलोनी
गोरखपुर (उ. प्र.) - 273015

आह्वान

आकृति शशांक

दिनकर!
तुमने तो आँखे मूँद लीं
हरि के चरणों में परम शांति ढूँढ ली,
पर जाते-जाते रोते भारत के बारे में सोचा होता,
दो घड़ी रुककर इसके आँसुओं को पोंछा होता।
घृणा-द्वेष के कोहरे में हर पल गलता है
जाति-धर्म की चिंगारी में तिल-तिल कर जलता है।
जलती है संस्कृतियाँ भी
और आशा का दिनकर ढलता है।
इन सबसे भागकर यह जाए तो कहाँ जाए,
अपना खोया सम्मान कहाँ से लाए।
बोलो! कहाँ जाए यह
सुनने तुम्हारा वह सिंहनाद,
पर्वत को डिगाने वाला
वह शंखनाद कहाँ पाए!
कहाँ से पाए यह,
वह हिमालय-सा ऊँचा स्वाभिमान
सागर जितनी गहरी-गहरी
वे युगद्रष्टा नजरें कहाँ से लाए।
दिनकर!
तुम बस एक बार आ जाओ
और सारी दुनिया को अपना हुंकार सुना जाओ।
बुझते हुए सूर्य में अपना तेज डाल दो।
और भूले भारत को रास्ता दिखा जाओ।
इसे यूँ मत दुत्कारो
ये तो तुम्हारा ही देश है
देखो! इस कदर हमसे मुँह मत मोड़ो
क्योंकि तुमने जो शुरू किया था
वह समर अभी शेष है...

मानस भूमि विद्यालय, दिनकर नगर, नालन्दा, बिहार- 803111

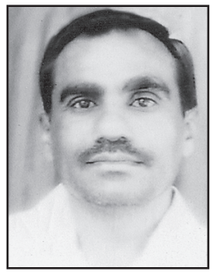

दिनकर-साहित्य में राष्ट्रीयता और देश प्रेम

सुरेन्द्र दुबे

दिनकर हिन्दी साहित्य में ओज और पौरुष के कवि माने जाते हैं। आधुनिक काव्य के ओजस्वी कवि और 'राष्ट्रकवि' के नाम से विख्यात रामधारी सिंह 'दिनकर' जी प्रारंभ से ही लोक के प्रति निष्ठावान, सामाजिक उत्तरदायित्व एवं राष्ट्रीयता और देश प्रेम की अवधारणा का सृजन करने वाले जन साधारण के प्रति समर्पित कवि थे। इनके साहित्य में राष्ट्रीयता की छाप सबसे अधिक है।

दिनकर जी ने काव्य और गद्य दोनों ही क्षेत्रों में सशक्त साहित्य का सृजन किया है। यदि इन्हें हिन्दी का क्रान्तिदर्शी कवि कहा जाय तो उपयुक्त होगा। उनकी कविता हृदय को झकझोर डालती है। वर्तमान भारत की दलित आत्मा उनकी कविता में जाग उठी है। दिनकर की कविताओं में माधुर्य की अपेक्षा ओज अधिक है। इसलिए प्राणों में स्फूर्ति उत्पन्न कर देने की शक्ति उनकी रचनाओं में है। हुंकार, सामधेनी, कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी यदि उनकी ओजपूर्ण कविताएँ (रचनाएँ) हैं, तो रसवन्ती, द्वन्द्वगीत चिन्तन प्रधान रचनाएँ हैं। दिनकर की रचना में देशव्यापी जागरण का उच्च स्वर है। उसमें भारत के विगत स्वर्णयुग की सुनहरी किन्तु ममतामयी करुण स्मृति है। और वर्तमान समय में आर्य संस्कृति की पतितावस्था के प्रति असंतोष के कारण वे क्रान्ति चाहते हैं

क्रान्तिधात्रि कविते जाग उठ,
आडम्बर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखण्ड जलें,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

दिनकर की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। वे अपनी भाषा में अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं। उनका शब्द चयन अत्यन्त पुष्ट और भावानुकूल होता है। उनकी भाषा विचारों का पूर्णरूप से अनुगमन करती है।

हिन्दी काव्य में देश प्रेम और राष्ट्रीयता का प्रतिपादन यद्यपि आधुनिक युग की देन है परन्तु दिनकर ने अपने साहित्य में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय विचारधारा को अपनी रचनाओं में स्थान देकर राष्ट्रीयता को व्यापक आयाम दिये हैं। मानव जीवन की विषमताओं, कुंठाओं, अवसाद, टूटते आदर्श, बिखरते जीवन-मूल्य, अराजकता आदि ने दिनकर के हृदय को स्पर्श किया जिससे उन्होंने सामाजिक बोध के पैनेपन को अपनी कविताओं में प्रकट किया है।

दिनकर अपने युग के देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि कवि हैं, उनकी भाषा में ओज तथा भावों में क्रान्ति की ज्वाला तथा शैली में प्रवाह है। दिनकर की कविता में विवेकानन्द का तेज, महर्षि दयानन्द की सी निडरता, भगत सिंह-सा बलिदान, गांधी की सी निष्ठा एवं कबीर की सी सुधार भावना एवं स्वच्छन्दता विद्यमान है। इसीलिए तो आपको हिन्दी काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में जाना जाता है-

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट-फूट तू कवि कंठों से, बन व्यापक निज युग की वाणी।
बरस ज्योति बन गहन तिमिर में फूट-मूक की बनकर भाषा।
चमक अन्ध की प्रखर दृष्टि बन, उमड़ गरीबी की बन आशा।

'हिम्मत और जिन्दगी' रामधारी सिंह 'दिनकर' का एक विचारोत्तेजक निबन्ध है। इसमें अनेक उदाहरणों द्वारा मनुष्य को श्रम और परोपकार करने की सीख दी गई है। लेखक के अनुसार जीवन में धूप में तपने वाला ही चाँदनी का आनन्द ले सकता है। सुख के लिए दुःख की अनुभूति आवश्यक है। हमें ऐसी कामना करनी चाहिए जो मानव-हित से जुड़ी हो। निबन्ध का हर वाक्य सूक्ति जैसा है और हर सूक्ति कुछ सोचने के लिए प्रेरित करती है।

जिंदगी के असली मजे उनके लिए नहीं हैं जो फूलों की छाँव के नीचे खेलते और सोते हैं। बल्कि फूलों की छाँव के नीचे अगर जीवन का स्वाद छिपा है तो वह भी उन्हीं के लिए है जो दूर रेगिस्तान से आ रहे हैं, जिनका कंठ सूखा है, होंठ फटे हुए और सारा बदन पसीने से तर है। पानी में जो अमृत तत्व है, उसे वह जानता है जो धूप में खूब सूख चुका है। वह नहीं जो रेगिस्तान में कभी पड़ा ही नहीं।

सुख देने वाली चीजें पहले भी थीं और अब भी हैं फर्क यह है कि जो सुखों का मूल्य पहले चुकाते हैं और उनके मजे बाद में लेते हैं, उन्हें स्वाद अधिक मिलता है। जिन्हें आराम आसानी से मिल जाता है, उनके लिए आराम ही मौत है। जो लोग पाँव भीगने के खौफ से पानी से बचते रहते हैं समुद्र में डूब जाने का खतरा उन्हीं के लिए है। लहरों में तैरने का जिन्हें अभ्यास है वे मोती लेकर ही बाहर आएँगे।

चाँदनी की ताजगी और शीतलता का आनन्द वह मनुष्य लेता है जो दिन भर धूप में थककर लौटा है। जिसके शरीर को अब रतनाई की जरूरत महसूस होती है। और जिसका मन यह जानकर संतुष्ट है कि दिन भर का समय उसने किसी अच्छे काम में लगाया है।

इसके विपरीत वह आदमी भी है जो दिनभर खिड़कियाँ बंद करके पंखे के नीचे छिपा हुआ था और अब रात में जिसकी सेज बाहर चाँदनी में लगाई गई है। भ्रम तो शायद उसे भी होता होगा कि वह चाँदनी के मजे ले रहा है, लेकिन सच पूछिए तो वह खुशबूदार फूलों के रस में दिन रात सड़ रहा है।

भोजन का असली स्वाद उसी को मिलता है जो कुछ दिन बिना खाए भी रह सकता है। जीवन का भोग त्याग के साथ करो, यह केवल परमार्थ का ही उपदेश नहीं है क्योंकि संयम से भोग करने पर जीवन से जो आनंद प्राप्त होता है, वह निराभोगी बनकर भोगने से नहीं मिल पाता।

बड़ी चीजें बड़े संकटों में विकास पाती हैं, बड़ी हस्तियाँ बड़ी मुसीबतों में पलकर दुनियाँ पर कब्जा करती हैं। अकबर ने तेरह साल की उम्र में अपने माता-पिता के दुश्मनों को परास्त कर दिया था, जिसका एक मात्र कारण यह था कि अकबर का जन्म रेगिस्तान में हुआ था और वह भी उस समय जब उसके पिता के पास एक कस्तूरी को छोड़कर और कोई दौलत नहीं थी।

महाभारत में देश के प्रायः अधिकांश वीर कौरवों के पक्ष में थे। मगर फिर भी जीत पाण्डवों की हुई क्योंकि इन्होंने लाक्षाग्रह की मुसीबत झेली थी, क्योंकि इन्होंने वनवास के जोखिम को पार किया था। श्री विस्टन चर्चिल ने कहा है कि जिंदगी की सबसे बड़ी सिफत हिम्मत है। आदमी के और सारे गुण उसके हिम्मती होने से ही पैदा होते हैं। जिंदगी की दो सूरतें हैं। एक तो यह कि आदमी बड़े-से-बड़े मकसद के लिए कोशिश करे, जगमगाती हुई जीत पर पंजा डालने के लिए हाथ बढ़ाए और अगर असफलताएँ कदम-कदम पर जोश की रोशनी के साथ अँधियाली का जाल बुन रही हों, तब भी वह पीछे को पांव न हटाए। दूसरी सूरत यह है कि उन गरीब आत्माओं का हमजोली बन जाएँ जो न तो बहुत अधिक सुख पाती हैं और न जिन्हें बहुत अधिक दुख पाने का ही संयोग है, क्योंकि वे आत्माएँ ऐसी गोधूलि में बसती हैं जहाँ न तो जीत हँसती है और न कभी हार के रोने की आवाज सुनाई पड़ती है। इस गोधूलि वाली दुनियाँ के लोग बँधे हुए घाट का पानी पीते हैं, वे जिंदगी के साथ जुआ नहीं खेलते। और कौन कहता है कि पूरी जिंदगी को दाँव पर लगा देने में कोई आनंद नहीं है?

अगर रास्ता आगे ही आगे निकल रहा हो तो फिर असली मजा तो पांव बढ़ाते जाने में ही है। साहस की जिंदगी सबसे बड़ी जिंदगी होती है। ऐसी जिंदगी की सबसे बड़ी पहचान यह है कि यह बिल्कुल निडर, बिल्कुल बेखौफ होती है। साहसी मनुष्य की पहली पहचान यह है कि वह इस बात की चिंता नहीं करता कि तमाशा देखने वाले लोग उसके बारे में क्या सोच रहे हैं। जनमत की उपेक्षा करके जीने वाला आदमी दुनिया की असली ताकत होता है। और मनुष्यता को प्रकाश भी उसी आदमी से मिलता है। अड़ोस-पड़ोस को देखकर चलना यह साधारण जीव का काम है। क्रान्ति करने वाले लोग अपने उद्देश्य की तुलना न तो पड़ोसी के उद्देश्य से करते हैं, और न ही अपनी चाल को ही पड़ोसी की चाल देखकर मद्धिम बनाते हैं।

साहसी मनुष्य उन सपनों में भी रस लेता है जिन सपनों का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं है। साहसी मनुष्य सपने उधार नहीं लेता, वह अपने विचारों में रंगा हुआ अपनी ही किताब पढ़ता है। झुंड में चलना और झुण्ड में चरना यह भैंस या भेड़ का काम है, सिंह तो अकेला होने पर भी मगन रहता है।

अर्नाल्ड बैनेट ने एक जगह लिखा है कि जो आदमी यह महसूस करता है कि किसी महान निश्चय के समय वह साहस से काम नहीं ले सका, जिंदगी की चुनौती को कबूल नहीं कर सका, वह सुखी नहीं हो सकता। बड़े मौके पर साहस नहीं दिखाने वाला आदमी बराबर अपनी आत्मा के भीतर एक आवाज सुनता रहता है। एक ऐसी आवाज जिसे वही सुन सकता है और जिसे वह रोक भी नहीं सकता। यह आवाज उसे बराबर कहती रहती है। तुम साहस नहीं दिखा सके। तुम कायर की तरह भाग खड़े हुए हो। सांसारिक अर्थ में जिसे हम सुख कहते हैं, उसका न मिलना, फिर भी इससे कहीं श्रेष्ठ है कि मरने के समय हम अपनी आत्मा से यह धिक्कार सुनें कि तुममें हिम्मत की कमी थी। कि तुममें साहस का अभाव था, कि तुम ऐन वक्त पर जिंदगी से भाग खड़े हुए। जिंदगी को ठीक से जीना हमेशा जोखिम झेलना है और जो आदमी सकुशल जीने के लिए जोखिम का हर जगह पर घेरा डालता है वह अंततः अपने ही घेरों के बीच कैद हो जाता है। और जिंदगी का कोई मजा उसे नहीं मिल पाता। क्योंकि जोखिम से बचने की कोशिश में, असल में उसने जिंदगी को ही आने से रोक रखा है।

जिंदगी से अंत में हम उतना ही पाते हैं जितनी कि

उसमें पूँजी लगाते हैं। यह पूँजी लगाना जिंदगी के संकटों का सामना करना है। उसके उस पन्ने को उलटकर पढ़ना है, जिसके सभी अक्षर फूलों से ही नहीं, कुछ अंगारों से भी लिखे गये हैं। जिंदगी का भेद कुछ उसे ही मालूम है जो यह जानकर चलता है कि जिंदगी कभी भी खत्म न होने वाली चीज है।

ओ जीवन के साधकों! अगर किनारे की भरी हुई सीपियों से ही तुम्हें संतोष हो जाए तो समुद्र के अंतराल में छिपे हुए मौक्तिक को कौन बाहर लाएगा?

दुनियाँ में जितनें भी मजे बिखर गए हैं, उनमें तुम्हारा भी हिस्सा है, वह चीज भी तुम्हारी हो सकती है जिसे तुम अपनी पहुँच के परे मानकर लौटे जा रहे हो। कामना का आँचल छोटा मत करो, जिंदगी के फूल को दोनों हाथों से दबाकर निचोड़ो, रस की निर्झरी तुम्हारे बहाए भी बह सकती है –

यह अरण्य, झुरमुट जो काटे अपनी राह बना ले।
क्रीतदास यह नहीं किसी का, जो चाहे अपना ले।।
जीवन उसका नहीं युधिष्ठिर, जो उससे डरते हैं।
यह उनका जो चरणों पर निर्भय होकर लड़ते हैं।।

विजयराघवगढ़, जिला-कटनी (म. प्र.)

शिक्षकों के आदर्श दिनकर

डॉ. गणेश शंकर पाण्डेय

एक शिक्षक पद से अपनी विजय यात्रा प्रारंभ करने वाले काव्य जगत के प्रखर सूर्य राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' राष्ट्र-प्रेम की भावना को छात्रों, युवाओं के साथ-साथ आमजनों में भी अपनी कवित्व शक्ति से अनवरत भरते रहे। उनकी एक-एक पंक्ति प्रेरणादायक है। जीवन को अनुप्राणित करना और सही दिशा-निर्देश देना यह सब उनकी कविताओं का मुख्य घटक है। शायद ही आगे आनेवाले समय में ऐसा कोई व्याख्याकार हो जो दिनकर को समुच्चय में समझ सके और जान सके। 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र', 'रेणुका', 'हुंकार', 'उर्वशी', 'कोयला और कवित्व', 'नील कुसुम' और 'हारे को हरिनाम' ऐसी पुस्तकें हैं जिनको सही तौर पर समझा जाना शेष है। राष्ट्र को वाणी प्रदान करने वाला इतना श्रेष्ठ कवि कदाचित ही कहीं पैदा होता है : *मेरे नगपति मेरे विशाल / साकार दिव्य गौरव विराट / पौरुष के पुँजीभूत ज्वाल।*

ये पंक्तियाँ न मात्र हिमालय का वर्णन और राष्ट्र के प्रहरी के तौर पर उसे महिमामंडित करती हैं बल्कि हिमालय और देश के प्रति दिनकर की अगाध श्रद्धा और उसकी गौरव-गाथा गाने का एक सत्प्रयास है। हिमालय के संदर्भ में यह प्रथम कविता है जिसके द्वारा दिनकर भारत के साहित्याकाश में देदीप्यमान नक्षत्र की तरह प्रकाशित हुए। शिक्षक राष्ट्र-निर्माता होते हैं। इस पंक्ति की सार्थकता को इन्होंने सिद्ध कर दिखाया।

इनकी ज्ञान-पिपासा यहीं शांत नहीं हुई और ये अपने बुद्धि कौशल की बदौलत निरंतर शिक्षा जगत में नई-नई खोज और नये-नये आयाम प्राप्त करते हुए अग्रसरित होते रहे।

'संस्कृति के चार अध्याय' की रचना कर इन्होंने प्रमाणित कर दिया कि न केवल पद्य बल्कि गद्य पर भी इनका समान अधिकार है। उनकी अद्‌भुत काव्य सृजनशीलता एवं राष्ट्रवादिता के कारण ही इन्हें राष्ट्र ने राष्ट्रकवि की विशेष उपाधि से अलंकृत किया।

एक शिक्षक पद से अपनी विजय यात्रा प्रारंभ करने वाले कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपने आपको धरती से आकाश तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है। एक सामान्य गाँव से चलने वाला पथिक महानगरों के उत्तुंग शिखर पर अपने आपको स्थापित कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि; इस भारतीय साहित्योक्ति को चरितार्थ कर उन्होनें एक सफल शिक्षक का आदर्श स्थापित किया है। यों तो यह सत्य है कि शिक्षक में ऐसा गुण होता है जिसके बल पर वह संसार के सभी मानक स्थलों पर पहुँचने की क्षमता रखता है; जिसे दिनकर ने अक्षरशः साबित कर दिखाया है।

नवलखा मंदिर के समीप, (उपाध्याय टोला), राजगीर, नालन्दा, बिहार

स्वर्गलोक की अप्सरा उर्वशी

डॉ. राजेश श्रीवास्तव 'शम्बर'

आठ वर्षों तक लगातार लेखन के पश्चात रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'उर्वशी' की रचना की। किंतु उस समय की आलोचना ने 'उर्वशी' को नकार दिया, यह कहकर कि यह तो ऐकान्तिक भोगविलास की रचना है। यह आधुनिक प्रवृत्ति का काव्य ही नहीं है। 'उर्वशी' का आधार मिथक है। मिथकों से कृति के मूल्यांकन में भ्रम पैदा होगा। दिनकर जी ने 'उर्वशी' की रचना किन उद्देश्यों के लिए की है, इसका ध्यान रखे बिना ही कृति का मखौल उड़ाया गया। *उर्वशी* के विरोध में बहस खड़ी करने के लिए 'कल्पना' पत्रिका का सहारा लिया। डॉ. भगवतशरण उपाध्याय ने कल्पना में एक निबंध उर्वशी के लिए लिखा। हालाँकि उस निबंध का कोई अर्थ नहीं है और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उसमें व्यक्तिगत विद्वेष निहित था। वास्तव में 'उर्वशी' के विरोध का आरंभ मुक्तिबोध से हुआ। मुक्तिबोध ने 'उर्वशी' के बारे में लिखा कि 'उर्वशी' एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है और इसमें प्रस्तुत कामात्मक मनोविज्ञान स्वस्थ और स्वाभाविक शृंगार की श्रेणी से बाहर चला गया है। *उर्वशी* में कोई रोमांटिक उन्मेष, शृंगार की ताजगी और स्फूर्ति नहीं है।'

मुक्तिबोध का रहस्यवादी मन 'उर्वशी' को एक सामान्य शृंगार काव्य मानकर चला। पुराने प्रतीकों का अस्पष्ट बल लेकर स्वयं प्रयोग करने वाले मुक्तिबोध ने न तो *उर्वशी* के उद्देश्य को समझा और न ही उस ओर विचार करना उचित समझा। विजेन्द्रनारायण जी ने तो कहीं लिखा भी है कि 'मुक्तिबोध ने तो उर्वशी को ठीक से पढ़ा ही नहीं। और यदि पढ़ा है तो उसे ठीक से समझा ही नहीं।'

उर्वशी आधुनिक युगबोध और संवेदना से भरपूर कृति है। पुरूरवा और उर्वशी के व्यक्तित्व को समझे बिना इस रचना पर बात करना व्यर्थ है।

'तारसप्तक' के कवि नेमिचंद्र जैन ने टिप्पणी की कि 'उर्वशी' आधुनिक चेतना का काव्य ही नहीं है। यह तो अत्यंत सतही बयान है और अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण भी है। दिनकर की काव्ययात्रा पर एक समग्र दृष्टि डालें तो हमें वैविध्य मिलता है। वे सब तरह की बातें करते हैं। लेनिन और रूस की वकालत करते है, तो लाल भवानी का आह्वान भी। विज्ञान की वकालत करेगें तो उसके विरोध में भी नजर आ जाएँगे। वे सामन्तवाद विरोधी कवि है। उन्होनें उपनिवेशववाद का विरोध किया है। उन्होंने मार्क्स द्वारा निरूपित समतामूलक समाज की स्थिति को स्वीकारा है। (न किसी को बहुत ज्यादा और न ही किसी को बहुत कम) किन्तु दो-चार कविताएँ जो दिनकर ने मार्क्सवादी प्रशंसा में लिखीं, उससे उन्हें मार्क्सवादी नहीं कहा जा सकता। दिनकर मार्क्स और लेनिन के प्रशंसक तो हैं लेकिन मार्क्सवादी नहीं है, इसलिए मार्क्सवादी समीक्षकों को दिनकर रास नहीं आए। उन्होने 'उर्वशी' पर या तो लिखा ही नहीं, या विरोध में लिखा। भगवतशरण उपाध्याय, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद गुप्त, डा. नामवर सिंह आदि ने भी 'उर्वशी' का साथ नहीं दिया। बजाय इसके कि मानव मन में जन्म लेती हुई प्रवृत्तियों ओर मनःदशाओं का विश्लेषण किया जाए, 'उर्वशी' को हिंदी के हाशिए पर लाने का षड़यंत्र किया गया। लेकिन 'उर्वशी' को खारिज करना इतना आसान नहीं है और यदि वास्तव में 'उर्वशी' के मर्म तक पहुँचना हो तो सबसे पहले इस सवाल से जूझना ही पड़ेगा कि आखिर *रेणुका, हुंकार, सामधेनी, कुरुक्षेत्र* जैसी रचनाओं के कवि दिनकर ने उर्वशी को अपने काव्य का विषय क्यों बनाया?

'उर्वशी' की रचना दिनकर ने जिस समय और जिस अंदाज में की उससे उस समय के बहुत से नामी-गिरामी आलोचक 'उर्वशी' के दुश्मन बन गए। किसी एक कृति का इस तरह सोचा समझा विरोध हिंदी के इतिहास में तो देखने को नहीं मिलता। 1961 में उन्होने जब 'उर्वशी' की रचना की तब तक वे साहित्य और समाज के सभी प्रतिष्ठित सम्मानों को प्राप्त कर चुके थे। 'उर्वशी' का लेखन दिनकर के लिए

निश्चित ही एक मिशन था। एक ऐसा मिशन जिसमें दर्शन, मनोविज्ञान, साहित्य, संस्कृति और परंपरा का बेजोड़ समन्वय था। जिसमें वैदिक ऋचाएँ थी तो पुराणों का गौरव। जिसमें रामायण और महाभारत के संदर्भ थे तो महाकवि कालिदास का कल्पनालोक समुद्र की भाँति हिलोरें ले रहा था। भारतीय साहित्य में 'उर्वशी' को छेड़ पाना जितना सहज है, छोड़ पाना उतना ही कठिन। रवीन्द्र नाथ टैगोर हों या योगिराज अरविंद 'उर्वशी' के आकर्षण से कोई बच न सका। वेदों, पुराणों और संस्कृत के समृद्ध साहित्य की परंपरा से लेकर जयशंकर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जैसे विद्वानों द्वारा हिंदी तथा अनेक भाषाओं में उर्वशी की रचना हो चुकने के बाद भी दिनकर ने 'उर्वशी' की रचना की तो एक समन्वय और साधना का उद्देश्य लेकर।

'उर्वशी' स्वर्गलोक की अप्सरा है, जो आज भी अपने सौंदर्य और प्रेम के लिए आदर्श है। देवासुर संग्राम में देवों की ओर से युद्ध करने वाले ऐलवंशी राजा पुरूरवा जिनके प्रेमी हैं। नारायण की जंघा से उत्पन्न अप्सरा उर्वशी तपस्वियों के महान तप को नष्ट करने की क्षमता रखती है। वह इंद्र का सबसे सशक्त ओर कोमल अस्त्र है। अप्सरा स्वर्ग की वेश्या को कहा जाता है। जब कालिदास ने 'उर्वशी' को अपने काव्य की स्वतंत्र नायिका बनाया तो आलोचकों ने उन्हें भास की श्रेणी में रखना चाहा। बल्टर रूबन का कहना था कि कालिदास चूंकि राज दरबारी थे, इसलिए वेश्याओं के प्रति उनके मन में कोमल भाव थे ही। उन्होंने ऋग्वेद की क्रूर और प्रणय का झाँसा देने वाली अप्सरा को एक भावुक किंतु स्वार्थी नारी के रूप में और बाद में एक सुखी और आज्ञाकारिणी पत्नी के रूप में प्रस्तुत किया है।

अप्सराओं का चरित्र अनोखा है। वे अपने प्रेमी गंधर्वों को देखकर मुस्कुराती हैं (ऋग्वेद)। वशिष्ठ का जन्म अप्सरा उर्वशी से ही हुआ है (ऋग्वेद)। अथर्ववेद के अनुसार अप्सराओं का आवास जल में है, जहाँ से ये एक क्षण में ही आती-जाती रहती हैं। इन्हें स्पष्ट रूप से गंधर्वों की पत्नियाँ कहा गया है (अथर्ववेद)। ऐसा कहा गया है कि उर्वशी ने पुरूरवा के साथ चार शरद ऋतुएँ व्यतीत की और पुरूरवा को वचन दिया कि उसकी संतान देवों की आराधना करेगी, जबकि स्वयं पुरूरवा स्वर्ग में आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करेगा।

इसी सूक्त को आधार बनाकर शतपथ ब्राह्मण में एक क्रमबद्ध कथा के ऐसे सूत्र बन गए जो ऋग्वेद के आशय के मिथ्याग्रहण पर आधारित विवरणों को ही प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि उर्वशी पुरूरवा के साथ एक ऐसे सूत्र में आबद्ध हुई जिसका स्थायित्व इस वचन पर आधारित था कि वह पुरूरवा को कभी नग्न नहीं देखेगी। गंधर्वों ने कुचक्र रचकर रात्रि के समय कोलाहल उत्पन्न किया जिससे पुरूरवा नग्नावस्था में ही उठ खड़े हुए और विद्युत की चमक में उर्वशी ने उन्हें देख लिया। उसी क्षण वह अंतर्ध्यान हो गई। पुरूरवा के खोजने पर उर्वशी एक सरोवर में अन्य अप्सरा के साथ जलीय पक्षी के रूप में तैरते हुए मिली। उर्वशी ने उनके सम्मुख स्वयं को प्रकट किया और उनकी विनती के फलस्वरूप एक वर्ष बाद एक रात्रि के लिए उनके साथ रहने का वचन दिया।

दिनकर की 'उर्वशी' के कथानक का मूल मत्स्यपुराण में वर्णित उर्वशी और पुरूरवा के आख्यान पर आधारित है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, रामायण, महाभारत और लगभग समस्त पुराणों में वही कथा थोड़े-बहुत बदलावों के साथ वर्णित है। प्रतिष्ठानपुर के समीप एक कुसुम कानन में सूत्रधार और नटी के संवादों से वहाँ की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हुए दिनकर ने कथा का आरंभ किया है। स्वर्गलोक के संदर्भो से वे कथा की भूमिका भी बना देते हैं। तभी स्वर्गलोक की तीन अप्सराएँ रम्भा, सहजन्या और मेनका समवेत गान के पश्चात आपस में बातचीत करती हैं। मानव के उष्ण प्रेम की प्रशंसा करते हुए वे उर्वशी और पुरूरवा की बात भी करती हैं। सहजन्या बताती है कि पुरूरवा ने किस तरह उसे और उर्वशी को कैशी नामक दैत्य के पंजे से छुड़ाया और उर्वशी किस भाँति पुरूरवा के प्रेम के वशीभूत हो गई। रम्भा आश्चर्य व्यक्त करती है कि उर्वशी एक ही नर की बाँहों में कैसे बंधकर रह सकती है। मेनका, रम्भा और सहजन्या आपस में तर्क करती हैं तभी चित्रलेखा वहाँ आकर बताती है कि उर्वशी की अवस्था देखकर वह उसे पुरूरवा के उपवन में छोड़ आई है। उसे पूर्ण विश्वास है कि एक और रानी के होते हुए भी पुरूरवा अवश्य ही उर्वशी की ओर आकर्षित होगा। इधर पुरूरवा की पत्नी रानी औशीनरी को उसकी सखियाँ राजमहल में संदेश देती हैं कि आपके पीछे उर्वशी महाराज से मिलने आई थी और महाराज उसके प्रेम में बंध चुके हैं। अब वे एक वर्ष तक गंधमादन पर्वत पर रहेंगे। रानी औशीनरी वियोग में दुखी रहती है तथा नर और नारी के सम्बंधों का मूल्यांकन करती है। उर्वशी के पुत्र आयु का लालन-पालन महर्षि च्यवन के आश्रम में होता है। शिक्षा उपरांत आयु को प्रतिष्ठानपुर पहुँचा देने की बात कहकर उर्वशी महल में चली जाती है। भरत के श्राप के कारण वह राजा पुरूरवा को आयु के बारे में नहीं बता पाती। महाराज पुरूरवा को अपने पुत्र के सम्बंध में एक स्वप्न आता है जिसकी चर्चा वे राजसभा में करते हैं। उर्वशी इससे अत्यंत व्याकुल हो जाती है। सोलह वर्ष की अवस्था में आयु का आगमन होता है। उर्वशी राजा को पूर्ण वृत्तांत बताकर अंतर्ध्यान हो जाती है। भरत के श्राप की बात सुनकर राजा क्रोधित होते हैं और इंद्र पर आक्रमण कर नभ पर विजय की बात करते हैं। किंतु देवों और दानवों के बारे में महामात्य द्वारा समझाए जाने पर वे अपना विचार बदलकर आयु को राज्य सौंपकर ईश्वर आराधना में रत हो जाते हैं। रानी औशीनरी भी आयु को अपने अंक से लगा लेती है।

उर्वशी अभिसारिका नायिका है। वह पुरूरवा के गुणों पर मुग्ध होकर मृत्युलोक में उसके साथ अभिसार करने आई है। उर्वशी का सौंदर्य अद्‌भुत है -

सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इंद्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगाने वाली,
देवों के शोणित में मधुमय आग लगाने वाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की
विधु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की।

रेणुका, कुरुक्षेत्र, हुंकार लिखने वाले मन में अचानक 'उर्वशी' का आगमन वास्तव में साहित्य के संसार में एक बड़ी हिलोर था। अप्सरा के सौंदर्य के बीच नारी के सहज रूप का जिस भाँति दिनकर ने दार्शनिक और मनौवैज्ञानिक विवेचन किया है, वार्तालाप के माध्यम से जो तर्क और निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं, उनका विश्लेषण अनंत है।रामधारी सिंह 'दिनकर' ने स्वर्गलोक की अप्सरा को अपने काव्य की नायिका बनाकर एक ओर तो साहित्य जगत को स्तब्ध कर दिया तो दूसरी ओर मानव-मन की सूक्ष्म मनोवृत्तियों को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत किया। स्वर्गलोक की अप्सरा उर्वशी का मिथक भले ही पुराना हो किंतु हृदय को मोहित कर लेने वाला उर्वशी का चरित्र आज भी अत्यंत लोकप्रिय और जीवंत है। सौंदर्य की परिभाषाएँ आज भी उर्वशी के नाम को व्याकुल हैं। ऐसे में रामधारी सिंह 'दिनकर' के अतुल्य योगदान, जिस पर उन्हें ज्ञानपीठ सम्मान भी मिला, का स्मरण किया जाना स्वयं के सम्मान के सुखतुल्य है और हमारा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दायित्व भी।

बी-16, लेकपर्ल रेसीडेंसी, ई-8 एक्सटेंशन
अरेरा कालोनी, भोपाल(म.प्र.)

जिनकी यादों में आँखें नम हैं...

आज से ग्यारह वर्ष पूर्व जब न्यास ने अपनी यात्रा शुरू की थी तो देश-विदेश के अनेक संघर्षशील और जुझारू व्यक्तित्वों का असीम प्रेम और स्नेह न्यास को लगातार प्राप्त हुआ। इन व्यक्तियों में मॉरीशस के राष्ट्रकवि डॉ बृजेन्द्र भगत 'मधुकर', श्यामनंदन मिश्र (पूर्व विदेश मंत्री), कपिलदेव सिंह (बड़हिया), चंद्रेश्वरी प्रसाद सिन्हा (अधिवक्ता), महुआर जी (पूर्व प्रिंसिपल, नालंदा कॉलेज), मथुरा प्रसाद नवीन (कवि), जयराम सिंह (कवि), दिनेश सिंह (सिमरिया), सियाशरण सिन्हा (चण्डीमौ), कपिलदेव प्रसाद सिंह (चण्डीमौ), भोला सिंह (नालंदा) आदि प्रमुख रूप से शामिल हैं। न्यास परिवार इन सबको विनम्र और भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

शताब्दी तुम्हारी स्वयं गा रही है

डॉ. भगवती प्रसाद मिश्र

जन्म शताब्दी की बेला में
हे सूर्य तेज को बरसा दो
जो दीन दलित हैं धरती के
कुछ क्षण ही सही अब हर्षा दो
रेणुका की चम-चम देह में
पावन गंगा को बहने दो
कुरुक्षेत्र में रश्मिरथी
कुछ नई सूक्ति को कहने दो
हिमालय आज भी तना हुआ
नगपति गिरिपति है विशाल
राष्ट्र का प्रथम प्रहरी है
रक्षा की कर में है मशाल

उर्वशी का सौन्दर्य बोध कवि
जीवन शृंगार में ढलता है
मानव को प्रेम रस न मिले
तो समझो जीवन छलता है
शृंगों पर खिले फूल झरने बहे
यौवन है हँसता, लगे कहकहे
जवानी बही प्रेमोल्लास में
रे सुगन्ध-सी निकली हर साँस में
धरती बेचारी नभ से शरमा गई
न रुके वेग मेघों का, गरमा गई
सूर्य जो दूर था खिल-खिल हँस रहा
नभ धरा की गोद में था
कि आशा जगी चन्द्र की चाँदनी
धराकाश कथा थी मनभावनी
उर्वशी की पायल बजने लगी
काम कल्लोल एकान्त में आ गा
बही ओज में शृंगारी कथा
समझे कौन नारी के मन की व्यथा
राम-सा ओज सिंहों-सा गर्जन जहाँ
युग बदला यहाँ किन्तु स्थिर वहाँ
हे सूर्य याद तुम्हें करते रहेंगे
दिनकर प्रति शीश धरते रहेंगे
शताब्दी तुम्हारी स्वयं गा रही है
कि ओजों की वर्षा यहाँ छा रही है।

देवप्रयाग, उत्तराखण्ड

क्रान्त कवि दिनकर की काव्य-चेतना

डॉ. राहुल

क्रान्ति-चेतना के प्रखर प्रणेता, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का काव्य-सृजन छायावाद के उत्तरार्द्ध से नयी कविता के प्रौढ़-काल तक फैला है। 'दिनकर छायावाद के उत्थान और उसकी शक्तियों एवं दुर्बलताओं के प्रति बौद्धिक रूप से जागरूक थे। पर उनकी समाज-सापेक्ष दुर्बलताओं के दबाव के कारण लेखक जैसे भूल-सुधार के लिए आतुर हो जाता है। युग के वास्तविक संघर्ष का दबाव दिनकर स्वयं स्वीकार करते हैं और यह भी, कि राष्ट्रीयता उनके ऊपर अध्यारोपित है।' *(राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी। उसने बाहर से आकर मुझे आक्रान्त किया,...अपने समय की धड़कन सुनने को जब भी मैं देश के हृदय से कान लगाता, मेरे कान में किसी बम के धड़ाके की आवाज आती, फाँसी पर झूलने वाले किसी नौजवान की निर्भीक पुकार आती...। 'चक्रवाल' की भूमिका)*

छायावादी युग के पश्चात यथार्थ अर्थों में आधुनिकता का उदय होता है। अतः आधुनिक भाव-बोध और रोमांटिक भाव-बोध में एक मौलिक अन्तर के बावजूद दिनकर के काव्य में युग परिवर्तन बड़ी तीव्रता से होने लगा था। इतनी तीव्रता से बदलते समय और उसके अनुभव के लिए जागृत सचेतन आवश्यक है। दिनकर का कवि अतीतोन्मुख है। आधुनिकता उसके सचेतन की तीव्रता है। वर्तमान के बोध और चिंतन के आधार पर आधुनिक कवि भविष्य की रेखाएँ सँजोता है। असन्तोष और दुर्बलताओं के प्रति सजग कवि संवेदनशील रोमांटिक हो विद्रोह पर उतर आता है। उनकी कविता में सामाजिक दायित्व की दृढ़ और स्पष्ट स्वीकृति देखने को मिलती है।

इससे सिद्ध होता है कि कवि का काव्य-संसार कल्पना की कोरी उड़ान नहीं; एक ठोस जमीन है, एक साफ परिवेश है, एक सार्थक अभिव्यक्ति है और समकालीनता बोध की तस्वीर उपस्थित करता है। वह जन-जीवन-जगत के जानदार अक्स को प्रगतिवाद के आइनों में उतारता ही नहीं, बल्कि अपनी क्रान्ति-चेतना को वर्गीय-चेतना से जोड़कर विरोध और विद्रोह के व्यापक अर्थ में देखता है। 'वास्तव में देखा जाय तो दिनकर में सबसे अधिक व्यस्तता प्रगतिवादी तत्वों की है। अस्पष्टता की दीवार दिनकर और छायावाद के बीच में आयी तो सही, जिसने दोनों का तादात्म्य नहीं होने दिया; पर छायावाद की दुर्बलताओं को जहाँ दिनकर जानते थे, वहाँ उसकी शक्तियाँ भी वे पहचानते थे।... इस प्रकार छायावाद के साथ दिनकर का आन्तरिक समझौता था, पर बाह्य जीवन के यथार्थ धरातल पर एक विचित्र दबाव डाल रहे थे। प्रगतिवाद के साथ दिनकर का कोई सम्बन्ध नहीं- तथाकथित, साम्प्रदायिक प्रगतिवाद से। वैसे वे अपना सम्बन्ध उस बलवती अन्तर्धारा से जोड़ते थे जो अपनी प्रकृति में विशुद्ध प्रगतिवादी थी। इसमें भी वर्ग-चेतना कम नहीं थी। यह भी समाजगत वर्ग-वैषम्य से उद्वेलित होती थी। यह प्रगति भी कृषक और श्रमिक की पीड़ा से विमुख नहीं थी' (दिनकरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व /एस के पद्मावती)।

वास्तव में देखा जाय तो दिनकर में प्रगतिवादी तत्वों की सघनता है। कहें कि वे मूलतः प्रगतिवादी क्रान्त-चेता, समाज-द्रष्टा कवि थे :

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़े की रात बिताते हैं।
...शिशु मचलेंगे दूध-देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगा हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार
...फटेगा भूखा हृदय कठोर,
चलो कवि वन फूलों की ओर।

शोषण और उपनिवेशवाद को मानव इतिहास में वे सबसे बड़ा अभिशाप मानते थे और पराधीनता को एक भारी कलंक। उनमें सर्वत्र शोषण का स्पष्ट रूप, शोषण के प्रति आक्रोश और क्रांति के लिए आह्वान मिलता है। प्रगतिवाद की

साफ झलक इन कविता पंक्तियों में मिलती हैः

वे भी यहीं दूध से जो अपने कुत्तों को नहलाते हैं,
वे बच्चे भी यहीं कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं।

वास्तव में दिनकर के कवि ने समाज के आम आदमी, जिसे बच्चन और साही ने लघु मानव (लिटिल मैन) कहा है, की जो तस्वीर पेश की है, वह उस उपेक्षित, घिघियाते-घुघुआते जन की है जो सदियों से शोषित, पीड़ित, दलित और सर्वहारा है। श्रमिकों और कृषकों की दशा भी दीन-हीन है। देखिए-

अपने को नहीं देख, टुक, ध्यान इधर भी देना,
भूमि-हीन कृषकों की कितनी बड़ी खड़ी है सेना।
बाँध तोड़ जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज ? वही जो चाहेगी, सो लेगी।
...पहचानो यह कौन द्वार पर अधनंगा आया है,
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है।
समझ सको यदि मर्म, बुलाये बिना दौड़कर आओ,
जो समझो तुम अंश अपर का उसे स्वयं दे जाओ।

(नील-कुसुम)

दिनकर-काव्य के विकास-क्रम को क्रमशः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं- संग्रह, समग्र कृतियाँ और अनूदित। 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' और 'रश्मिरथी' समग्र कृतियों के अन्तर्गत आती हैं। शैली की दृष्टि से संग्रहों को मुक्तकों और प्रबन्धकाव्यों में रखा जा सकता है। ऐसा लगता है, उनके मुक्तक काव्यों में स्फुट क्षणों की गहरी उत्तेजना और व्यवस्था, तथा साम्राज्यवादी नीतियों के विरोध की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हुई हैं। इनमें कवि ने अपनी निरपेक्ष वाणी मुखरित की है। तात्पर्य है कि मुक्तकों में दिनकर के आह्वान, क्रांति-चिंगारियों, शक्ति के उद्रेकों और सामाजिक सन्दर्भ में उचित हिंसा-वृत्ति से आविष्ट राष्ट्रीयता और मानववाद का स्वर है। 'कुरुक्षेत्र' में पौराणिक सन्दर्भों में समकालीन परिवेश की मार्मिक व्यंजना है, तो 'उर्वशी' में सौन्दर्य और प्रेम की उपेक्षित लेकिन सबल रेखाओं के छोटे अस्तित्व उभर आए हैं।

दिनकर के प्रेम-दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें तन का महत्व अन्त तक बना रहता है, चूँकि प्रेम की संवेदना का सम्बन्ध समूचे शरीर से है (प्रेम की मादकता का भेद, छिपा रहता भीतर मन में, / काम तब भी अपना मधुवेद, सदा अंकित करता तन में)। यह प्रेम हम प्राणियों की एक जैव मानसिक ऊर्जा है जो उचित आलम्बन के अभाव में प्रायः आत्मरति या सजातीय रति में परिवर्तित हो जाती है। और जो किसी भी आध्यात्मिक प्रयास या कठोर बौद्धिक नियन्त्रण से एक बार उन्मूलित नहीं हो सकती। यह शारीरिक प्रेम-भावना हमारे रक्त में तिल-तैलवत् समाई हुई है *(उर्वशीः विचार और विश्लेषण/ डॉ. वचनदेव कुमार)*। इसीलिए दिनकर ने इस प्रेम को 'रुधिर की वह्नि', 'वह्नि की लहर', 'शोषित की तीव्र क्षुधा', 'शोषित की मधुमय आग' और 'रक्त की उत्तप्त लहर' कहा है। इस तरह देह से उत्थित होने वाले 'प्रेम' को दिनकर ने रहस्य चिन्तन तक पहुँचा दिया है *(वह निरभ्र आकाश, जहाँ की निर्विकल्प सुषमा में, / न तो पुरुष मैं पुरुष, न तुम नारी केवल नारी हो, / दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के, / देह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है। 'उर्वशी')*।

'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' दिनकर की प्रबंधात्मक कृतियाँ हैं। 'उर्वशी' में प्रेम के दोनों पक्ष उपस्थित हो जाते हैं। ये दोनों पक्ष पुरूरवा के अन्तर्द्वन्द्व से बनते हैं- इसमें से एक पक्ष उर्वशी बनकर नाटकीय संघर्ष प्रस्तुत करता है। यूँ 'उर्वशी' में पाँच अंक इस प्रकार नियोजित हैं कि उसमें समस्त प्रेम-संघर्ष विधिवत आ सके। यह कहना असंगत न होगा कि उर्वशी का प्रेम दैहिक नहीं, दार्शनिक है। किसी के लिए प्रेम क्रीड़ा है, ऐन्द्रिय स्वाद है, मानव-सृष्टि में एक मूल्य है, एक पीड़ा है, विलास है, स्वच्छन्दवृत्ति है, समर्पण है, विश्वास है। उर्वशी में प्रेम के ये सभी रूप दिखाई देते हैं। एक दृश्य देखिए-

कवि-प्रेमी एक ही तत्व हैं तन की सुन्दरता से,
दोनों मुग्ध, देह से दोनों बहुत दूर जाते हैं।

दिनकर-काव्य में नवीन युग की चेतना का प्रखर-प्रबल स्वर मुखरित हुआ है। नये युग में मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था और उसके वर्तमान पर पड़नेवाले प्रभावों को कवि व कलाकार स्वीकार नहीं करता। नवयुग वस्तुतः इन्हीं जीवन-दृष्टियों का समन्वित रूप है। पुरातन के प्रति नयी दृष्टि दिनकर-काव्य की विशेषता है। पर उन्होंने मार्क्सवादी चिन्तन-चेतना को यथावत् अंगीकार नहीं किया। वे जागरूक कवि थे। अपने दायित्वों के प्रति अत्यन्त सजग-सचेत-सतर्क थे। राष्ट्रीय कवि अतीत गौरव को वर्तमान-उत्तेजना और जागरण के लिए आवश्यक माध्यम समझता है। दिनकर में क्रान्ति की परम्पराओं का अन्वेषण है। 'चन्द्राह्वान' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ पेश हैं-

जागो हे अविनाशी!
जागो किरणपुरुष! कुमुदासन! विधु-मण्डल के वासी!
जागो हे अविनाशी!
जागो शिल्पि अजर अम्बर के!
गायक महाकाल के घर के!
दिव के अमृतकंठ कवि; जागो, स्निग्ध-प्रकाश-प्रकाशी!
जागो हे अविनाशी!

आवाज में बड़ी शक्ति है। दिनकर में क्रांति के ओजस्वी तत्व सदैव राष्ट्रीय तत्वों से प्रबलतर होते गये हैं। वे लिखते हैं-

सिन्धु गर्जन कर रहा है;
ये नहीं मर जाएँ अम्बर में बिखरकर,
अमरता के लोभ से हर एक स्वर को,
भूमि की श्रुति में युगों से भर रहा है।

(नीलकुसुम)

'हुंकार' में विनाश के समय की प्रतीति कवि को होती है *(सुनूँ क्या सिंधु में गर्जन तुम्हारा ? / स्वयं युगधर्म का हुंकार हूँ मैं, / कठिन निर्घोष हूँ भीषण अशनि का, / प्रलय गांडीव का टंकार हूँ मैं)*। विनाश के कारक तत्व हैं आग, महामारी, कलह, अभाव, अन्तर्द्वन्द्व और शोषण (अव्यवस्था)। कवि यह अनुभव करता

है कि नये युग का आगमन हो रहा है। पुरातन में परिवर्तन क्रान्ति का प्रथम चरण है। नवयुवकों में पुरातन के प्रति बदलाव की भावना और क्रान्ति-धर्म स्पष्ट रूप से उभर रहा था जिसकी प्रतिध्वनि दिनकर की कविताओं में सुनाई देती है-

न देखे विश्व, पर मुझको घृणा से,
मनुष्य हूँ, सृष्टि का शृंगार हूँ मैं।

सबसे पहले यह दुरित-मूल काटो रे,
समतल पीटो, खाइयाँ पाटो रे!
बहुपाद बटों की सिरा, सोर छाँटो रे,
जो मिले अमृत, सबको समान बाँटो रे!

(परशुराम की प्रतीक्षा)

वस्तुतः वैषम्य और अभाव का मूल कारण उत्पादन के उपकरणों पर एक वर्ग का अधिकार और उत्पादित मूल्यों का असमान वितरण है *(पूछो कुबेर से कब सुवर्ण दे देंगे? / तूफान उठेगा, प्रलय-वाण छूटेगा, / है जहाँ स्वर्ण, बम वहीं स्यात फूटेगा। परशुराम की प्रतीक्षा)*। पूँजीवादी भवन की नींव में निम्न वर्ग की हड्डियाँ हाहाकार कर उठती हैं और भवन की दीवारें हिल जाती हैं। कवि घोषित करता है-

जानते हो यह अनोखा राज क्या है?
वज्र की दीवार यह क्यों काँपती है?
और गूँगी ईंट की आवाज क्या है?
तोड़ दो इसको, महल की वस्तुएँ बरबाद कर दो।
नींव की ईंट हटाओ,
दब गए हैं जो अभी तक जी रहे हैं
जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो।

दिनकर की दृष्टि सदैव समाज-सापेक्ष रही है। समाज-चेता क्रान्त-कवि होने के नाते उनकी कविता का तेवर तना हुआ था। एक ओर वे बाह्य जगत में व्याप्त विसंगतियों को उजागर करते हुए चलते हैं तो दूसरी ओर उनका कवि आन्तरिक जीवन दंशों और शोषण के चंगुल में फँसे आम आदमी की दुःस्थितियों से द्वन्द्व को मिटाने की चेष्टा करता है, पर ऐसा करने में वह प्रबल पक्षधरता से बचकर काल-बोध से जुड़ जाता है व हर स्थिति में उनकी कविता जमीन और मिट्टी में से गुजरती हुई कविता है। कवि कहता है-

भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही-उद्दाम,
बह रही असहाय नर की भावना निष्काम,
अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान,
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार,
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वहीं फुंकार भरता नाग।

जंगल में आदर्शों की रस्सियाँ बुनते हुए भविष्य के खण्डहरों में अन्धापन है- *है यहाँ तिमिर, आगे भी ऐसा ही तम है।* व्यक्ति के समस्त आन्तरिक मूल्यों और अहं के उद्रेकों पर तिरस्कारमयी व्यंग्य की तीखी बौछारें क्रान्ति की अग्नि को बुझाती नहीं, खौलते खून को न्यौत लेती हैं। 'लाल-क्रान्ति' की लौ-लपटें भारत में उठती नजर आती हैं। भगवतीचरण वर्मा की कविता दिनकर की रोशनी में गर्म हो आग उगलती है, पर दिनकर का क्रान्त-कवि जंग लगी संवेदनाओं का अभ्यस्त नहीं, वह अनुभूति के दर्द में अनुभूति और दर्द, दोनों का मुखरण करता है-

क्या उन्हें देख विस्मित होना, जो हैं अलमस्त बहारों में
फूलों को जो हैं गूँथ रहे, सोने-चाँदी के तारों में?
मानवता का तू विप्र, गन्ध-छाया का आदि पुजारी है,
वेदना-पुत्र! तू तो केवल जलने भर का अधिकारी है।
ले बड़ी खुशी से उठा, सरोवर में जो हँसता चाँद मिले,
दर्पण में स्वकर फूल, मगर उसका भी मोल चुकाता चल।

(संचयिता)

'रसवन्ती' और 'संचयिता' की सभी कविताएँ युग-परिवर्तन की कविताएँ हैं। इन कविताओं में बिम्ब के लिए कोई विशेष जगह नहीं है क्योंकि कवि का मूल भाव युग-परिवर्तन और नवीन-वर्तन है। किसान-जीवन का दर्द, मजदूर की विवशता और आम आदमी की विपन्नता के गहन भाव इनमें विद्यमान हैं। कवि को विश्वास हो गया है कि स्वाधीनता का एक मात्र उपाय ज्वलनशील क्रान्ति ही है। इसलिए कवि क्रान्तिकारी देवता का अपने अन्तर में आह्वान करता है-

जा रहा बीतता हवन-लग्न, करवटें चुकाले शेष-व्याल,
मेरे मानस के इष्टदेव, आओ खोलो निज जटा-जाल,
यह आमंत्रण उनका, न मोहने को जिनको है धरा धाम,
हैं सीख चुके ये निःस्वीर, है दहन मुक्ति की राह एक,
बल उठे किसी दिन वह्नि-राशि, ले देकर मेरी चाह एक।

(हुंकार)

कवि को ग्रामीणता से भी असीम प्रेम और वहाँ के वासियों से अगाध लगाव है। भारतीय कृषक के साथ ग्राम्यजन की यथार्थताएँ शीघ्र ही सौन्दर्य-सृष्टि को अपनी ओर खींच लेती हैं जैसे कि पन्त की 'ग्राम्या' में मिलती है। दिनकर की राष्ट्रीयता पौरुष की दीप्त क्रान्ति की चिनगारी, रक्तदान और महानाश के तत्वों से निर्मित है। कवि ने अतीत, वर्तमान और भविष्य को एक अविच्छिन्न परम्परा में रखकर देखने का सार्थक प्रयास किया है। उसे विश्वास है कि -

लोहे के पेड़ हरे होंगे,
तू गान प्रेम का गाता चल,
नम होगी यह मिट्टी जरूर,
आँसू के कण बरसाता चल!

'साहित्य कुटीर' साइट-2/44, विकासपुरी, नई दिल्ली - 110018

□

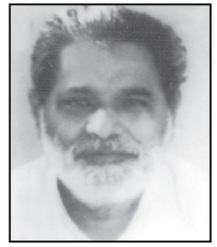

ऐसे थे दिनकर

साँवलाराम नामा

तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अड़ने जाता है।
किसी न्याय के लिए, प्राण अर्पित करने जाता है।
मानवता के इस ललाट-चंदन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

उपर्युक्त प्रार्थना में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने हमारे भारत देश की विशिष्टताएँ यथा-भारतीय संस्कृति, शान्ति, धर्मनिरपेक्षता, अखण्डता, एकता, त्याग, सत्य, स्नेह, प्रेम, न्याय, सहयोग आदि को शाश्वत सत्य के रूप में उभारा है जो भारतीय राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है।

23 सितम्बर, सन् 1908 को बिहार राज्य के मुंगेर जिले (अब बेगूसराय) के गाँव सिमरिया के सामान्य-से काश्तकार बाबू रवि सिंह के घर दूसरे पुत्र का जन्म हुआ। बालक का नाम रखा गया रामधारी सिंह।

ढाई ही वर्ष के थे रामधारी सिंह, कि पिताजी चल बसे! विधवा माँ करने लगीं बच्चों का लालन-पालन, परिवार को संचालन-सहयोग मिला था कुछ हितैषी कुटुम्बी-सज्जनों का।

जिस प्रकार महापुरुष अब्राहम लिंकन, लाल बहादुर शास्त्री जी को अध्ययन काल में अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था, ठीक उसी भाँति रामधारी सिंह को भी पढ़ने के लिए चार किमी. रोज पैदल चलकर जाना, फिर मैट्रिक तक हमेशा पन्द्रह किमी. चल मोकामा तक पहुँचना पड़ता था। बीच में गंगा नदी पड़ती है। दिनकर ने सन् 1928 में मैट्रिक परीक्षा में सर्वाधिक (हिन्दी विषय में) अंक अर्जित कर 'भूदेव' स्वर्ण पदक प्राप्त किया। गाँव छूटा। पटना विश्वविद्यालय के पटना कॉलेज से इतिहास में प्रतिष्ठा हासिल की। इतना होते-होते 1932 ई. व्यतीत हुआ। 1932 ई. के बाद आगे पढ़ने की व्यवस्था आर्थिक अभाव के कारण रुकी। नौकरियों की खोज की, क्योंकि परिवार का बोझ आ पड़ा था।

पहली नौकरी बरबीघा हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक पद पर 1933-34, फिर निबन्धन विभाग के अवर निबन्धक के रूप में 1934 से 1942 तक। पब्लिसिटी ऑफिसर, फिर जन सम्पर्क विभाग के उपनिदेशक पद पर 1947 से 1950 ई. तक। इसके बाद मुजफ्फरपुर के एक कॉलेज में हिन्दी प्राध्याापक 1950 से 1952 ई तक रहे।

आपने अपने काव्यांशों में दृढ़ संकल्प की स्थितियों का स्वर उकेरा है:

खम ठोंक ठेलता है जब नर,
पर्वत के जाते पाँव उखड़।
मानव जब जोर लगाता है,
पत्थर पानी हो जाता है।
...प्रकृति नहीं डरकर झुकती है,
कभी भाग्य के बल से।
सदा हारती वह मनुष्य के,
उद्यम से, श्रमबल से।

रामधारी सिंह के 'दिनकर' तत्व को पल्लवित-पोषित किया तुलसी के 'रामचरित मानस' तथा मैथिलीशरण गुप्त एवं माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं ने। उनके मन-मस्तिष्क पर जिनकी छाप पड़ी और जिनसे उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की, वे घटनाएँ और व्यक्तित्व हैं- अपने देश का स्वतंत्रता-संग्राम, विश्वस्तरीय पर स्वतंत्रता-कर्मियों के संघर्ष, गांधी जी के पावन कार्य और विचार, लेनिन के नायकत्व में निष्पादित क्रांति, भगत सिंह, चन्द्रशेखर और गणेशशंकर विद्यार्थी की शहादतें, स्वामी सहजानन्द सरस्वती का किसान आन्दोलन, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, श्रीमती एनी बेसेण्ट, दो-दो विश्व-युद्ध और उनके कारण विचार-जगत और साहित्य लोक के संघर्षयुक्त विचार। उनके लगभग पाँच हजार पृष्ठों में प्रकाशित पठनीय, उत्प्रेरक प्रकाशित साहित्य में सबकी सशक्त अनुगूँज स्पष्ट रेखांकित की जा सकती है।

पूर्ववर्ती छायावाद की कोरी कल्पनाओं से जनमानस में घृणा, निराशा उत्पन्न हो गई थी। तात्कालिक परिस्थितियों में यथार्थ के चित्रकार की तरह साहित्यकार की आवश्यकता थी। तब दिनकर ने अपने काव्यों में यथार्थ को निम्नांकित बातों का ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत किया है :

1. रूस की समाजवादी क्रांति।
2. समाजवादी, सामन्तवादी और पूँजीवादी शोषण का उन्होंने अपने काव्य में बेबाक चित्रण किया व उन्हें धिक्कारा तथा खुले आम चुनौती दी।

पूर्व व्याख्याता, सदर बाजार रोड, बड़े चौहटे के पास
भीनमाल, जिला - जालौर (राजस्थान) - 343029

शांति व मानवता के पुजारी दिनकर

पी.के. चतुर्वेदी

हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की साहित्य साधना छोटी उम्र से ही प्रारंभ हो गई थी। उन्होंने अपने लंबे साहित्यिक जीवन में काव्य, गद्य, निबन्ध व व्यंग्य रचनाएँ रचीं। उनका रचना काल हिन्दी साहित्य के छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, साठोत्तरी कविता व अतुकांत रचना काल तक अत्यंत विस्तृत रूप में फैला।

भारतीय इतिहास व विश्व इतिहास का वह युग जिसमें इस साहित्यकार ने साहित्य को समृद्ध किया, सर्वाधिक घटना वाला काल रहा है। एक ओर भारत की पराधीनता, गांधी जी का अहिंसक व क्रांतिकारियों का हिंसक आन्दोलन, स्वतंत्रता की प्राप्ति, लोकतंत्र का विकास, फिर चीनी आक्रमण, राजनीतिज्ञों और नौकरशाही का भ्रष्टाचार और निकम्मापन तथा नष्ट होती व्यवस्था कवि ने देखी और अनुभव की। दूसरी ओर दो-दो विश्व युद्ध, परमाणु बम से विनाश, लीग ऑफ नेशन्स की विफलता, उग्र राष्ट्रवाद व नाजीवाद के सहारे स्वयं की जातीय श्रेष्ठता और दूसरों के प्रति विद्वेष की भावना, व्यक्ति की समानता व स्वतंत्रता का गला घोंटा जाना, फिर अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का उदय कवि ने देखा। यद्यपि इन सबका उनकी रचनाओं पर बहुत गहरा प्रभाव दिखता है लेकिन उन्होंने इन सबके बीच पीड़ित मानवता व शांति की तलाश में भटक रहे हिंसक मानव की सिसकियों को सुना और अनुभव किया। परिणामस्वरूप वे शांति व मानवता के पुजारी बन गए और उनकी प्रत्येक रचना में मानवता व शांति के संदेश की गूँज स्पष्ट सुनाई देती है। राष्ट्रकवि व राष्ट्रधर्म के रूप में वीर रस की रचना करने वाले कवि के रूप में उनका उल्लेख अब तक किया जाता रहा है लेकिन उनका मूल्यांकन वास्तव में आधा-अधूरा है। वे वास्तव में शांति, प्रेम, करुणा व मानवता के कवि थे। वे राष्ट्रकवि ही नहीं थे बल्कि एक ऐसे कवि थे जिन्होंने सदैव मानव मात्र के कल्याण की कामना की। उन्होंने चक्रवाल की भूमिका में लिखा है: *मेरा मन भी चाहता था कि मैं गर्जन-तर्जन से दूर रहकर कल्पना व कोमलता से परिपूर्ण कविताएँ लिख सकूँ... राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी, उसने तो बाहर से आकर मुझे आक्रांत किया।*

नाजीवाद की उग्र जातीय व राष्ट्रीय भावना के दुष्ट प्रयास से होने वाले महाविनाश और वैयक्तिक स्वतंत्रता व समानता के गौण हो जाने से कवि ने ऐसे राष्ट्रवाद की तुलना पशुता से की है: *और आपको विदित नहीं क्या! राष्ट्रवाद यह कैसे विश्व मनुज को जन्म ग्रहण करने से रोक रहा है। कारण ऐसा राष्ट्रवाद उपयोगी भाव नहीं पशुता है। विश्वपुरुष पाशविक धरातल पर कैसे जन्मेगा...(कोयला व कवित्व)!* स्पष्ट है कवि के अनुसार आंतरिक व स्व-व्यवहार के लिए तो राष्ट्रबोध अपेक्षित है, लेकिन जहाँ समग्र मानवता का प्रश्न है, ऐसा राष्ट्रवाद अमानवीयता ही है। परमाणु बम का महाविनाश व जाति की श्रेष्ठता के लिए हिंसा का खुला ताण्डव देखने के पश्चात कवि ने यह अनुभव किया कि मानवता का कल्याण, समूह भावना विकसित करने में ही है। मानव मात्र के कल्याण के लिए गीता में दर्शाए गए भारतीय जीवन दर्शन 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवम जन्म...' को अंगीकार करने के लिए कवि कहता है: *जीवन ही कल मृत्यु बनेगा और मृत्यु ही नवजीवन ...(द्वंद्वगीत)।*

जीवन व मृत्यु की इस निश्चितता को महसूस करते हुए कवि विश्व-बंधुत्व की कल्पना में खो जाता है, जहाँ सभी एक दूसरे की समानता व स्वतंत्रता का सम्मान करते हुए जीवनयापन व विकास कर सकेंगे। इस विश्व-बंधुत्व के लिए कवि उस सर्वशक्तिमान प्रभु से प्रार्थना करता है-

समय की वह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान;
धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा, कब जलेगा विश्व में भगवान।

क्या 'कुरुक्षेत्र' के इस प्रश्न का कोई जवाब है कि दिनकरजी की मूल भावना शांति व विश्व-बंधुत्व की क्यों थी? वे क्यों शांति व प्रेम के पुजारी बने? क्योंकि जहाँ शांति है; वहाँ प्रेम है, वहाँ मानवता है; जहाँ मानवता है, वहाँ हिंसा व स्वार्थ के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वहाँ मानव शांति व प्रेम से रहकर स्वयं का, मानव मात्र का विकास कर सकता है।

लेकिन क्या शांति का पुजारी कोई निकम्मा व्यक्ति हो सकता है? क्या भाग्यवादी कभी मानव का कल्याण कर सकता है? कवि का उत्तर 'नहीं' में है। वे मूलतः कर्मवादी हैं। उनका कथन है: 'जीवन के प्रति मेरा एक ही दृष्टिकोण है, खूब काम करो'। *जब तक शेष पंथ, तब तक विश्राम नहीं, उद्धार नहीं (द्वंद्वगीत)।* अतः शांति से रहकर ही मनुष्य अपने कर्म पथ पर आगे बढ़ता रह सकता है। कवि का संदेश है कि कर्मवादी कौन हो सकता है, परिश्रम कौन कर सकता है। वही जो अपने आत्म विश्वास व पौरुष से परिपूर्ण है। जिसमें स्व-विश्वास है, वही स्वार्थ का त्याग कर सकता है। यह त्याग व बलिदान स्वयं, समाज, राष्ट्र या मानव मात्र के कल्याण, निर्माण व विकास के लिए हो सकता है। कवि कहता है-

चाहिए उर साथ जीवन दान भी,
प्रेम की टीका सरल बलिदान ही,
प्रेम रस पीकर किया जाता नहीं,
प्यार भी जीकर किया जाता नहीं। (रेणुका)

अतः कवि की प्रेम व त्याग की भावना कोमलता व मांसलता में सन्निहित न होकर, निरंतर त्याग की भावना से ओत-प्रोत है। यह त्याग ही है जो मानव मन से स्वार्थ-लोलुपता व हिंसा का समूल नाश कर देता है। कवि ने यह त्याग की भावना मूल रूप से भारतीय दर्शन व इतिहास से ही पायी थी जहाँ स्वयं भगवान ने गीता में अर्जुन को उपदेश दिया है:

अभ्यास पथ से योग उत्तम, योग से गुरु ध्यान है।
फिर ध्यान से है त्याग उत्तम, त्याग शांति प्रधान है।

इस प्रकार शांति व प्रेम का पुजारी यह कवि अपनी रचनाओं से मनुष्य को भोगवाद से दूर ले जाना चाहता है। यहाँ तक कि 'उर्वशी', जो उदात्त प्रेम व काम का ग्रंथ माना जाता है, के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि उर्वशी जहाँ उदात्त प्रेम की प्रतीक है, वहीं पुरूरवा आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक। कवि ने दोनों का सुंदर समन्वय कर प्रेम को पूर्णता प्रदान की है क्योंकि प्रेम के स्पर्श मात्र से मनुष्य में देवत्व के दर्शन होते हैं:

प्रेम क्या है क्षीर का निर्झर कि जब वह फूटता है,
हृदय नर का संत की आवाज हो जाता है
(सीपी और शंख)

शांति व प्रेम के आजीवन पुजारी रहे कवि ने जब देखा कि मनुष्य दैहिक सुख व भोग विलास की ओर पुनः बढ़ रहा है, जनप्रतिनिधि भ्रष्टाचार में आकंठ डूबने लगे हैं, गांधी की टोपी व कुरता जन-प्रतिनिधियों की पहचान बने रहे हैं तब उन्होंने सभी को सत्य बोलने, छल-प्रपंच से दूर रहकर चाटुकारिता से बचने का संदेश दिया है। क्योंकि यही वे अवगुण हैं जो समाज व राष्ट्र को नीचा दिखाकर पतन व हिंसा की ओर ले जाते हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में वे कहते हैं:

जो सत्य जानकर भी न सत्य कहता है,
जो किसी लोभ के विवश मूर्ख रहता है,
वह मूक सत्य हंता कम नहीं, अधिक है,
जो छल प्रपंच सबको प्रश्रय देते हैं,
या चाटुकार जन से सेवा लेते हैं,
यह पाप उन्हीं का हमको मार रहा है
भारत अपने घर में ही हार रहा है।

इस प्रकार यह महान साहित्यकार एक ऐसे मनीषी के रूप में आजीवन अपनी रचनाओं के माध्यम से मनुष्य मात्र को प्रेम व शांति का संदेश देता रहा जिनको मान्य करने पर समाज, राष्ट्र व विश्व का कल्याण हो सकता है। उनका संपूर्ण साहित्य न केवल राष्ट्र, वरन् मानव मात्र की अमूल्य धरोहर है।

४० जनार्दन गली, सिंहपुरी, उज्जैन, मध्य प्रदेश

□

समर शेष है, इस स्वराज्य को सत्य बनाना होगा।
जिसका है यह न्यास, उसे सत्वर पहँचाना होगा।
धारा के मग में अनेक पर्वत जो खड़े हुए हैं,
गंगा का पथ रोक इन्द्र के गज जो अड़े हुए हैं,
कह दो उनसे,झुके अगर तो जग में यश पायेंगे,
अड़े रहे तो ऐरावत पत्तों-से बह जायेंगे।

-दिनकर

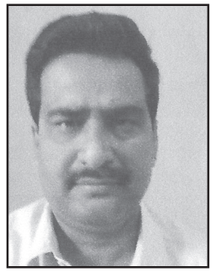

द्वंद्व और संघर्ष के कवि : दिनकर

सुशील कुमार

हिन्दी साहित्य में रामधारी सिंह 'दिनकर' का प्रादुर्भाव तब हुआ, जब छायावाद ढलान पर था। बीसवीं सदी का तीसरा दशक, सन् 1928-29 का समय। पराधीन देश को जीवन, जागरण, प्रेरणा और अदम्य संघर्ष-शक्ति की जरूरत थी। लिहाजा साहित्य में यह काल सुकोमल, अमूर्त्त या वायवीय विषय-वस्तुओं पर रचना का नहीं, स्वाधीनता का भाव जगाने वाली; पराधीनता, शोषण-उत्पीड़न और उपनिवेशवाद के विरोध में मुखर होकर अपनी बात कहने वाली रचना का था। पर यह सब इतना आसान नहीं था। वैचारिक सूत्रों को व्यक्त करने वाली भाषा-शैली भी चाहिए थी और दिल में गुलामी से लड़ने की आग, तभी मुक्ति के स्वर का बिगुल फूँकना संभव था।

सामने की दुनिया से असंतुष्ट होकर अधिकांश कवि रोमांसवाद की पलायनवादी प्रेरणाओं से एकात्म हो रहे थे। या तो वे दुर्दिन से दुःखी होकर अंतर्मुखी हो जाना चाहते थे या फिर सृजन सुख की खोज में मुर्दा इतिहास में वापस लौट आना चाहते थे। इस कठिन समय में आधुनिक हिन्दी कविता कों एक ऐसे कवि की जरूरत थी जो ओजमयी ऋजु भाषा-शिल्प में जन-गण के मन को मथ कर उनमें स्वतंत्रता का भाव भर सके, दासता की नींद में ऊंघती लोक-चेतना को जगाकर उसे 'करने-मरने' को उद्वेलित कर सके, जिसका श्रेय मुख्य रूप से कवि दिनकर जी को जाता है जिनकी सशक्त लेखनी ने अपनी तेजोमय आह्वान-शक्ति से जनता को ललकार कर विद्रोही स्वर में पराधीन भारत की मुक्ति के गीत गाये।

कलावादियों को यह बात तब भी नहीं पचती थी और अब भी नहीं। इनका विचार है कि कविताओं से इतर काम नहीं लिया जाना चाहिए। इस तरह की कविताएँ मानव-मन पर डोरे डालने का काम करती हैं जो कि कवियों का काम नहीं। लेकिन जैसा कि दिनकर जी ने कहा है, "मेरी दृढ़ धारणा है कि शुद्ध कविता भी समाज के लिए ही लिखी जाती है" तब कविता के सामाजिक कर्म पर चीखें-चिल्लाहटें क्यों? एक उदाहरण इसे और स्पष्ट करता है- जहाँ पेड़ और नदी हैं, वहाँ वे प्रकृति में सिर्फ अपनी छटाएँ ही नहीं बिखेरेंगे, पेड़ फल-फूल और छाया देंगे, नदी जल और नमी देगी। मात्र मानसिक आह्लाद ही नहीं, शरीर की थकान और भूख-प्यास भी मिटायेंगे। यह उनका स्वाभाविक गुण है। उसी प्रकार कविता की सहज प्रकृति मात्र हृदय को पूरा करना ही नहीं, एक पूरा आदमी भी गढ़ना है, बनाना है जो कविता का इतर कार्य समझना भारी भूल होगी। मगर जहाँ-जहाँ ऐसे रीतिवादी-कलावादी विचारक-कवि हैं, आज पृथक गुट का सृजन कर साहित्य में गुटबाजी को जन्म दे रहे हैं। ये शब्दों के संसार में रहकर शब्दों से खेलते हैं, आमजन की सच्चाइयों से इनका दूर तक वास्ता नहीं, सुविधाओं की लालच इन्हें महानगरों में खींच लाता है, इनका व्यक्तित्व इकहरा नहीं, और कृतित्व मानसिक भूख से उपजी शब्दों के भ्रमजाल भर। न कभी ये सामाजिक संचेतना और जनसरोकार के कवि रहे। ऐसे लोग तरह-तरह का तिकड़म कर दिनकर जैसे अपने ढंग के अनूठे और लगनशील कवि को, जो सदैव मुक्ति के गायक और राष्ट्रीय चेतना के समर्पित कवि रहे, भुला देना चाहते हैं। किन्तु तिकड़मी लोग धीरे-धीरे खुद हाशिये पर चले जाते हैं, इतिहास गवाह है।

दिनकर की कविताओं में कहीं भावनाओं के उदग्र स्वर, तो कहीं भावप्रवण, स्निग्ध और कोमल धारा देखकर कुछ लोगों को दिनकर के छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कड़ी होने का भरम होता है। परन्तु सच्चाई है कि दिनकर साहित्य में किसी वाद-विशेष को लेकर कभी चले नहीं। आजीवन अपनी अनुभूति के प्रबल आवेग को स्वच्छंद अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास किया। तत्कालीन काव्य प्रवृत्तियाँ छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद साहित्य के किसी भी खांचे में वे समा नहीं सके।

इनकी कविताओं में एक ओर प्रेमजनित भावपूर्ण अनुभूतियों का गहरा वेग है तो दूसरी ओर दासता से मुक्ति का विद्रोही स्वर और सामाजिक कुरीतियों-विषमताओं के विरोध का कड़ा तेवर। दोनों ही दिनकर के काव्य की उपलब्धियाँ मानी गयी हैं क्योंकि राष्ट्रीय-सामाजिक धारा ने उन्हें राष्ट्रकवि का दर्जा दिलाया तो सौम्य-गंभीर चिन्तन, भावात्मक प्रकृति और गीतात्मक भाषा-शिल्प से निःसृत वैयक्तिक भावधारा ने सम्माननीय ज्ञानपीठ से नवाजा। देखने वाली बात है कि उनके काव्य में उपर्युक्त दोनों विपरीत ध्रुवों की प्रवृत्तियाँ बारंबार दृष्टिगोचर हुई हैं, जिस कारण उनका काव्य जीवन आदि से अंत तक द्वंद्वों से जूझते रहने की मनोहारी कथा है। इस सहज किन्तु दुर्लभ प्रकृति के कारण उनके काव्य को 'दहकते अंगारों पर इन्द्रधनुषों की क्रीड़ा' कहा गया।

उनके काव्यजीवन का यह द्वंद्व आज भी उतना ही समकालिक और प्रासंगिक है। कविताएँ आज छंदों के बंधन से भले ही मुक्त हो गयी हों पर द्वंद्व पहले से भी अधिक परिमाण में मौजूद है जो कविता के भीतर तनाव या घिराव का वातावरण सिरजता है। मुक्तिबोध ने भी 'नई कविता के आत्मसंघर्ष' में उल्लेख किया है कि आवश्यकता इस बात की है कि हम इस द्वंद्व को समझें और तदनुसार अनुभव-समृद्धि बढ़ाएँ।

द्वंद्व दिनकर के काव्य जीवन के पग-पग में घटित है, लक्षित है, या कहें कि उनकी भावना और चिंतन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। यह द्वंद्व ही रचना में भावों का गुंफन पैदा करता है, विषय-वस्तु के प्रत्येक क्षेत्र में भरमाता है और बेचैन करता है। दिनकर का कवि इस गंभीर संकट से जूझता है, उबरता है जिसमें उनकी काव्य साधना द्वंद्व की चुनौतियों को स्वीकारती हुई समाधान का पथ भी प्रस्तुत करती है।

'कुरुक्षेत्र' (1946) एक सर्वाधिक समर्थ अभिव्यक्ति है द्वंद्व की, जो युद्ध और शांति, हिंसा और अहिंसा, प्रवृति और निवृत्ति की जीवन-शैली तथा विज्ञान और आत्मज्ञान की परिणति में निहित है। उसके पूर्व 'द्वंद्वगीत' (1940) तो नाम से ही स्पष्ट है। 'उर्वशी' (1961) तो अप्सरा और लक्ष्मी, संशय-युक्त मानव और संशय रहित देवता एवं काम और अध्यात्म के द्वंद्वों की गाथा है।

स्वातंत्र्य भावना के कवि दिनकरः वैसे तो स्वच्छंदतावादी कवियों के यहां स्वातंत्र्य भावना साहित्य का प्रमुख तत्व है किन्तु दिनकर के काव्य में इसका फैलाव राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैयक्तिक, साहित्यिक यानी हर स्तर पर देखा जा सकता है क्योंकि पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी जनता की दैन्य दशा से दिनकर की आत्मा अत्यंत क्षुब्ध थी। 'रेणुका', 'हुंकार', 'रसवंती' से 'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी', 'इतिहास के आंसू' होते हुए 'धूप और धुंआ', 'रश्मिरथी', 'नीम के पत्ते' 'नील कुसुम' और फिर 'नये सुभाषित' 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक-सभी काव्य कृतियों में किसी न किसी रूप में स्वाधीनता की पुकार सुनायी देती है। यहाँ सिर्फ राजनीतिक जागरण की ही बातें नहीं हैं, स्वतंत्रता की व्यापक अर्थ में चर्चा हुई है। वर्ण-जाति के बंधनों की स्वतंत्रता से लेकर नारी मुक्ति तक, धार्मिक पाखंड और आडम्बर से भी स्वतंत्रता तक के नगाड़े बजते हुए सुने जाते हैं। नीचे कुछ उदाहरणों से यह स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगा-

1. *राजनीतिक स्वतंत्रता :*

सावधान जन्मभूमि किसी का चारागाह नहीं है,
घास यहाँ की पहुँच पेट में काँटा बन जाती है।

-नीम के पत्ते

2. *शोषण से स्वतंत्रता :*

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं।

-हुंकार

3. *वर्ण और जाति से स्वतंत्रता :*

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं,
जागो बोधिसत्व भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं,
जागों विप्लव के वाक्, दंभियों के इन अत्याचारों से,
जागो हे, जागो तप निधान! दलितों के हाहाकारों से।

रेणुका

4. *स्त्री-मुक्ति :*

भागी थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से,
फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से
उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूँगी,
डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूँगी।

रश्मिरथी

5. *वैयक्तिक स्वतंत्रता :*

भय से मुक्ति न मिली, मुक्ति का मोल रहा क्या?
अभय कौन, नर को नर से ही त्रास अगर।

नीलकुसुम

6. *धार्मिक स्वतंत्रता :*

आरती लिये तू किसे ढूंढता है मूरख;
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर मिट्टी तोड़ रहे हैं,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

नीलकुसुम

7. भाग्यवादी विचारों से मुक्ति :

महाराज उद्यम से विधि का अंक उलट जाता है,
किस्मत का पासा पौरुष से हार पलट जाता है।

रश्मिरथी

समय के साथ काव्य के प्रतिमान बदलते रहे हैं। आधुनिक कवियों ने महसूस किया कि काव्य का पुरातन यौगिक, रूढ़ और जटिल शिल्प जीवन के मूल्य और बदलते सत्य को शब्दशः रखने में असमर्थ होने लगे हैं। जनमन में व्याप्त कुंठा और संत्रास की भावनाएँ अपनी अभिव्यक्ति नहीं पा रही थीं। इनके शिल्पगत मूल्यों के संबंध में दिनकर जी का स्वानुभूत सत्य उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है :-

"मुझे अपने ही कृत प्रयोग से यह भासित हो गया है कि कविता की प्रचलित शैली अपूर्ण होने लगी है और यहाँ से काव्य का मार्ग वे प्रशस्त करेंगे जिन पर परंपरा का बंधन उतना कड़ा नहीं जितना कि हमलोगों पर है।"

स्पष्ट है कि वे साहित्य के आभिजात्य से मुक्ति के पक्षधर थे। कहना न होगा कि स्वच्छंदतावादी कवियों की तरह दिनकर जी ने काव्य के साधना पक्ष अर्थात शिल्प के कठोर नियमों के प्रति विद्रोह करते हुए अनुभूति के अनुकूल शिल्प की योजना की। दिनकर मानते है कि 'कविता भाव समूह का आन्दोलन है एवं कविता लिखने का अर्थ एक ऐसी भाषा तैयार करना है जो सभी संवेदनाओं, सभी रंगों, सभी गंधों और सभी स्वरों को अभिव्यक्ति दे सके। कविता का जन्म अनुकरण से नहीं वरन् उसका जन्म मानव मन की उस गहराई में होता है, जो स्वभाव से ही अविधेय है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त शब्दों में सनसनाहट होती है, खुशबू होती है, ध्वनि और रंग होता है।'

इन सभी तथ्यों का आत्मा की गहराई तक अनुभव करने के कारण दिनकर मानते हैं कि 'काव्यात्मक सत्य तक जाने का अभिनव मार्ग ऊँचा और खतरनाक है। उस पर चलने के लिए शृंखला, परंपरा, उदाहरण, रिवाज, जंजीर और नियमों का उल्लंघन आवश्यक होता है।'

परंपरा से चले आ रहे छंदों को भी दिनकर अनुपयुक्त मानते हैं। सायास छंद योजना की अपेक्षा भावानुकूल छंद योजना दिनकर को प्रिय है। इसी कारण परंपरा-प्राप्त छंदों के स्थान पर नये छंदों के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हुए वे लिखते हैं कि-

'अब वे ही छन्द कवियों के भीतर से नवीन अनुभूतियों को बाहर निकाल सकेंगे जिसमें संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी, जो उड़ान की अपेक्षा चिन्तन के उपयुक्त होंगे। क्योंकि हमारी मनोदशाएँ परिवर्तित हो रही हैं और इन मनोदशाओं की अभिव्यक्ति वे छन्द नहीं कर सकेंगे जो पहले से चले आ रहे हैं।'

दिनकर जी के उक्त मंतव्य से यह स्पष्ट होता है कि वे परंपरागत छंदों से स्वतंत्रता की बात कर रहे हैं किन्तु भावानुकूल छंदों के प्रति उनके हृदय मे मोह और आकर्षण विद्यमान है, क्योंकि वे मानते हैं कि 'कविता के नये माध्यम, यानी नये ढाँचे और नये छंद कविता की नवीनता के प्रमाण होते हैं। उनसे युगमानस की जड़ता टूटती है, उनसे यह आभास मिलता है कि काव्याकाश में नया नक्षत्र उदित हो रहा है। जब कविता पुराने छंदो की भूमि से निकलकर नये छंदो के भीतर पाँव धरती है, तभी यह अनुभूति जगने लगती है कि कविता वहीं तक सीमित नहीं है जहाँ तक हम उसे समझते आये हैं बल्कि और भी नयी भूमियां है, जहाँ कवि के चरण पड़ सकते हैं। नये छंदों से नयी भावदशा पकड़ी जाती है। नये छंदो से नयी आयु प्राप्त होती है।'

हिन्दी साहित्य की इस कलात्मक आजादी के संबंध में दिनकर जी का कहना है कि 'शुद्ध कलावादियों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रीतिकाल के बाद की हिन्दी कविता कला की पराजय और जीवन की विजय की कविता थी।'

दिनकर की साहित्यिक स्वातंत्र्य संबंधी मान्यताएँ उनके काव्य में पूर्ण रूप से फलीभूत हुई है। काव्य रूप के स्वातंत्र्य के लिए उनके काव्य 'उर्वशी' एवं कुरुक्षेत्र' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इनका कलेवर प्राचीन शास्त्रीय नियमों में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दिनकर ने साहित्यिक-स्वातंत्र्य के लिए दृढ़तापूर्वक अपने विचारों को प्रस्तुत किया है एवं काव्य में उन्हें समय के अनुसार व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। दिनकर के समग्र किये-धरे में अनुभूति की तीव्रता और गहराई ही छंद, अलंकार और शैली का स्वरूप निर्धारित करती है। उनके काव्य में यह भाषागत लोच सायास नहीं है और काव्य की रूपयोजना भी परंपरा-समर्थित न होकर विषयानुकूल और सहज है।

सरसरी नजर से देखने पर भी यह साफ है कि दिनकर की काव्यधारा दिनकर के कवि को किसी भी साहित्यिक वाद-विशेष में उलझाती नहीं, बल्कि साहित्य के क्लासिक बंधन से ऊपर उठकर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढती है जो सरल व बोधगम्य है। अतएव उन्हें साहित्य के आभिजात्य से मुक्ति की परंपरा की एक प्रमुख कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। इसलिए कविता आज छंद से छूट कर अपने लयात्मक गति और द्वंद्व के साथ जिस रूप में समय के सच को अभिव्यक्त कर रही है, उसके आन्दोलन में दिनकर जी की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। आज की कविता रूढ़ि और परंपरा से पूर्णतया मुक्त है। इसमें किसी कवि-विशेष का अवदान नहीं, अतएव कविता को इस भावभूमि तक लाने का श्रेय अन्य कवियों के साथ ही रामधारी सिंह 'दिनकर' का भी है जिन्होंने अपने समय को तो शब्द दिये ही, आने वाले समय की कविता के लिए एक पृष्ठभूमि भी तैयार की।

हंस निवास, काली मंडा, हरनाकुन्डी रोड, पो. पुराना दुमका,
दुमका, झारखण्ड - 814101

दिनकर : बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व के स्वामी

डॉ. परमानंद राय

दिनकर अपनी कविताओं के कारण आम जनता द्वारा याद किये जाते हैं। आजादी के पहले रची कविताओं का स्वर विद्रोही होने के कारण वे कविताएँ सत्ता विराधियों द्वारा आमजनता के बीच ओजपूर्ण स्वर में आज भी गायी जाती हैं। सन् 1974 के बिहार आंदोलन के समय दिनकर की यह पंक्ति 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' बड़े ही नाटकीय अंदाज में उद्‌बोधित की जाती थी, यह पंक्ति विद्रोह का पर्याय बन गई थी। आंदोलनकारियों का मानो मंत्र वाक्य बन गया था। दिनकर अपनी कविताओं में आम जनता के दुःख-दर्द की आवाज बन कर प्रकट होते हैं, उनकी परदुःख कातरता ही कवि की लेखनी से बहकर कविता बनी है। यही कारण है कि आम जनता दिनकर को अपना प्रतिनिधि कवि मानती रही है, 'हुंकार', 'रश्मिरथी' आदि कविताओं में दिनकर दलितों-शोषितों की ही पीड़ादायक सत्ता-प्रतिष्ठानों के प्रति चुनौतीपूर्ण मुखर आवाज हैं। यही कारण है कि जब भी देश की तरुणाई करवट बदलती है, वह दिनकर की 'हुंकार' में अपनी हुंकार पाती है और उसका जयनाद करती है, उसका जयघोष करती है।

तरुणाई और जवानी की अँगड़ाई में दुनिया को मनोनुकूल बनाने का सपना स्वाभाविक-सा लगता है किन्तु क्या कोई इसमें पूर्ण कामयाब हो सका है? आदमी अंततः भावनाओं के स्तर पर विश्राम चाहता है। परिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक दायित्वों के प्रति सतत सचेष्ट और क्रियाशील होते हुए भी आदमी आंतरिक शांति और मानसिक विश्राम की कामना करता है। यही कारण है कि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में दिनकर ने 'उर्वशी' की खोजकर सौन्दर्य लोक में विचरण कर मानसिक क्लेश से मुक्ति पाने का स्तुत्य प्रयास किया। जीवन केवल विद्रोह नहीं, यह मात्र चुनौती नहीं/मात्र चिंगारियां बिखेरने से तात्कालिक रोशनी ही मिलती है किन्तु जीवन और समाज तात्कालिक रोशनी की चकाचौंध से नहीं चलता, आगे नहीं बढ़ता। इसके लिए स्थायी प्रकाश पुँज की जरूरत होती है। इसी स्थायी पूँजी की खोज है 'उर्वशी'। जीवन में सत्यं शिवं सुन्दरं की महती आवश्यकता होती है। इसी लक्ष्य की सामाजिक प्राप्ति में लेनिन और गांधी जीवनभर प्रयत्नशील बने रहे।

आदमी जब किसी स्तर पर थका, विचलित और ऊबा महसूस करता है तब वह एकांतिक एवं वैयक्तिक सुख की खोज में इतर लोक की भी काल्पनिक उड़ान भरता है जहाँ वह नई ऊर्जा प्राप्त करता है। रोमांटिक कवि कीट्स भी नाईटिंगल के साथ उड़ान भरता है और दुनियावी दुःख-दारिद्र से मुक्ति का एहसास करता है। इसी प्रकार उर्वशी भी दिनकर की स्वान्तः सुखाय की खोज है।

आम जन दिनकर को कवि रूप में ही जानते हैं। लोहिया उन्हें महाकवि कहकर पुकारते थे लेकिन 'संस्कृति के चार अध्याय' ने उन्हें गद्य लेखक के रूप मे बौद्धिक समाज में प्रतिष्ठापित किया। दिनकर के गद्य लेखन की सेवा स्मृति हमें हरिवंश राय बच्चन के आत्मकथा लेखन की भी याद दिलाता है। इन दोनों कवियों ने कवित्त संसार के आयाम को जितना बढ़ाया है, उससे शायद ही कम उनकी हिन्दी गद्य-सेवा हो। दिनकर लिखित हिन्दी गद्य-लेखन का डॉ. दिवाकर द्वारा संपादित रूप 'दिनकरनामा' कवि को गद्यकार के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें दिनकर के लेखकीय रूप का मूर्तिमंद परिचय मिलता है।

दिनकर मात्र कविता पाठ करने वाले कवि ही नहीं थे वरन् वे समर्थ भाषण-कर्ता भी थे। सरल भाषा में विचार-प्रधान भाषणों से बौद्धिक वर्गों के साथ-साथ आम जनता को भी अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता दिनकर में कूट-कूट कर भरी थी।

दिनकर जी समय-समय पर आलेख लिखने के भी शौकीन थे। अपने एक आलेख 'गाँवों से रेशमी नगर' में उन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है 'मेरा बीजमंत्र क्या है- इस संबंध में कुछ विशेष नहीं बता सकता है केवल एक शब्द

जानता हूँ। प्रवृत्ति यानी जीवन को स्वीकार करने का भाव। जीवन की स्वीकृति मेरी कर्मठता है, कर्मयोग है, अध्यवसाय है।'

अपने प्रेरक भाव के संबंध में उनका कहना है कि 'आर्थिक आवश्यकता के अतिरिक्त उनके प्रेरक भाव का सुख, रचना की प्रक्रिया में खोकर सब कुछ से मुक्त हो जाने का आनंद है।'

दिनकर जीवनपर्यन्त संघर्षशील और क्रियाशील बने रहें। क्रियाशील और संघर्षशील आदमी जीवन से कभी निराश और उदासीन नहीं हो सकता। यही कारण है कि संघर्षशील दिनकर अपने जीवन के किसी भी प्रसंग को सर्वाधिक करुण मानने से इंकार करते हैं। अपनी जीवन-यात्रा के प्रसंग में दिनकर अपनी निर्धनता को याद करते हैं। उनकी जीवन-यात्रा कीचड़, खड्ड, कंकड़, कानन और रेगिस्तान से निकल कर रेशमी नगर तक पहुँची थी।

जीवन में लोग धन और यश की कामना करते हैं। इन्हीं चीजों की प्राप्ति में आदमी अहर्निश अपने-अपने स्तर पर क्रियाशील और प्रयासरत भी रहता है। दिनकर ने अपने परिश्रम और लगन से धन और यश दोनों की प्राप्ति की थी किन्तु उन्हें भी पूर्ण संतोष नहीं मिल सका था। इसी असंतुष्टि की भावना एवं और अधिक की कामना ने दिनकर को जीवन भर संघर्षशील पथिक बनाये रखा। लेखन और काव्य के क्षेत्र में गहरी आस्था के कारण ही उनकी लेखनी ने कभी विश्राम नहीं पाया। आत्माभिव्यक्ति की आकुलता और अदम्य इच्छा के कारण ही वे अपने लेखन-प्रभा मंडल से अभिभूत नहीं रह सके। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि पहले उन्हें 'रसवंती' से संतोष मिला था, फिर 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' से किंतु 'उर्वशी' के प्रकाशित होते-होते वे असंतुष्ट हो गए थे। इस असंतोष में दिनकर के कवि में शेष काव्यऊर्जा की झलक मिलती है जो निस्सिम निराकार से खींचकर अपने काव्य-जगत् को और अधिक समृद्ध और यशस्वी बनाने की कामना से ओत-प्रोत है। जब आदमी अपने असंतोष को रचनात्मक दिशा और दशा प्रदान करता है तभी चमत्कार का सृजन और प्रकटीकरण होता है।

तुलसी की भक्ति सरलता की मंदाकिनी है जहाँ आम जन आनंद और संतोष की डुबकी लगाते थकते नहीं हैं। इसी असंतुष्टि से उपजी नई ऊर्जा से ओत-प्रोत दिनकर का कवि मन कवि नहीं रहकर गद्य की नई जमीन भी तलाशता है। दिनकर हिन्दी भाषा प्रचार के अथक और अग्रणी प्रचारक थे। प्रचार कार्य के कारण अहिन्दी भाषा क्षेत्रों का वे सघन दौरा करते थे। एक बार दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मद्रास) के दीक्षान्त समारोह में दिनकर ने कहा था कि "हिन्दी केवल हिन्दुत्व की ही नहीं, इस्लाम और सिक्ख धर्म की भी भाषा है।" हिन्दी केवल वैदिक या वर्णाश्रम-धर्म की रूढ़ियों का पिष्ट-पेषण नहीं करती, वह उनके विरुद्ध क्रांति की भी शिक्षा देती है। वह केवल आगम धर्म तक ही सीमित नहीं है बल्कि निगम धर्म का भी आख्यान उसने बड़ी ही निर्भयता से किया है"।

संत-साहित्य पर दिनकर का उद्‌गार द्रष्टव्य है हिन्दी का संत-साहित्य उस क्रांति का साहित्य है जिसका प्रवर्तन बुद्ध ने किया था। यह साहित्य आदमी की ऊँचाई की जाँच उसके जन्म से नहीं, कर्म से करता है। यह साहित्य अस्पृश्यता का विरोधी और जाति-अहंकार का कट्टर शत्रु है। यह साहित्य बैठकर खाने वालों का मजाक उड़ाता है और इज्जत उसकी करता है जिसके हाथों में मेहनत के घट्ठे या निशान हैं। संत-साहित्य उस मानव समाज की भूमिका तैयार करता है जिसकी कल्पना गांधी जी ने की थीः ऐसा समाज जिसमें शोषण नहीं है, धन की पूजा नहीं है, धर्म का आडम्बर नहीं है, अस्पृश्यता नहीं है, जिस समाज में स्त्री और शूद्र दबाकर नहीं रखे जाते हैं और न ही कोई व्यक्ति इसलिए अहंकार करता हो कि उसका जन्म ऊँचे या धनी खानदान में हुआ है।

दिनकर खुले दिल-दिमाग वाले चिंतक थे। हिन्दी के हितैषी और अथक प्रचारक होते हुए भी उनका दृष्टिकोण उदार और समन्वयकारी था। उनका भाषाई उदार दृष्टिकोण इस वक्तव्य में परिलक्षित होता हैः "बुरे अगर होते हैं तो उनके बोलने वाले लोग होते हैं।"

हिन्दी पर साम्प्रदायिक भाषा होने का आरोप लगाया जाता है। इस आरोप को निराधार घोषित करते हुए दिनकर का कहना है कि "हिन्दी तोड़ने वाली भाषा नहीं, जोड़ने वाली भाषा है। आज वह अग्नि परीक्षा के भीतर से गुजर रही है किन्तु मेरा विश्वास है कि इस अग्नि परीक्षा से वह सही सलामत बाहर आयेगी और देश ने जिस आशा से उसे अपनी राष्ट्रभाषा का पद दिया है उस आशा को वह पूर्ण करेगी"। दशकों के बाद भी हिन्दी सेवक का विश्वास क्या चरितार्थ हो सका है? राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत दिनकर अंतरराष्ट्रीय जगत् की सच्चाइयों को खुली आँखों से देखते और स्वीकार करते हैं। दिनकर एकता की दृष्टि से अंग्रेजी के महत्व को स्वीकार करते थे। किन्तु उनका यह भी कहना था कि यह एकता सीमित-सी है। व्यापक एकता के लिए जिस प्रकार हिन्दी अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में पहुँच रही है उसी प्रकार अन्य भाषाओं को भी हिन्दी भाषी भू-भाग में पहुँचना चाहिए। दिनकर वास्तव में भारतीय भाषाओं के समागम में हिन्दी भाषा का ही संवर्द्धन और स्वीकार्यता की संकल्पना करते थे।

एक बार लेखक मंडल के सदस्यों से दिनकर ने कहा था कि विदेशी लेखक अपने कार्य में पूर्ण स्वतंत्र होते हैं। उन्हें राजनीतिज्ञों से बढ़कर सम्मान मिलता है। आगे उन्होंने लेखकों के सुखद भविष्य की कल्पना करते हुए कहा था कि वह दिन दूर नहीं जब भारत में भी साहित्यकारों का सम्मान बढ़ेगा और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ या शासक को भी हफ्तों पहले समय निर्धारित कराकर साहित्यकारों से भेंट करनी होगी। उन्होंने उम्मीद जतायी थी कि सौ-डेढ़ सौ वर्षों के भीतर साहित्यकारों का रोब बढ़ जायेगा और राजनीति की गर्मी ठंडी हो जायेगी।

दिनकर के ये विचार अभी तक कामना के स्तर तक ही सीमित हैं। गरीबी, अशिक्षा और भ्रष्टाचार के वातावरण में ही राजनीति और राजनीति के खिलाड़ियों की धाक रहती है। दिनकर की उपरोक्त कामना स्वच्छ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में ही फलितार्थ हो सकती है। एक अन्य दीक्षान्त समारोह में भाषण देते हुए उन्होंने नारियों के सम्मान में दरिया साहब के दोहे को उद्‌धृत किया थाः

नारी जननी जगत की, पाल-पोस दे तोष,
मूरख राम बिसारि के, ताहि लगावै दोष।

नारी सशक्तीकरण वर्ष के अवसर पर दिनकर की दशकों पूर्व नारी संबंधित उक्ति का स्मरण करना समीचीन होगाः

"सभी देशों में वहाँ के शील और संस्कृति की रक्षा नारी समाज करता है। भारत में भी भारतीय भाषाओं और भारतीय संस्कृति की रक्षा का दायित्व हमारे नारी समाज पर है" इस कथन में दिनकर के ऐतिहासिकता बोध और भविष्य द्रष्टा होने की पहचान मिलती है। रामधारी सिंह दिनकर बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनके विशाल और गंभीर व्यक्तित्व की छाप उनके काव्यजगत और गद्य-लेखन पर साफ-साफ दृष्टिगोचर होती है। राज्यसभा के सदस्य के रूप में दिये गये उनके भाषणों में उनकी हिन्दी के प्रति प्रतिबद्धता प्रतिबिंबित होती है। इसी निर्भीक और ईमानदार प्रतिबद्धता के कारण दिनकर को हिन्दी के पेनेरिक के रूप में दुष्प्रचारित किया गया जिसके कारण उन्हें नेहरू मंत्रिमंडल में जगह नहीं मिली।

दिनकर चीनी आक्रमण से मानसिक रूप से खिन्न और आक्रांत हो गये थे। आक्रमण काल में लगभग रोज एक कविता लिखकर वे अपना भय निकाल कर प्रकारांतर से जनता का साहस भी बढ़ाते थे। दिनकर चीनी युद्ध के समय विचलित महसूस करते थे। और इसी अवस्था में उन्हें अनुभव हुआ था कि 'रक्त-स्नान से भारत शुद्ध हो सकता है। अग्नि-स्नान से देश की ताकत बढ़ सकती है। विपत्तियों के झकोर से वह स्वराज्य जिन्दा किया जा सकता है, जो पार्सल से आया है।' विपत्ति के अंधेरे में इस रोशनी को देखना, दुर्बलता में सबलता के दर्शन करना दिनकर के अखंड आत्मविश्वास और इस्पाती चरित्र को ही दर्शाता है।

चीनी युद्ध में घायल नौजवानों से भेंट करने के बाद दिनकर के भीतर सरकार और सरकार की व्यवस्था के विरूद्ध आक्रोश उभर आया था। आक्रोश की मुद्रा में ही उन्होने 'लोहे के मर्द नामक' कविता लिखी थी -

'पुरुष वीर बलवान/ देश की शान/हमारे नौजवान/ घायल होकर आये हैं।'

चीनी आक्रमण से जनता जगह-जगह खौल रही थी। पंडित नेहरू राष्ट्र के इस रौद्र रूप से अत्यंत दुःखी हो गये थे। इस कारण वे इस आशय का विचार प्रकट करने लगे थे- 'अभी भी मैं देश के पाशवीकरण को पसंद नहीं कर सकता।' नेहरू ने संसद में इस आशय की घोषणा भी कर दी थी। किंतु दिनकर उनकी उस घोषणा से विक्षुब्ध हो गये थे। कांग्रेस के राज्यसभा सांसद हाने के बाद भी विक्षुब्ध दिनकर का निर्भीक कवि तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू की अहिंसावादी नीति का विरोध करने से नहीं चूकता है। उन्होंने दो कविताएँ 'आज कसौटी पर गांधी की आग' और 'अहिंसावादी का युद्ध गीत' लिखीं। इन कविताओं में उन्होंने पंडित जी की नीति का खुलकर विरोध किया था। उन्होंने लिखा था :

'अब भी पशु मत बनो, कहा है वीर जवाहर लाल ने।
पर यह सुधा-तरंग कौन पीने देता है।
बिना हुए पशु आज कौन जीने देता है।'

दिनकर ने देशवासियों को जगाते हुए कहा था-

'देशवासी। जागो। जागो।
गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो।'

अपनी निर्भीकता और दिलेरी के कारण दिनकर को ईर्ष्या से भी दो-चार होना पड़ा था। दरबार में भी उनके खिलाफ बात पहुँचायी जा रही थी। किन्तु सत्य बोलने की कीमत चुकाने को भी वे तैयार हो गये थे। इस प्रकार दिनकर अपनी आस्था और विश्वास के प्रति सत्याग्रही भी थे। खुलकर अपने मन की बातों को प्रधानमंत्री के सामने बोलने का साहस किसी आत्मसम्मानी व्यक्ति का ही हो सकता है, ठकुरसुहातियों का कदापि नहीं। देश की चिंता के सामने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलांजलि देने वाला व्यक्ति ही अपने विश्वास और आस्था को मुखर आवाज दे सकता है। यही गुण साहित्याकाश में रामधारी सिंह को दिनकर के रूप में प्रतिष्ठापित करता है।

एक दूसरी कविता में दिनकर ने भाई-भतीजावाद यानी गोत्रवाद पर आक्रमण किया है, जो देश में प्रतिभा की राह रोक रही है और जिसका जहर बिहार में कुछ ज्यादा ही महसूस किया जाता था।

देशसेवा और देशभक्ति की कीमत पर दिनकर को अन्य दायित्वों की चिंता नहीं रही और विशुद्ध साहित्यकार के रूप में वे अपनी लेखनी चलाते रहे।

मुरारका कॉलेज सुलतानगंज, भागलपुर (बिहार)

क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो।
उसको क्या, जो दंतहीन,
विषरहित, विनीत, सरल हो।

-दिनकर

जब *हिमालय* और *हुंकार* के कवि ने इस दुनिया को अलविदा कहा, तो देशवासियों की आँखें नम हो गईं थीं। साहित्य-संसार में एक गहरी उदासी छा गई थी। दिनकर की कमी का अहसास जगत को आज भी है। आज भी रह-रहकर उनके न होने की कसक लोगों में जाग उठा करती है। लेकिन क्या कभी दिनकर अस्त हो सकते हैं! वे तो अपने समय के सूर्य हैं। साहित्य पर तो उनकी अपनी अमिट छाप है ही, जनता के मन में भी उनकी अनेक सुन्दर और सुकोमल स्मृतियाँ हैं। इन कालजयी स्मृतियों में दिनकर हमेशा हैं, हर जगह हैं और हर तरह से हैंः सलिल-कण के रूप में, पारावार के रूप में; धूलि-कण के रूप में, शून्य की झंकार के रूप में; रंगीले स्वप्न के संसार और युग-धर्म की हुंकार के रूप में। आज जब हम आजादी की साठवीं वर्षगाँठ और वर्ष 1857 की हीरक जयंती मना रहे हैं तब दिनकरजी और भी अधिक प्रासंगिक हो जाते हैं। पूरे संसार को एक विशेष संस्कृति और एक विशेष भाषा के रंग में रंगने का जो प्रयास चल रहा है, उसे देखते हुए यह कहना जरूरी हो जाता है कि आज भी दिनकर जैसे हिन्दी-प्रेमियों की जरूरत लगातार बनी हुई है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार और उसकी उचित महत्ता की स्थापना के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है...

हम दिनकरजी से जुड़ी कुछ अच्छी रचनाओं की तलाश लगातार करते रहे ताकि *'समर शेष है...'* के लिए उनका उपयोग किया जा सके। संसाधनों और समय की कमी के बावजूद रात-दिन हम (न्यास के अध्यक्ष नीरज कुमार और मैं) कुछ न कुछ पढ़ते रहे, ढूँढ़ते रहे; जुहाते, जुटाते और सँजोते रहे। इस क्रम में हमारे अनेक साहित्यप्रेमी, पत्रकार, आलोचक, कवि, लेखक और समाजसेवी मित्रों ने हमारा सहयोग किया है। हम इन सबके आभारी हैं। खासतौर से, मैं श्री शिवकुमार गोयल को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने करीब चौंतीस साल पुरानी एक पत्रिका 'लोकराज' उपलब्ध कराई। 1974 में श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी के संपादकत्व में प्रकाशित 'लोकराज' का 'दिनकर अंक' वास्तव में हमारे लिए अमूल्य निधि साबित हुआ है। इस अंक में अनेक ख्यातिलब्ध साहित्यकारों और विद्वानों के विचार संग्रहीत हैं। इसमें से कुछ चुनिंदा उद्‌गारों को हमने *'समर शेष है...'* के लिए चयनित किया है। आगे के कुछ पन्नों में आप उन उद्‌गारों से रूबरू होंगे। हाँ, दिनकरजी के जीवन के कुछ अनछुए पहलुओं से भी।

संपादक

प्रांजल धर

(प्रांजल धर)

सृजनशील लेखक खो दिया

श्रीमती इन्दिरा गांधी

तत्कालीन प्रधानमंत्री

दिनकर जी के निधन से देश ने एक प्रतिभाशील सृजनशील लेखक को खो दिया है जो हमारी जनता की धरोहर और आकांक्षाओं के प्रतीक थे। दिनकर जी हमारी संस्कृति पर अपनी छाप छोड़ गए हैं। अन्य सभी महान कवियों की भाँति उन्हें भी उनकी रचनाओं के माध्यम से याद किया जाएगा।

प्रतिभाशाली व्यक्ति

जगजीवन राम

तत्कालीन रक्षामंत्री

हिंदी साहित्य जगत में दिनकरजी को सम्मानपूर्ण एवं उच्च स्थान प्राप्त था। इनकी प्रतिभा ने 'उर्वशी' के रूप में प्रकट हो हिंदी साहित्य गगन को जगमगा दिया। इस रचना के लिए उन्हें ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत भी किया गया था। इनकी काव्य-धारा राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत थी। श्री दिनकर राष्ट्रीय विचारों के प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनकी देशसेवा एक सफल साहित्यकार और सक्रिय देशसेवी, दोनों रूपों में ही महत्वपूर्ण रही है। इनका सौम्य व्यक्तित्व किसी को भी सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता था।

दिनकरजी को मैंने एक कवि, एक मित्र, एक देश-सेवी तथा एक कुशल वक्ता के रूप में जाना और वे अनायास ही मेरे स्नेह के पात्र बन गये।

भारतीय साहित्य की क्षति

इन्द्रकुमार गुजराल

तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री

माधुर्य और ओज के कवि श्री दिनकरजी के आकस्मिक निधन से मुझे हार्दिक दुःख हुआ। अभी तक मन यह बात स्वीकार नहीं करता कि वे सचमुच ही हम सबसे हमेशा के लिए बिछुड़ गये हैं। परन्तु उनका निधन एक कटु सत्य है। उनके सूचना और प्रसारण मंत्रालय की हिंदी समिति के सदस्य होने के नाते मुझे उनको बहुत निकट से देखने तथा साथ काम करने का मौका मिला था। ऐसा हँसमुख व्यक्तित्व था उनका, कि वे समिति की बैठकों पर छाये रहते थे। अपने सम्पर्क में आने वाले का मन जीतने में भी उनकी सानी शायद कोई रखता था। आकाशवाणी की हिंदी की वे कटु आलोचना करते थे परन्तु किसी को नीचा दिखाने की उनकी मनोवृत्ति बिल्कुल नहीं थी। हिंदी का हित, उसका प्रचार-प्रसार ही उनके लिए सर्वोपरि था। समिति की बैठकों के अलावा भी उनसे कभी-कभी भेंट हो जाती थी। उस समय वे होते थे सिर्फ कवि, और मैं सिर्फ कविता का श्रोता। वे ऐसे तन्मय होकर अपनी रचना सुनाते थे कि मैं भावविभोर हो जाता था। हाल ही में मुझे उनसे उनकी रचना की कुछ पंक्तियाँ सुनने को मिली थीं। मैंने विनोद में उनसे कहा था, ''आपकी कविता और आप स्वयं, दोनों ही चिरयौवन हैं''। इस पर हम दोनों ही खूब हँसे थे। किसे पता था वह इतनी जल्दी हमसे बिछुड़ जायेंगे।

दिनकरजी की कृतियाँ और उनकी प्रतिभा के बारे में मैं क्या विशेष कहूँ? केवल हिंदी जगत में ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य में उनका अपना उच्च स्थान है। पिछले 45 वर्षों तक वे हिंदी साहित्य और चिंतन के क्षेत्र में छाये रहे। भारतीय संस्कृति पर उनका अनमोल ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' उनकी भारतीय संस्कृति और इतिहास के गहन अध्ययन का द्योतक है। भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' की उपाधि देकर उनको समुचित सम्मान दिया था। हिंदी जगत से इस देदीप्यमान तारे के लुप्त हो जाने से केवल हिंदी साहित्य ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य को अपरिमित हानि हुई है।

मेरे प्रिय कवि

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

दिनकरजी 'विशाल भारत' में चमक रहे थे। बस समझिये तभी से दिनकरजी से मुलाकात हो गई। यद्यपि वास्तविक मिलना 1944 में पटने में हुआ। उन दिनों मैं टीकमगढ़ में बनारसीदास जी के साथ काम कर रहा था और जब हिंदी पत्रकार संघ की ओर से कुछ जानकारी एकत्र करने के लिए पटना गया तो दिनकरजी से भी मिला। उस समय दिनकरजी ने वही आत्मीयता दिखाई, जो एक गुरुभाई में होनी चाहिए। यह आत्मीयता 19 अप्रैल, 1974 तक कायम रही, जबकि मैं उनसे मिलने उनके तात्कालिक निवास स्थान; 116, मालचा मार्ग; पर गया था और उनसे कसकर दो घंटे बातचीत की थी।

दिनकरजी ने बहुत लिखा है लेकिन उनका 'हिमालय और 'कस्मै देवाय' 'विशाल भारत' में छपते ही मन में बैठ गए थे। मैं मुख्यतया उनकी वीरतापूर्ण कविताओं का भक्त रहा हूँ और यह भक्ति बहुत पुरानी है। जिन दिनों दिनकर को 'विशाल भारत' हिंदी जगत के समक्ष उपस्थित कर रहा था, छायावाद का दौर-दौरा था। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा साहित्य गगन पर छाये हुए थे। उस छाया से दूर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश टिमटिमा रहा था, जिसके प्रतीक थे-माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी। मैथिलीशरण गुप्त को मैंने इस सूची में नहीं लिखा है, क्योंकि उन्होंने अपना स्थान बना लिया था और उनकी किसी कवि से टकराहट नहीं थी। यह बात दूसरी है कि बाज-बाज काशी प्रयाग वाले, दूसरे स्थानों पर जन्मे लोगों को कवि या लेखक मानें ही नहीं और शायद यह परंपरा अभी समाप्त नहीं हुई है।

सन 1952 में जब दिनकरजी राज्यसभा के सदस्य होकर आए तो उन दिनों राज्यसभा में चमकना आसान काम नहीं था। दिनकर जी साहित्यकार थे, इसलिए लोग समझते हैं कि वे राष्ट्रपति द्वारा नामांकित होकर आए थे। पर ऐसी बात नहीं थी, वे बिहार विधानमंडल द्वारा कांग्रेस के कोटे से निर्वाचित सदस्य होकर आए थे। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी विंध्यप्रदेश से निर्वाचित हुए। उन दिनों राज्यसभा में श्री मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य नरेंद्र देव, पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे हिंदी के विद्वान थे। बाद में तो श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी राज्यसभा के सदस्य हो गए थे। दूसरी तरफ प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर, प्रसिद्ध नर्तकी रुक्मिणी अरुंडेल तथा देश के अत्यंत वरिष्ठ समाजसेवक, राजनीतिज्ञ और वक्ता सदस्य थे। सभापति थे श्री राधाकृष्णन। उस समय राज्यसभा भारत की विद्वज्जनमंडली का सही प्रतिनिधित्व करती थी। मराठी के प्रसिद्ध नाटककार मामा वरेरकर, सिंधी नेता श्री एन.आर.मलकानी जैसे एक से एक धुरंधर राज्यसभा में विद्यमान थे। फिर भी, जब दिनकरजी बोलते थे तो उनको सारा सदन दत्तचित्त होकर सुनता था और अंग्रेजी पत्रों के संवाददाता भी उनके भाषण के नोट लेने की कोशिश करते थे।

अप्रैल का महीना था। उन दिनों सूर-जयंती की तिथि आ पड़ी थी। श्री गोपाल प्रसाद व्यास ब्रज साहित्य मंडल के मंत्री थे। वे दिनकरजी को महाकवि सूरदास के जन्मस्थान सीही ले गए। वहाँ दिनकरजी ने जो भाषण दिया, उसकी मैंने दैनिक 'हिंदुस्तान' में रिपोर्ट की थी। वैसे भी राज्यसभा के लिए, जो उन दिनों राज्यपरिषद कही जाती थी, मैं दैनिक 'हिंदुस्तान' के लिए रिपोर्ट करता था और यह क्रम चार साल चला। उस

रिपोर्ट में मैंने दिनकरजी के नाम के पहले 'राष्ट्रकवि' लिख दिया था। दूसरे दिन जब राज्यसभा में उनसे भेंट हुई तो स्वयं उन्होंने कहा कि यह क्या लिख दिया 'राष्ट्रकवि तो दद्दा हैं'। तो मैंने कहा कि हैं तो आप उपराष्ट्रकवि, लेकिन साहित्य-क्षेत्र में कोई सत्ता का सवाल नहीं है, दो राष्ट्रकवि भी हो सकते हैं। फिर वह शब्द कुछ चल गया। उन दिनों संसदीय हिंदी परिषद के जलसों में दिनकरजी कविता पढ़ते थे। लालकिले के कवि सम्मेलनों में कविता पढ़ते थे और चाहे संसद सदस्यों का समूह हो, या लालकिले की साधारण जनता, सभी में समान रूप से प्रभावशाली सिद्ध होते थे। परंतु इस काल में वे कवि से अधिक हिंदी नेता हो गए थे।

राष्ट्रपति ने 7 जून, 1955 को एक राजभाषा आयोग की स्थापना की। इस आयोग में इक्कीस सदस्य थे, जिनमें राज्यसभा के कई वरिष्ठ सदस्य, जैसे डॉ. पी. सुब्बारायन, प्रसिद्ध हिंदी प्रचारक श्री एम. सत्यनारायण, लोकसभा के उपाध्यक्ष श्री एम. अनन्तशयनम् आयंगर, पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्री जयनारायण व्यास जैसे लोग थे। इस आयोग की नियुक्ति के कुछ दिनों बाद 2 सितम्बर, 1955 को उसके एक सदस्य डॉ. अमरनाथ झा की मृत्यु हो गई और 25 नवम्बर, 1955 को राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने उनके स्थान पर रामधारी सिंह दिनकर को आयोग का सदस्य नियुक्त किया। श्री बी.जी.खेर के नेतृत्व में इस आयोग ने 31 जुलाई 1956 को अपनी रिपोर्ट दी। इस रिपोर्ट पर डॉ. सुब्बारायन और डा. सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपना विमति पत्र दिया और इस प्रकार हिंदी के प्रचार के विरुद्ध जो वातावरण बना, उसका सूत्रपात हुआ। इस कारण आयोग के सदस्यों पर बहुत ही जिम्मेदारी का काम था। इस दौरान दिनकरजी हिंदी आंदोलन के एक ऐसे नेता के रूप में उदित हुए जो सभी प्रांतों और भाषाओं के लोगों को साथ लेकर चलना चाहते थे।

जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो दिनकर की रचनाएँ 'परशुराम की प्रतीक्षा' संग्रह के रूप में आईं। ये कविताएँ 1962 के दो-तीन महीनों में ही लिखी गईं थीं और जब 9 जनवरी, 1963 को दिनकर जी ने इसकी भूमिका लिखी, तो लिखा था, 'तांडवी तेज फिर से हुंकार उठा है, लोहित में था जो गिरा, कुठार उठा है।'

इस संग्रह की एक कविता में उन्होंने लिखा, जो स्वयं उनके लिए उद्‌बोधन थाः

अरे उर्वशीकार!
कविता की गरदन पर धरकर पाँव खड़ा हो।
हमें चाहिए गर्म गीत उन्माद, प्रलय का,
अपनी ऊँचाई से तू कुछ और बड़ा हो।
कच्चा पानी ठीक नहीं,
ज्वार ग्रसित देश है।
उबला हुआ समुष्ण सलिल है पथ्य,
वही परिशोधित जल दे।
जाड़े की है रात, गीत को गरमाहट दे,
तप्त अनल दे।'

कवि सम्मेलनों में यही कविताएँ जमती थीं। दिनकरजी को पहले साहित्य-अकादमी का और बाद में 'उर्वशी' पर ज्ञानपीठ का पुरस्कार मिला। लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि इन रचनाओं, 'परशुराम की प्रतीक्षा', के कारण दिनकरजी को राज्यसभा में नहीं नामांकित किया गया। सन 1964 में उन्हें राज्यसभा में बारह वर्ष हो जाते, परंतु उन्होंने 1963 में ही भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति का दायित्व सँभालने के लिए राज्यसभा से त्यागपत्र दे दिया। भागलपुर वे अधिक दिन नहीं रह सके। पर जब उन्होंने विश्वविद्यालय छोड़ा, तब तक उनके स्थान पर दूसरे सदस्य निर्वाचित किए जा चुके थे। कुछ समय बाद ही उन्हें भारत सरकार का हिंदी सलाहकार नियुक्त कर दिया गया और वे 1971 तक इस पर बने रहे।

श्री दिनकर हिंदी सलाहकार क्यों नहीं रहे, इसकी भी कथा विचित्र है। दिनकरजी ने एक प्रस्ताव किया कि मंत्रियों के नाम हिंदी रूप में लिखे जाएँ, यानी अगर 'मिनिस्टर ऑफ एग्रीकल्चर' लिखना हो तो अंग्रेजी में रोमन अक्षरों में 'कृषि मंत्री' लिखा जाए। इस प्रस्ताव को प्रधानमंत्री की स्वीकृति मिल गई थी, लेकिन इसके परिपालन में एक गलती हो गई। वह यह कि लोकसभा और राज्यसभा में सदस्य जो प्रश्न भेजते हैं, उसमें भी उनके प्रश्नों में मंत्रियों के पद नाम हिंदी वाले कर दिए गए और लिखावट अंग्रेजी की रही। इस पर लोकसभा में द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के सदस्यों ने यह आपत्ति उठाई कि वे समझ ही नहीं सकते हैं कि कौन-सा मंत्री उन्हें उत्तर देगा। काफी शोर शराबा हुआ, जिसके बाद यह संशोधन हुआ कि उसके नीचे हिंदी में हिंदी पद नाम दिया जाने लगा। जिस उद्देश्य से यह प्रथा चालू की गई थी कि लोगों को 'प्राइम मिनिस्टर' की बजाय 'प्रधानमंत्री' और 'रक्षामंत्री' का अभ्यास पड़े, वह पूरा नहीं हुआ। दिनकरजी की कोई मंशा नहीं थी कि संसद में भी यह शब्दावली चले, वे तो सरकारी कामकाज में इसे चलाना चाहते थे। परंतु किसी संयुक्त सचिव के अति उत्साह से ऐसा हो गया। यह घटना तब हुई जब दिनकरजी का कार्यकाल समाप्त हो रहा था और यह प्रश्न विचाराधीन था कि उनका कार्यकाल बढ़ाया जाए या नहीं। यह वह समय भी था, जब उनके बड़े पुत्र रामसेवक सिंह की मृत्यु हो गई थी और दिनकरजी पर उनके परिवार का पूरा दायित्व आ गया था। इसी बीच लोकसभा के नए सदस्यों ने एक वरिष्ठ नेता के आदेश पर एक ज्ञापन पर हस्ताक्षर कराये, जिसमें बहुत-से विभागों के बारे में यह शिकायत की गई थी कि उनमें हिंदी का काम नहीं हुआ। उधर दिनकरजी कई बार प्रधानमंत्री से कह चुके थे कि उनकी तबीयत खराब है और प्रधानमंत्री ने भी उनसे कहा था कि आप इलाज कराने यूरोप चले जाइये। इन सारे उपक्रमों का परिणाम यह हुआ कि प्रधानमंत्री ने तय किया कि अब वे ऐसे पद पर किसी राजनीतिज्ञ के स्थान पर सरकारी अफसर रखें, जिससे कि कोई पार्टीबंदी बने ही नहीं और श्री जगदीश चंद्र माथुर उनके स्थान पर हिंदी सलाहकार

नियुक्त किए गए।

दिनकरजी की मुझ पर व्यक्तिगत कृपा रहती थी और बहुत-सी समस्याओं पर विचार-विनिमय भी होता था। जब मैं समाचार भारती में पहुँचा तो उन्होंने मुझे आशीर्वाद का एक पत्र भेजा था फिर वे मिले और उन्होंने कहा कि मेरे मित्र एक दैनिक निकालना चाहते हैं, अगर तुम उसका सम्पादक होना स्वीकार करो तो। श्रीरामनाथ गोयनका 'जनसत्ता' को दिल्ली में फिर से निकालना चाहते थे, परंतु मुझे समाचार भारती में आये दो महीने भी नहीं हुए थे, इसलिए मैंने क्षमा माँग ली और कहा कि यह अच्छा नहीं लगता। तब उन्होंने अशोकजी से कहा, उनको भी छुट्टी नहीं मिली और न ही वह पत्र दिल्ली से निकला।

दिनकरजी की पौत्री के विवाह के अवसर पर उनके बड़े-बड़े मित्र, प्रशंसक दूर-दूर से आए थे। उसके बाद दिनकरजी दिल्ली में ही रह रहे थे। एक दफा उनसे मिला भी था। एक दिन संसद के केंद्रीय कक्ष में भेंट हो गई। वे जा रहे थे कि बैठ गए और लगभग दो घंटे तब बातें होती रहीं। उस दिन उन्होंने एक बात कही जिससे लगा कि वे वास्तव में अपने को खोखला महसूस करते हैं। उन्होंने कहा कि अब सब पौरुष समाप्त हो गया है। उन्होंने अपनी डायरी में मेरा दो-तीन बार जिक्र किया था, मैंने उनसे कहा कि आप आत्मकथा क्यों नहीं लिख देते, तो वे बोले कि सच्ची आत्मकथा कोई नहीं लिख सकता, सब अपनी मूर्ति बना-सँवारकर दिखाना चाहते हैं। हाँ, मैं एक पुस्तक लिख रहा हूँ- मेरे समकालीन, उसमें कुछ लोगों के चरित्र आ जाएँगे। दूसरे दिन, यानी 18 अप्रैल को स्टार (पब्लिकेशन्स) वालों के यहाँ उन्होंने जैसे ही मुझे देखा, दौड़कर मेरे पास आए और बोले-कि तुम नाम दो तो मैं एक पत्र निकालूँ। मैंने उनसे कहा, कल मिलूँगा। दूसरे दिन सवेरे उनसे मिलने गया तो उन्होंने योजना बताई कि वे एक साप्ताहिक पत्र निकालना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा कि अब 'लोकराज' निकाल दिया है, दूसरे पत्र में जाना तो आसान नहीं है। आप इसी में जो लिखना चाहें, लिख दें। तब वे बोले कि नहीं, नई दिल्ली में ठहरने के लिए कोई प्रबंध होना चाहिए। तुम चार आदमी बताओ, एक अगर लाइट हो तो तीन पेट्रोमेक्स ही सही, काम तो करें। मैंने उन्हें पत्र-संचालन की कठिनाइयाँ बताईं तो उन्होंने कहा कि लाभ-हानि तो एक दूसरे सज्जन की होगी। बाद में पता लगा कि श्री रामनाथ गोयनका के सहयोग से वे पत्र निकालने वाले थे। पर साथ-साथ यह भी कहते जाते थे कि यह न बना तो मै संन्यास ले लूंगा। क्या मालूम था कि यह आखिरी मुलाकात होगी। वह ठहाका, वह जोश के साथ बातें, अब केवल याद करने भर के लिए रह जाएँगी।

स्मृति-तर्पण

डॉ. कुमार विमल

दिनकर जी बल, विक्रम और ओज के कवि थे। उनका विग्रह ही पौरुष का मूर्तिमान रूप था। उनकी कविताओं में अक्सर एक धमाके का गर्जमान स्वर रहता था। और वे अपने भाषण में समुद्र की तरह दहाड़ते थे। सचमुच वे अदिति-पुत्र थे।

समय की धड़कन के साथ चलना उन्हें बहुत प्रिय था। इसलिए वे समय और समाज तथा धरती और जनता से जुड़े रहना चाहते थे। यही कारण था कि उन्हें इस विचारधारा के समानधर्मा कवि सहज रूप में आकृष्ट कर लेते थे। पेब्लो नेरुदा और एब्तुशेंको जैसे कवि इसके उदाहरण हैं। यह अवश्य है कि दिनकरजी चिन्तन से अधिक आवेश के और समाधान से अधिक समस्याओं के उपन्यासक कवि थे। 'कुरुक्षेत्र' हो या 'उर्वशी' -सब में वे द्वन्द्व और द्वाभा की ही कविता लिखते रहे।

दिनकरजी के प्रभावस्रोत भी अनेक और असमान थे। अतः कई विचारकों को उनकी रचनाओं की आशंसा में कठिनाई मालूम पड़ती थी। वे एक ही साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इकबाल, टीएस इलियट, डीएच लारेंस और श्री अरविन्द से प्रभावित रहे। इतने विभिन्न प्रभावस्रोतों के वैविध्य को समंजित करना सचमुच आसान नहीं है। मूलतः इतिहास का छात्र रहने के कारण दिनकरजी के पास एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य था और वे इस गुण के कारण समय के सतत परिवर्तित तेवर को पहचानने में समर्थ थे। इसका दूसरा सुफल यह था कि उन्होंने इस शताब्दी के सभी महान विचारकों को जानने और समझने की चेष्टा की थी। यह कोई आकस्मिक संयोग नहीं है कि नीत्शे की रचनाओं में 'जरथुस' को, इकबाल की कविताओं में 'साहीं' को और दिनकर की कविताओं में 'गरुड़' को इतना प्रतीक-महत्त्व मिला है। इसके पीछे निश्चय ही 'अतिमानव' या 'सुपरमैन' की धारणा को लेकर चलने वाली विचारधारा की अन्तरंग पृष्ठभूमि है।

दिनकर इस देश के उन दो महान कवियों में हैं, जो नोबेल पुरस्कार-विजेता हुए बिना भी पूरी दुनिया द्वारा सुने और माने गये। ये दो कवि हैं, इकबाल और दिनकर। अविकसित या अर्द्ध-विकसित अफ्रेशियाई देशों के कुछ ही कवि अन्तरराष्ट्रीय ख्याति की दृष्टि से इतने सौभाग्यशाली हुए हैं।

मेरे गुरुः राष्ट्रकवि दिनकर

बच्चू प्रसाद सिंह

आज से कोई चौबीस साल पहले की बात है। मैं लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर का छात्र था। कॉलेज की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जा रही थी। समारोह के लिए तरह-तरह की तैयारियाँ हो रही थीं। उनमें एक प्रमुख आकर्षण यह था कि उक्त अवसर पर विद्यार्थियों के बीच राष्ट्रकवि दिनकर समारोह में पधारने वाले थे। छात्रों की ओर से दिनकर की रचना 'मगध आपेरा' को मंच पर प्रस्तुत किया जा रहा था। दिनकर उस समारोह में देदीप्यमान नक्षत्र की तरह आये। छात्र समुदाय ने अपने प्रिय कवि का हार्दिक स्वागत किया और फिर उसके कुछ ही दिनों के बाद यह समाचार कॉलेज में फैलने लगा कि राष्ट्रकवि दिनकर यहाँ हिन्दी विभागाध्यक्ष का कार्यभार संभालेंगे। इस समाचार के मिलते ही पूरे कॉलेज के वातावरण में उत्साह की एक लहर-सी दौड़ गयी। विद्यार्थियों के मन में एक आकुल उत्कंठा उत्पन्न होने लगी कि कब हमारे बीच दिनकर पधारेंगे और वह दिन कितना महत्त्वपूर्ण होगा जब दिनकर की ओजस्वी वाणी के माध्यम से हम सभी हिन्दी साहित्य का परिचय प्राप्त करेंगे। मेरे विचार से इस आकुल उत्कंठा के दो प्रमुख कारण थे। पहला कारण तो यह था कि कॉलेज में जब तक कोई बड़ा साहित्यिक समारोह आयोजित न हो तब तक दिनकर का हम लोगों के बीच आने का प्रश्न ही नहीं उठता था और यह घड़ी साल दो साल की प्रतीक्षा के बाद ही आ पाती थी। दूसरा जो उससे भी प्रबल कारण था-वह हम लोगों के मन की यह भावना थी कि जिन महान साहित्यकारों की रचनाएँ हम अपने पाठ्यक्रम में पढ़ा करते हैं और जिन्हें हमारे अध्यापक परम्परागत शैली में पढ़ाते हैं, उनकी खूबियाँ और खामियाँ अपने ढंग से बताते हैं, उस संदर्भ में यह बात कितनी महत्वपूर्ण होगी जब दिनकर स्वंय ही हम लोगों को अपनी प्रसिद्ध रचना पढ़ायेंगे और उनके मुँह से 'कुरूक्षेत्र' का वर्णन कितना अभूतपूर्व होगा। यह स्वाभाविक है कि उस दिन हम अपने को देश भर के उन तमाम विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों से अधिक भाग्यवान समझेंगे चूँकि यह सुअवसर सभी छात्रों को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। कभी-कभी हम लोगों को ऐसा भी लगता कि जब दिनकर स्वंय अपनी रचनाओं का विश्लेषण करने लगेंगे तो यह ब्रह्मा से सृष्टि की कहानी सुनने जैसा आह्लादकारी अनुभव होगा। साथ ही हमारी इस गौरव-भावना के पीछे शायद यह बात भी काम कर रही थी कि हमारे कुछ अध्यापक अपनी बातचीत के दौरान इस बात का उल्लेख किया करते थे कि जब वे हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में छात्र थे तब हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और 'प्रियप्रवास' के प्रणेता हरिऔध तथा स्वनामधन्य गद्यकार बाबू श्यामसुन्दर दास उनके अध्यापक थे। इन बातों को सुन-सुनकर हम लोगों के मन में ईर्ष्या होती थी कि हमारे इन शिक्षकों को कैसा सौभाग्य था कि इन्होंने उन महापुरूषों के मुख से साहित्य की विवेचना सुनी है, जो स्वयं आलोचना के क्षेत्र में मानदंड बन गए हैं। हमारे तत्कालीन अनेक अध्यापक बड़े गुणी और विद्वान थे, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में उनकी वह धाक नहीं थी जो सुयश और गौरव उपरोक्त महान विभूतियों को प्राप्त था। दिनकर के हमारे कॉलेज में प्रोफेसर होकर आने की चर्चा से जैसे हम लोगों का बहुत पुराना स्वप्न साकार होने जा रहा था और हम सब कुछ इस तरह आह्लादित हो रहे थे जैसे किसी रामभक्त को स्वंय तुलसीदास के मुख से रामचरितमानस सुनने का सुअवसर प्राप्त होने वाला हो। बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद दिनकर हमारे कॉलेज में हिन्दी के प्रोफेसर और अध्यक्ष बनकर आये और उनके आगमन से पूरे नगर का साहित्यिक महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। चारों ओर इस बात की चर्चा होने लगी कि दिनकर हमारे बीच हैं। उनकी उपस्थिति से नवजवानों की साहित्यिक चेतना को बड़ी स्फूर्ति और प्रेरणा मिली। दिनकर ने कॉलेज को ही नहीं बल्कि उस क्षेत्र की तमाम साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं को अपनी उपस्थिति से आगे बढ़ने में सहयोग दिया। मुझे याद है कि जिन दिनों दिनकर मुजफ्फरपुर कॉलेज के प्रोफेसर थे उन्हीं

दिनों 'भूमिका' के कवि श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह, 'जवानी और जमाना' के गायक डा. श्याम नन्दन किशोर, प्रयोगवादी कवि राजेन्द्र किशोर और गीतकार रमेश किरण साहित्यिक जगत में अपनी रचनाओं को लेकर आगे आ रहे थे। उन सबको दिनकर का आशीष और मार्ग-दर्शन सहज ही सुलभ हुआ। दिनकर की प्रेरणा से ही इन कवियों ने हिन्दी कविता की श्रीवृद्धि में उल्लेखनीय योगदान दिया है।

जिन दिनों दिनकर मुजफ्फरपुर में प्रोफेसर होकर आए उन्हीं दिनों उन्हें समीप से जानने का मुझे अवसर मिला और मैं अपने जीवन के उस क्षण को बड़ा महत्वपूर्ण और गौरवशाली समझता हूँ। दिनकर जैसे हिन्दी के सर्वाधिक समर्थ कवि और सहृदय व्यक्ति को जब हम लोगों ने अपने बीच पाया तो 'साकार, दिव्य गौरव विराट' की अनुभूति कुछ हमलोगों के मन में भी उतरने लगी। समग्र छात्र-समुदाय ने अपने को अब कुछ अधिक समर्थ और तेजस्वी महसूस करना शुरू किया। संभवतः दिनकर के महान व्यक्तित्व की हमारे कॉलेज पर यह पहली छाप थी। हमारे कॉलेज का वातावरण बड़ा ही विशाल और उन्मुक्त था। उसकी बड़ी-बड़ी परम्पराएँ थीं। वहाँ स्वर्गीय डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और आचार्य जे.बी. कृपलानी जैसे लोग प्रोफेसर रह चुके थे। फिर भी उस कालेज की गरिमा और उसकी व्यापकता दिनकर के विराट व्यक्तित्व के सामने कुछ छोटी दिखाई पड़ने लगी। कारण, दिनकर में जो अपूर्व ओजस्विता, विद्वता, महानता और सरलता के साथ विशिष्ट सर्जनात्मक प्रतिभा का जो अपूर्व समन्वय था, वह सब अद्‌भुत था। हमारे कॉलेज के तमाम लोगों को दिनकर के कॉलेज में आने के बाद ही इस बात का अहसास हुआ कि किसी प्रोफेसर का व्यक्तित्व भी इतना ऊँचा हो सकता है जिसके सामने सारा कुछ हल्का मालूम पड़ने लगे। दिनकर जब अपने आवास से कॉलेज की ओर आने लगते तो कुछ ऐसा आभास होता कि एक गरिमापूर्ण ज्योतिपुंज हम लोगों के मध्य तीव्रगति से बढ़ता चला जा रहा है। हम सभी उस घड़ी की प्रतीक्षा में रहते जब वे प्राध्यापक कक्ष से कक्षाओं में आकर अपने ऊँचे सधे स्वर में हम लोगों को यह बताते कि साहित्य क्या है? जीवन क्या है? कविता क्या है और कवि क्या है? दिनकर के भाषणों को सुनने से पहले हम लोगों को कभी यह जानने का अवसर नहीं मिला था कि किसी रचना की प्रक्रिया में कवि का मन किन-किन स्थितियों से गुजरता है? कवि-मन कहाँ-कहाँ विचरण कर किन-किन बिन्दुओं पर रम जाता है और जहाँ कवि का मन रम गया वहीं से कविता का सौरभ कैसे फूट पड़ता है। उन्हीं दिनों अपने एक भाषण में कविता की व्याख्या करते हुए दिनकर ने कहा था- ''कलेजे में जो लग जाए, उसी को तीर कहते हैं''। उनकी इस परिभाषा ने कविता की तमाम शास्त्रीय परिभाषाओं को हम लोगों की दृष्टि में कान्तिहीन बना दिया था। दिनकर के भाषण इतने प्रभावशाली हुआ करते थे कि पूरे चार-पाँच सौ विद्यार्थियों की कक्षा में सदैव स्तब्धता छाई रहती थी। वे छात्र भी, जिनका विषय हिन्दी नहीं थी, इन कक्षाओं में आते और दिनकर के मुख से कविता की पृष्ठभूमि सुनकर आह्लादित हुआ करते थे। दिनकर अपनी कक्षाओं में किसी एक कविता को लेकर उस युग का पूरा इतिहास, उसकी सांस्कृतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि और रचना प्रक्रिया की विशेषताओं का सरल, सुगम शब्दों में इस प्रकार वर्णन करते थे कि छात्रों के समक्ष कविता का पूरा चित्र जीवंत रूप में सामने आ जाता था। दिनकर हम लोगों की कक्षा में पंत की रचना 'गुंजन' पढ़ाया करते थे और उस पुस्तक की पहली कविता 'तप रे मधुर-मधुर मन' के बारे में उन्होंने जो विद्वतापूर्ण व्याख्या दी उससे अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र में तप की विशेषताओं के साथ-साथ भारतीय दर्शन की अनेक गुत्थियाँ हम लोगों के लिए सुबोध हो गयीं।

दिनकर महान कवि के साथ-साथ महान् विचारक भी हैं और चिंतन के द्वारा वे किसी भी रचना की अतल गहराई तक पहुँचकर सत्य को खोज निकालने में अपना सानी नहीं रखते। दिनकर ने कभी एक कविता उठाई और उसके माध्यम से उन्होंने बौद्ध, जैन, ईसाई और हिन्दू-दर्शनों का विश्लेषण सुरुचिपूर्ण ढंग से छात्रों के सामने प्रस्तुत कर दिया। फिर उन बिन्दुओं की ओर संकेत भी कर दिया जो उस कविता के मर्म थे और जिनको जाने बिना कविता को हृदय के धरातल पर उतारना कठिन था।

दिनकर की एक विशेषता यह भी थी कि उनको पढ़ने का व्यसन था। उनकी स्मरण शक्ति बड़ी तीव्र थी। जब हम लोग कक्षाओं में उनके भाषण सुना करते थे तो मुझे याद है कि वे अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की सौ-सौ पंक्तियाँ एक स्वर में और उपयुक्त संदर्भ के अनुसार सुना दिया करते थे। बीच-बीच में मुझे भी टोक दिया करते थे चूंकि मैं अंग्रेजी साहित्य का छात्र था। मैं उनकी स्मरण शक्ति से बड़ा चमत्कृत हुआ करता था। मुझे अपने ऊपर इस बात की ग्लानि हुआ करती थी कि अंग्रेजी का छात्र होकर भी मुझे उतनी पंक्तियाँ याद नहीं थीं जितनी दिनकर को। सिर्फ अंग्रेजी की ही बात नहीं, दिनकर बांग्ला के रवीन्द्रनाथ टैगोर और नजरूल इस्लाम तथा उर्दू के इकबाल की अनेक कविताएँ अबाध गति से सुना जाया करते थे। उन दिनों हम लोग यह सोचा करते थे कि दिनकर में अवश्य ही कोई दिव्यशक्ति है जिसके कारण वे अपनी हजारों कविताएँ तो याद रखते ही हैं; दूसरे कवियों की भी अनेक रचनाएँ उन्हें इस तरह याद रहती हैं कि उनको कहीं रुकना नहीं पड़ता। दिनकर उन दिनों 'रश्मिरथी' की रचना कर रहे थे। बीच-बीच में अपने घर पर बुलाकर उसके कुछ अंश हम लोगों को सुनाया करते थे। कविता सुनाने की उनकी शैली और उनकी ओजभरी वाणी अद्वितीय थी। जब वे कर्ण की वीरता का प्रसंग बखानते तो बरबस सबकी भुजाएँ फड़क उठतीं। यही उनकी वाणी का दिव्य प्रभाव था जो अब सर्वथा दुर्लभ है। यों तो दिनकर का अपना परिवार भी काफी बड़ा था लेकिन हम छात्रों की छोटी-बड़ी मंडली उनके घर प्रायः नित्य ही जमा करती थी। हम लोगों की आवभगत की जिम्मेदारी उनके ज्येष्ठ पुत्र रामसेवक पर हुआ करती थी। दिनकर के घर

जाकर हम लोगों को अपने घर से दूर होने का दुःख बहुत हद तक दूर हो जाया करता था।

जैसा कि पहले ही निवेदन कर चुका हूँ- दिनकर के हमारे कॉलेज में आ जाने से हमारे कॉलेज की साहित्यिक गतिविधि बहुत तेज हो गयी। हमारे यहाँ उनकी उपस्थिति के कारण बड़े-बड़े साहित्यकार हमारे समारोहों में आने लगे। कॉलेज की हिन्दी-साहित्य परिषद् अपने साहित्यिक कार्यक्रमों के कारण बहुत अधिक लोकप्रिय बन गई और कुछ दिनों तक मुझे भी कालेज की हिन्दी परिषद के सचिव का कार्यभार संभालना पड़ा जब दिनकर इस परिषद के अध्यक्ष थे। उन्हीं दिनों हमारे साहित्यिक उत्सवों के अवसर पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और पं० जनार्दन झा 'द्विज' छात्रों के बीच आए। पं० द्विज के भाषण में कुछ ऐसा तेज था, कुछ ऐसी गति थी और इतना प्रवाह था कि सब लोगों ने एक स्वर से यह माना था कि द्विज जैसे वक्ता हिन्दी में बहुत कम है। उनका भाषण सुनकर गंगोत्री में गंगा की याद आती थी। फिर जब आचार्य द्विवेदी बोले तो उनकी सरल सहज मुस्कान के साथ फूटने वाली मधुर वाणी ने प्रखर प्रतिभावान, तपोनिष्ठ भारतीय पंडित की समस्त विशेषताओं को श्रोताओं के सामने खड़ा कर दिया था।

दिनकर छात्रों के बीच ही नहीं अध्यापकों के बीच भी अत्यन्त लोकप्रिय थे। सभी लोग उनका समान रूप से सम्मान किया करते थे। दिनकर के जीवन की यह एक विशेषता थी कि वे किसी एक स्थान पर या एक पद पर बहुत दिन तक बंधकर नहीं रहे। संभवतः वे जिन पदों पर गए वे उनकी प्रतिभा और प्रतिष्ठा के समक्ष छोटे पड़ते गये और दिनकर इन पदों का गौरव बढ़ाकर आगे बढ़ते गये। लगभग दो वर्ष तक मुजफ्फपुर कॉलेज में अध्यापन के बाद दिनकर राज्यसभा के सदस्य होकर दिल्ली आए। दिल्ली जिस पर उन्होंने आजादी के पहले और आजादी के बाद बहुत कुछ लिखा था उसको बहुत समीप से निरखा, परखा और फिर इसे उन्होंने 'रेशमीनगर' की संज्ञा दी।

राज्यसभा में सदस्य होने के बाद मेरा संपर्क उनसे कुछ कम होता गया और बीच-बीच में कलकते में उनके दर्शन का मुझे सुअवसर मिलता रहा। एक बाद जब दिनकर राज्यसभा के सदस्य होने के बाद कलकते आए और मैंने उनसे राज्यसभा के बारे में पूछा तो उन्होंने बड़ा ही दिलचस्प उत्तर दिया। उन्होंने कहा-''संक्षेप में यदि तुम राज्यसभा और लोकसभा के बारे में मुझसे जानना चाहते हो तो मैं इतना ही कहूंगा कि इन दोनों सदनों के हम सभी सदस्य गोपियां है और हम लोगों के बीच पंडितजी कृष्ण हैं। हम सभी इस बात की कोशिश में रहते हैं कि कृष्ण हम पर रीझ जाएँ।'' दिनकर जिस समय इस स्थिति का वर्णन कर रहे थे, मेरे साथ मेरे और उनके बहुत-से मित्र थे। दिनकर की इस उक्ति से सभी के मुख पर मुस्कान बिखेर दी। बाद में हम सभी सोचते रहे कि दिनकर ने इस एक उक्ति के माध्यम से देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का कितना सच्चा निरूपण प्रस्तुत किया है। इसीलिए सभी दिनकर की अभिव्यंजना शैली की मुक्तकंठ से प्रशंसा किया करते हैं। सभी मानते हैं कि आप अपनी बात एक बार दिनकरजी को सुना दें और उसके बाद फिर उनसे वही सुन लें तो दोनों के प्रभाव का कुछ इतना अंतर होगा कि आप स्वंय यह मानने लगेंगे कि जो बात मैंने कही थी वह तो कुछ भी नहीं थी; दरअसल बात यही थी जो मैं कहना चाहता था।

दिनकर राष्ट्रकवि और महान चिंतक थे। दिनकर को समीप से जानने पर ही यह पता चलता था कि दिनकर में मात्र ज्वाला ही नहीं हिम की शीतलता, हिमालय की विराटता और गंगा की गंभीरता एवं शुचिता भी थी। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने उनके चरणों में बैठकर कुछ सीखा और उनका विपुल स्नेहाशीष मुझे प्राप्त हुआ। उनकी यह विशेषता थी कि जहाँ भी उन्हें श्रद्धा और सम्मान मिलता था, जिस कोने में उन्हें भक्ति दिखाई देती थी; वहां उनके मन का कपाट सहज ही खुल जाता था। सारे अन्तर मिट जाते थे और एक निश्छल, दर्शनीय विराट व्यक्तित्व की झांकी अत्यंत सहज सुलभ हो जाती थी। मन यह नहीं मानता कि 24 अप्रैल 1974 की अर्द्धरात्रि को राष्ट्रकवि दिनकर इस लोक से चले गये-'जगती की सीमा शेष हुई' और 'नीचे की महफिल उजड़ गई'। मेरा मन तो उनके निम्नांकित स्वरूप का ही सदा स्मरण करता रहेगा-

''पाया निसर्ग ने मुझे पुण्य के फल-सा,
तम के सिर पर निकला मैं कनक कमल सा।
हो उठा दीप्त धरती का कोना कोना,
जिसको मैंने छू दिया, हुआ वह सोना।
मैं विभा-पुत्र जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

दिनकर : रामवृक्ष बेनीपुरी और जितेन्द्र बेनीपुरी के साथ

क्रांति का कवि

रामवृक्ष बेनीपुरी

रामवृक्ष बेनीपुरी के साथ दिनकर

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी दिनकर जी के मित्र भी थे और कला-पारखी भी। वे स्वयं क्रान्ति-पथ के पथिक थे। दिनकर की राष्ट्रीय कविताओं के प्रथम संग्रह 'हुंकार' की जो भूमिका उन्होंने काशी में रंगभरी एकादशी, 1955 ई. को लिखी थी, वह दिनकरजी की राष्ट्रीय कविताओं को समझने के लिए आज भी उतनी ही स्पष्ट है जितनी उस समय थी जब वह लिखी गई थी। (इसी भूमिका के मुख्य अंश दे रहे हैं)। इसका यह अर्थ नहीं है कि दिनकर का 'हुंकार' के बाद विकास ही नहीं हुआ। परन्तु जो बात 1955 में बेनीपुरी ने लिखी थी, वह सही है कि 'दिनकर के आगे का मैदान भी उसी का है। यह मेरा आज का दावा है।' दिनकर जी जिस दिन तक जीवित रहे मैदान उन्हीं का रहा। **-संपादक**

राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा भारतेन्दु से प्रारम्भ हुई, उसकी परिणति हुई है दिनकर में।

जबकि चारों ओर अंधकार ही अंधकार था, दरबार के विषाक्त वायुमण्डल ने बेचारी कविता को बहू-बेटियों के नग्न-सौन्दर्य-वर्ण की बेहयाई मात्र बना रखा था, दूज के चाँद की तरह, एक पतली-सी प्रकाश-रेखा पश्चिम क्षितिज पर दीख पड़ी। पहली बार लोगों ने सुना : 'आवहु सब मिलि के रोवहु भारत-भाई'। 'भारत-दुर्दशा' पर प्रकट की गई इस रुदन-ध्वनि का उत्तर दिया भारत पर अपनी जवानी और जिन्दगी कुर्बान कर देने वाली महारानी लक्ष्मीबाई की प्यारी झाँसी के एक चिरगाँव ने। चिरगाँव ने अपनी पूरी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करके आकांक्षा की -'भगवान, भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती'। निस्संदेह, उसकी भारती गूँजी, समूचे हिन्दी-भारत में गूँजी। नर्मदा-तट की एक कुटी में जलती हुई साधना की धुनी की लपटों में ज्वार आया। रुदन-क्रन्दन, गूँज-गायन नहीं, एक ललकार देश के तरुणों के प्रति, जिसकी टेक थी : बलिदान, बलिदान। बलिदान भी कैसा?

सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञात? दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए उच्च विचार?
नहीं, केवल अपना बलिदान।

भारतीय आत्मा का यह आह्वान और देश में सचमुच बलिदानों का एक ताँता लग गया। सूलियों की सेज, उछलती लाशें। माँ की बलिवेदी लाल हो रही थी। इस लाल वेदी से एक लाल देवी का आविर्भाव हुआ। क्या आपकी आँखें उसे देख पाती हैं? यदि वैसे आप देख नहीं पाते, तो दिनकर के प्रकाश में देखें उसे।

जो पश्चिमी क्षितिज पर सान्त-स्निग्ध इन्दु था, वह पूरब में दिनकर होकर अभी-अभी उगा है। उसके प्रकाश में अरुणिमा है, तरुणाई की सूचना, या उस देवी की प्रतिच्छाया?

हमारे क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय, दिनकर कर रहा है। क्रान्तिवादी को जिन-जिन हृदय-मन्थनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता उनकी सच्ची तस्वीर रखती है। क्रान्तिकारी के पास भी दिल होता है। लेकिन, वह करे तो क्या? उसी समय उसके कानों में कुछ दूसरी ही रागिनी बज उठती है, उसकी आँखें कुछ दूसरे ही दृश्य देखने लगती हैं :

रणित विषम रागिनी मरण की
आज विकट हिंसा-उत्सव में,
दबे हुए अभिशाप मनुज के
लगे उदित होने फिर भव में;
शोणित से रँग रही शुभ्र पट
संस्कृति निठुर लिये करवालें,
जला रही निज सिंह-पौर पर
दलित-दीन की अस्थि-मशालें।

और उसे मालूम होता है, कोई शक्ति उसे बुला रही है - जगा रही है। यह कौन? यह तो वही है। वह झिझक उठता है :

यह कैसा आह्वान!
समय-असमय का तनिक न ध्यान।
तुम्हारी भरी सृष्टि के बीच
एक क्या तरल अग्नि ही पेय?
सुधा-मधु का अक्षय भण्डार
एक मेरे ही हेतु अदेय?
उठो, सुन उठूँ, हुई क्या देवि,
नींद भी अनुचर का अपराध?
मरो, सुन मरूँ, नहीं क्या शेष
अभी दो-दिन जीने की साध?

दूसरे ही क्षण, वह प्रकृतिस्थ होता है। अरे, उसका जीवन तो समर्पित है। उस पर उसका क्या अधिकार? और, माना वह गरज उठता है -

फेंकता हूँ लो, तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुरे! बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव-हुंकार।
नहीं जीते-जी सकता देख
विश्व पे झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल।

गरल, गरल, गरल! क्रांतिकारी की जिन्दगी में अमृत का स्थान कहाँ? और, हिन्दुस्तान की क्रांति आज जो नया रूप ले रही है, उससे भी वह अपरिचित नहीं। मालूम होता है, मानो अब तो उसकी कविता की वही प्रमुख प्रेरक है :

जेठ हो कि हो पूस, हमारे
कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे बैल से संग, कभी
जीवन में ऐसा दाम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में,
जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ? सूखी रोटी भी
मिलती दोनों शाम नहीं है।

यही नहीं, वह उस दिन नई दिल्ली को देखकर भी कह उठा था :

आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प, पुकारें;
अरी, गरीबों के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवार!

नई दिल्ली को उसने एक नवीन विशेषण भी दिया है -*कृषक मेध की रानी दिल्ली।*

कभी हमारे राजे अश्वमेध करते; नई दिल्ली कृषक मेध करती है, वह उसकी रानी है।

सबसे बढ़कर हमारे आज के समाज में स्त्रियों की नग्नता और बच्चों की भूख-ये दो चीजें ऐसी हैं, जो दिनकर के भावुक हृदय को क्रान्ति के लिए सबसे अधिक प्रेरित करती हैं। 'हाहाकार' में बच्चों की भूख और दूध के लिए उनकी चिल्लाहट का उसने ऐसा वर्णन किया है, जो पत्थर के दिल को भी पिघला सकता है -

कब्र-कब्र में अबुध बालकों
की भूखी हड्डी रोती है,
'दूध-दूध की कदम-कदम पर,
सारी रात सदा होती है।
'दूध-दूध ओ वत्स, मन्दिरों में
बहरे पाषाण यहीं हैं!
'दूध-दूध', तारे, बोलो इन
बच्चों के भगवान कहाँ हैं।

भगवान बहरे हों, तारे न बोलें - लेकिन, कवि चुप बैठने वाला नहीं। वह कहता है :

हटो व्योम के मेघ, पंथ से
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध-दूध' ओ वत्स, तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं।

मालूम होता है, दिनकर ने क्रांति को निकट से देखा है और उसने उसे एक अच्छा-सा नाम भी दे दिया है - *विपथगा*। इस विपथगा को कवि ने भारतीय रूप दिया है। यह सिर पर छत्र-मुकुट रखती है; कुमारी है, तो भी सिन्दूर लगाती है; आँखों में अंजन देती है और रंगीन चीर पहनकर नाचती है। लेकिन, इसके मुकुट, सिन्दूर, अंजन और चीर, सब असाधारण हैं। कैसे? ऐसे :

मेरे मस्तक का छत्र-मुकुट
बसु-काल-सर्पिणी के शत फन;
मुक्त चिर-कुमारिका के ललाट
पर नित्य नवीन रुधिर-चन्दन;
आँजा करती हूँ चिता-धूम का
दृग में अंध-तिमिर अंजन;
संहार-लपट का चीर पहन
नाचा करती मैं छूम छनन।

और नाचना शुरू किया कि एक अजीब दृश्य -

पायल की पहली झमक,
सृष्टि में कोलाहल छा जाता है;
पड़ते जिस ओर चरण मेरे,
भूगोल उधर दब जाता है।

'भूगोल उधर दब जाता है' - आप इसे अत्युक्ति कहेंगे; लेकिन दुनिया का इतिहास इसका साक्षी है। विश्व-साहित्य में क्रान्ति पर जितनी कविताएँ हैं, 'दिनकर' की 'विपथगा' उनमें से किसी के भी समकक्ष आदर का स्थान पाने की योग्यता रखती है।

क्रान्ति-सम्बन्धी उनकी दूसरी कविता 'दिगम्बरि' भी हिन्दी-संसार में जोड़ नहीं रखती। मालूम होता है, कवि आँखों देखी, कानों सुनी बात कह रहा है—

धरातल को हिला गूँजा धरणि में राग कोई,
तलातल से उभरती आ रही है आग कोई,
दिशा के बंध से झंझा विकल है छूटने को,
धरा के वक्ष से आकुल हलाहल फूटने को।

और, इस क्रान्ति के वाहन कौन होंगे? युवक ही तो? अतः, 'दिनकर' एक मौका भी ऐसा नहीं जाने देता, जब वह इन युवकों से दो-दो बातें न कर ले। कभी वह उन्हें उलाहना देता है—

खेल रहे हिलमिल घाटी में कौन शिखर का ध्यान करे?
ऐसा वीर कहाँ कि शैल-रुह फूलों का मधु-पान करे?

कभी उन्हें वह चेतावनी देता है—

लेना अनल-किरीट भाल पर
ओ आशिक होने वाले,
कालकूट पहले पी लेना,
सुधा-बीज बोने वाले।

दोस्तों, याद रखो :

धरकर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से काँटे रुककर,
फूँक-फूँक चलती न जवानी चोटों से बचकर, झुककर।

उन्हें 'जय-यात्रा' के लिए उत्तेजित करते हुए, मानो, आखिरी बार कवि कहे देता है—

चल यौवन उद्दाम;
चल, चल बिना विराम,
विजय-मरण, दो घाट,
समर के बीच कहाँ विश्राम?

अन्त में एक बात। जब मैंने राष्ट्रीय कविता के विकास के सिलसिले में भारतेन्दु, मैथिलीशरण, भारतीय आत्मा और दिनकर को लिया है, तो इसका मतलब यह नहीं कि इनके अतिरिक्त किसी ने देशमाता के चरणों पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई नहीं।

नहीं, यह कहना गुस्ताखी होगी— अक्षम्य अपराध होगा।

ये तो 'मील के पत्थर' मात्र हैं— खास दूरी के सूचक। बीच में और भी कितनी ही प्रणम्य, नमस्य, देव-मूर्तियाँ हैं; किन्तु बीच में ही। 'दिनकर' के आगे का मैदान अभी उसी का है। यह मेरा आज का दावा है। कल की बात मैं नहीं कहता।

साहित्य साधना की शिखर परिणति

हरिवंश राय बच्चन

दिनकर से मेरी पहली मुलाकात दिसम्बर, 1935 में हुई थी, जब जापानी कवि योन नोमूची के स्वागत में आयोजित उत्सव में मैं कलकत्ता गया था। उन दिनों 'योगी' में मेरी कविताओं का उपहास भी होता था। और दिनकर को वे ज्यादा प्रश्रय देते थे पर हम लोगों में ईर्ष्या या मुकाबले की भावना बिल्कुल नहीं थी। साथ-साथ कविता पढ़ते थे, मिलते थे, मिलते-जुलते थे, बातें करते थे। मुझे याद है कि किसी कवि के कविता पाठ के समय, हम दोनों ने बात करने पर डाँट खाई थी। हम लोगों ने कितने ही स्थानों की साथ-साथ यात्रा की, कवि सम्मेलनों में गये।

दिनकर की वाणी का ओज उनके व्यक्तित्व में भी था। पहले वे कवि सम्मेलनों मे गाकर सस्वर पाठ भी करते थे। पर जल्दी ही उन्हें महसूस हो गया कि उनका स्वर गाने के लिए नहीं, गरजने के लिए है। पर मैं अपनी कविता गाकर, किसी राग में पढ़ता था। श्रोताओं को 'वैरायटी' मिलती थी। इसमें एक सामंजस्य ही था, प्रतिद्वन्द्विता नहीं। 1956 में जब मैं दिल्ली में आ गया, हम लोगों की अनौपचारिक और आत्मीय ढंग से बातें हुआ करतीं थीं। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो मैं दिनकर से ही कर सकता था। हम खुलकर बातें करते थे। हमारी बातें साहित्यिक भाषा में न होकर, धरती की भाषा में होती थी। अब शायद कोई दूसरा आदमी नहीं है, जिससे इस तरह की बातें मैं कर सकूँगा। दिनकर की 'हारे को हरिनाम' में एक कविता भी है कि, 'मैं याद तो बेनीपुरी की करता हूँ। पर मैं बैठना चाहूँगा बच्चन के साथ।'

दिनकरजी ने श्रमसाध्य जीवन जिया। उनकी साहित्य साधना अपूर्व थी। कुछ समय पहले मुझे एक सज्जन ने कलकत्ता से पत्र लिखा कि दिनकर को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलना कितना उपयुक्त है? मैंने उन्हें उत्तर में लिखा था कि- यदि चार ज्ञानपीठ पुरस्कार उन्हें मिलते, तो उनका उचित सम्मान होता- गद्य, पद्य, भाषणों और हिन्दी प्रचार के लिए।

दिनकर को मानसिक वेदना बहुत थी। अंत तो सभी का आता है। देश की जैसी स्थिति है, उसमें पैंसठ वर्ष भी जी लेना आसान बात नहीं है। साहित्यिक क्षेत्र में एक व्यक्ति जो कामना कर सकता है दिनकर को वह सब कुछ मिल गया था- पद,यश, पैसा, प्रतिष्ठा। पर मेरे और उनके अनेक मित्रों के मन को हमेशा यह कचोटता रहेगा कि इतना कुछ करने के बाद, इतनी उपलब्धि और सफलता के बीच, कोई इतनी अशान्ति और दुःख-क्लेश को लेकर मरे।

सतीश वर्मा द्वारा प्रस्तुत, 'धर्मयुग' से, 12 मई 1974

अस्तंगत का उदय

भवानीप्रसाद मिश्र

चौबीस की रात को या कहिए जब 25 अप्रैल शुरू हो चुकी थी, एक बजे रेडियो पर खबर आ गयी थी कि दिनकरजी मद्रास के किसी नर्सिंगहोम में दिल के दौरे से हम सबको छोड़कर चले गये। मैंने यह खबर एक बजे रात को नहीं सुनी। जिस दोस्त ने सुनी उसका जी उसी समय मुझे आकर बताने का हुआ। मगर वह जानता था कि मेरा और दिनकरजी का ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि मैं खबर सुनकर फिर रात को सो रहूँ। मुझे दिल का बीमार जान वह मेरे पास रात को नहीं आया। सुबह एक बचपन के दोस्त ने, जो मध्य प्रदेश में शिक्षक हैं और राष्ट्रपति पुरस्कार लेने दिल्ली आये थे, 6 बजे घंटी बजा दी। उन्हें देखकर जी इतना खुश हुआ कि आये हुए अखबार पड़े रहे, मैंने उन्हें छुआ तक नहीं और चाय के साथ-साथ परिवार के सारे लोग उनसे बातचीत में जुट गये। तभी जैनेन्द्रजी का फोन आया, उन्होंने कहा 'भवानी। तुमने पढ़ा?' जी सशंकित हो उठा। मैंने डरी हुई-सी आवाज में पूछा-'क्या?' उन्होंने कहा- 'दिनकर नहीं रहे।' अखबार में तो ज्यादा खबर थी नहीं। जगह-जगह फोन करना शुरू किया। भाई बच्चू प्रसाद सिंह ने बताया कि दिनकर जी का शव नौ बजकर पचपन मिनट पर हवाई जहाज से पालम पहुँचेगा और कोई पौन घंटे के बाद पटना ले जाया जायेगा। संस्कार वहीं शाम को होगा। जितने दोस्तों को फोन पर खबर दी जा सकती थी, खबर देना शुरू किया। आठ बजे रेडियो ने भी यही सब सूचना दी। हम सब लोग पालम पहुँचे।

पालम का दृश्य जहाज के आने के पहले भी बहुत करुण था। लोग आँखों में पानी भरे, एक-दूसरे से आँख चुराते-से घूम रहे थे। आपस में बातचीत करने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। इतने अचानक और ऐसी दारुण खबर बर्दाश्त कर सकना शायद किसी से बन नहीं पाया। परिवार के लोग, साहित्यिक दुनिया के लोग, मित्रों का दल, राजनेता, प्रकाशक और जनसेवक सभी पालम पर परेशान घूम जहाज का रास्ता देख रहे थे। जब जहाज आया, तब भी हम सबके शव तक पहुँचने में कोई बीस-पच्चीस मिनट लग गए। जहाज के कर्मचारियों का बर्ताव अत्यंत सौजन्यपूर्ण था। हम सब लोगों को जहाँ जहाज रुका था, वहाँ तक जाने दिया गया। दिनकरजी का शव एक ठेले पर हमारे सामने लाया गया। शव लकड़ी की पेटी में बंद था, यानी हम, जो उन्हें देखने के लिए तरस रहे थे, लकड़ी की पेटी को देखते रहे। ज्यादातर लोग फूलमालाएँ लेकर आये थे। फूलमालाएँ शव पेटिका पर चढ़ाई गईं। जिनके पास फूल-मालाएँ थीं, और जिनके पास नहीं थीं, उन सबके आँसू तो उस पर गिरे ही।

किंतु आँसू टपकाते हुए भी मन में कहीं यह एक आश्वासन झाँक रहा था कि दिनकर अस्त होकर भी अस्त नहीं हुए हैं। इस 'दिनकर' का एक शाश्वत उदयाचल भी है, जिस पर से यह कभी ओझल नहीं होगा। कविता और अपने हर लेखन के द्वारा दिनकर 'हुंकार' से लेकर 'हारे को हरिनाम' तक तथा कहिए, 'संस्कृति के चार अध्याय' से लेकर 'आधुनिक बोध' तक अनादि काल से अब तक के जीवन प्रवाह और उसमें उसके चढ़ावों तथा उसके उतारों को प्रकारान्तर से जानते-पहचानते रहे हैं। उनके भीतर जो चीज घनी थी वह थी आशा या ओज या इनसे मिलते-जुलते तत्वों के साथ-साथ वह गहरी उदासी, जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'मनुष्य की मूल पूँजी' कहा है। उदासी जब जितनी घनी होती थी तब वे उसे उतने ही ज्यादा जोर से ललकारते थे। उनके लेखन से इतना स्पष्ट होते बहुत देर नहीं लगती कि ये कविता में थोड़ी वक्रता और गद्य में सरलता, शालीनता और दृढ़ता के साथ प्रायः यही कहते जान पड़ते हैं कि प्रारंभ से अब तक का जमाना युद्धों का और इसलिए निष्कर्ष आप निकालिए कि व्यर्थता का रहा है। इससे भिन्न परिस्थिति कैसे बन सकती थी सो मैं नहीं जानता। आदमी के खिलाफ की शक्तियाँ अब तक मानवीय नहीं, दानवीय रही हैं; अहं और लोभ-लालच के रेले

औचित्य संगति और पारस्परिकता के अनति दृढ़ तटों से आ-आकर टकराते रहे हैं और इस टकराहट ने तटों को ढँक देने वाले, कई बार तोड़ देने वाले ऊँचे-ऊँचे तूफान उठाये हैं-बेचारा आदमी अब तक उनमें सिर्फ मारा-मारा फिरा है। किंतु उनकी यह उदास मुद्रा फिर दर्शन में बदल जाती थी और वे अरविंद के साथ अतिमानवता की कल्पना को काव्य में साकार करने का प्रयत्न करने लगते थे।

दिनकर के 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' या 'परशुराम की प्रतीक्षा' अगर दानवीय-ज्वर के चढ़ाव के चरम बिंदु है तो उनका 'हारे को हरिनाम' महाज्वर के उतर जाने के बाद का वह लागरपन है जो शरीर और मन और आत्मा तक को केवल तोड़ ही नहीं देता, चूसकर एक तरफ पड़े रहने पर विवश कर देता है। यों कहा जा सकता है कि 'हारे को हरिनाम' में दिनकर ने कवित्व की हद तक जीवन की जीर्णता, शीर्णता और लाचारी का अधिक स्पष्ट अनुभव करके एक अर्द्ध-प्रतीकवादी तरीके से सामने यह रखा है कि वे दुनिया को किस तरह देखते हैं और दुनिया उनको किस तरह देखती है। यहाँ वे नित्य-प्रति भीतर बढ़ती जाने वाली उदासी को ओज, रोष या ललकार से ढाँकने की बजाय जैसी वह है, उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे उसमें एकदम व्यक्तिगत मुहावरा अपनाये हुए हैं जबकि अन्य कृतियों में उन्होंने चरित्र कहिये, प्रतीक कहिए चुने है-फिर चाहे चरित्र कर्ण का हो, चाहे पुरूरवा का, चाहे परशुराम का।

इस अंतिम काव्य संग्रह में दिनकर ने अपनी वाग्मिता का कदाचित् ही कहीं सहारा लिया है। इस संग्रह की कविताओं में दर्शन, ध्यान, समाधि, भक्ति, देशकाल और किसी अज्ञेय के हाथों में मानवीय इतिहास की बागडोर के थमे होने का अहसास आदि के विचार उभर-उभर कर सामने आते हैं। साथ ही नजर आती है दिनकर की एक नितांत अनजानी सोच में डूबी हुई अशरण के चरणों में अर्पित तस्वीर। यह तस्वीर उनकी पूर्ववती कविताओं में उभरने वाली कविताओं को सच कहें तो नकारती नहीं, उसको समझने की चाबी देती है।

अब दिनकर हमारे बीच नहीं हैं। हम उनके पूरे व्यक्तित्व को उनकी रचनाओं में अधिक अवकाश और गहराई के साथ खोज सकते हैं। कवि के बारे में दिनकर की क्या दृष्टि थी उसे नीचे दी गई कविता के हिसाब से देखकर पढ़ें तो दिनकर को समझने में बड़ी मदद मिलेगी। दिनकर विरोधी भावों के नहीं, विरोधों के पुंज थे-इसीलिए वे भीतरी और बाहरी का अनोखा सामंजस्य साधकर लिख सके हैं। वे अपनी कविता में ठीक कलाकार के उस दोहरे रूप में प्रकट हुए हैं जिसमें एक तरफ वह निर्माता होता है अपनी कृति का; और दूसरी तरफ अपनी कृति से निर्मित होता है। 'कवि' शीर्षक इस तथ्य को खोलने वाली कविता पूरी की पूरी इस तरह हैः

प्राप्त है इनको सखे, कुछ ज्ञान भी, अज्ञान भी।
वायु हैं ये,
विश्व के मन को बहाकर
सत्य-सुषमा की दिशा की ओर करते हैं।
मानवों में देवता जो सो रहे, उनको जगाते हैं।
रात्रि के ये क्रोध हैं,
हुंकार भरते हैं तिमिर में
और हाहाकार करके भोर करते हैं
आँख के हैं अश्रु कोई भी न जिनको जानता है।
सिंधु तट की वह मधुरता है
न जो मिटती कभी है
बालुका पर मनुज के पद चिन्ह जो पड़ते,
ये जुगा उनको भविष्यत् के लिए धरते।

यह कविता उनके समूचे काव्य से उठने वाली इस ध्वनि को व्यक्त करती है कि दिनकर व्यक्ति से पार देख पाने वाली एक दृष्टि का नाम था। यह कविता एक दर्पण है जो उन्हें जैसा का तैसा नहीं, उदात्त (ट्रान्सफार्म्ड) रूप में दिखाती है- यह उदात्त रूप उनका पार्थिव रूप कदापि नहीं है। उन्हें जो पार्थिव रूप मिला था, वह हर सच्चे कलाकार को निमित्त रूप में मिलने वाली देह थी, जिसके बल पर वह पार्थिवातीत और इसलिए सदा उदयोन्मुख; एक प्रतीक की तरह सामने रहता है।

साहित्य के दीप्तिमान नक्षत्र

कमलापति त्रिपाठी

तत्कालीन केंद्रीय मंत्री

दिनकर जी की कृतियाँ और उनकी प्रतिभा के संबंध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। न केवल हिन्दी जगत प्रत्युत भारतीय वाङ्मय उनकी विशिष्टता से पूर्णतः परिचित है। गद्य और पद्य में उनकी समान गति थी और अपने गीतों तथा काव्य की पंक्तियों को जिस प्रभावकारी ढंग से वे पढ़ते थे, वह अनोखा था। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति तथा मर्यादा और इतिहास के प्रति बड़ा स्नेह था। आज वह हिन्दी साहित्य में मूर्धन्य स्थान रखते थे। उनके उठ जाने से हमारे देश और साहित्य का एक दीप्तिमान नक्षत्र अस्त हो गया।

दिनकर जी

प्रभाकर माचवे

आधुनिक हिंदी कविता के अंतिम ओजस्वी और आशावादी 'दिनकर' जी का नाम सबसे पहले मैंने सन 1935 में खंडवा में माखनलाल जी चतुर्वेदी के यहाँ सुना। रामवृक्ष बेनीपुरी उस समय 'कर्मवीर' के सह संपादक थे और उन्होंने मेरी प्रारंभिक रचनाएँ-कविताएँ, रेखाचित्र, कहानियाँ, 'कर्मवीर' साप्ताहिक में छापी थीं। तब 'रेणुका' की भूमिका 'दादा'(एक भारतीय आत्मा) ने लिखी थी, जिसके कारण दिनकर जी साहित्यक्षेत्र में आगे आये। खेद है कि 'रेणुका' के दूसरे संस्करण में वह भूमिका हटा दी गई। तब 'दिनकर' जी की कविताएँ बिहार के पत्रों के अलावा 'विशाल भारत' में बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने छापीं।

और 'कर्मवीर' में गत महायुद्ध के दौरान अबीसिनिया के युद्ध पर छपी उनकी प्रगतिशील कविता की पंक्तियाँ मुझे याद हैं जिसका आरंभ हुआ था 'मेघरंध्र में बजी रागिणी' से और 'ईसाई दुनिया ने बर्छी तानी' उसमें एक सटीक पंक्ति थी। दिनकर जी ने लेनिन की और रूस की क्रांति की प्रशंसा में अपनी आरंभिक कविताओं में लिखा- शायद 'हुंकार' में वह कविता है।

क्रांति की 'झन झन झन झन, झनन झनन' अगवानी बंदी भारत माता की बेड़ियों की झनकार में सुनने वाले दिनकर हिंदी के राष्ट्रीय कवियों की परंपरा में आते थे, जिनमें से मैथिलीशरण गुप्त, 'नवीन' जी, सुभद्राकुमारी पहले ही स्वर्गवासी हो गये। दिनकर जी से प्रत्यक्ष परिचय का लाभ इलाहाबाद में सन् 50 में जब साहित्यकार संसद के तत्वाधान में रसूलाबाद में महादेवी जी ने उनके सम्मान में उत्सव किया था और 'कुरुक्षेत्र' पर पुरस्कार दिया था, तब मिला। इससे पहले मैं 'कर्मवीर' में कृष्णायन के साथ-साथ 'कुरुक्षेत्र' की समीक्षा लिख चुका था। यह लेख मेरी एक पुस्तक में सन् 1952 में प्रकाशित हुआ है।

बाद में सन् 1954 में साहित्य अकादमी दिल्ली में आ जाने पर संसद-सदस्य के नाते दिनकर जी से अक्सर भेंट होती थी-मामा वरेरकर के घर पर, मैथिलीशरण जी के निवास-स्थान पर बनारसीदास जी के यहाँ या सभा-सम्मेलनों में। सन् 1957 में जब वे चीन गये, या सन् 1961 में सोवियत रूस या बाद में मारीशस में उनके संस्मरण में, उनके श्रीमुख से सुनने का अवसर मिलता था। वे ओजस्वी वक्ता थे। पं. जवाहरलाल नेहरू जब 70 वर्ष के हुए उन्होंने एक काव्य-संकलन 'शांतिदूत नेहरू' प्रकाशित कराया जिसमें मैंने उन्हें अनुवादादि कार्य से सहयोग दिया था। बाद में नेहरू के स्वर्गारोहण के बाद दिनकर जी ने 'लोकदेव नेहरू' पुस्तक लिखी।

दिनकर जी नई पीढ़ी की रचनाएँ पढ़ते ही नहीं थे; उन्हें प्रोत्साहन भी देते थे। उनकी सुनते भी थे, वाद-विवाद भी करते थे। नवीनतम पुस्तकें पढ़ने का उन्हें चाव था। साहित्य अकादमी के लिए उन्होंने रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं का अनुवाद किया, अरविंद घोष पर उन्होंने एक सेमिनार के लिए विशेष निबंध लिखा। 'वॉइस आफ हिमालयाज' उनकी कविताओं का एक अंग्रेजी अनुवाद छपा है- कुछ अनुवाद उसमें मेरे किए हुए हैं, कुछ आर. के. कपूर के और कुछ श्रीमती कमला रत्ना के। उनके निबंधों-विचारों की एक और पुस्तक अंग्रेजी में छपी है जिसमें कुछ अनुवाद श्रीमती कपिला वात्स्यायन के भी हैं। इस्पाहानी में उनकी कविताओं का अनुवाद श्रीमती रत्नम ने किया। रूसी में श्रीमती स्वेतलाना त्रबिनकोवा ने। वैसे हिंदी की कई पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषांक निकाले थे जैसे 'अध्येय' और 'गंतव्य' आदि ने। पद्मा सचदेव की डोगरी कविताओं का जो हिंदी अनुवाद अकादमी ने हाल में प्रकाशित किया है, उसकी भूमिका दिनकर जी द्वारा लिखी गई है। सारे हिंदी संसार में, और बाहर भी, उनके प्रशंसक हजारों में हैं। सैकड़ों नये लेखकों-पत्रकारों को उन्होंने प्रेरणा दी और जीवन में बड़ी सहायता की। 'कोयला और कवित्व', 'आत्मा की आँखें' उनकी आधुनिकतावादी रचनाएँ हैं।

ऐसे कवि के अंतिम दिन अध्यात्मोन्मुख हो गये थे। 'हारे को हरिनाम' इसका उदाहरण है। अरविंद, रमण महर्षि, माता आनंदमयी, शारदामाता (यह उनका अंतिम प्रकाशित लेख था) आदि पर रचनाएँ हैं। 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' पर काफी वाद-विवाद हिंदी में मचा। उन्हें यह आभास था कि वे न रवींद्र बन सके न इकबाल। हिंदी में सम्मान, सर्वश्रेष्ठ पुरस्कारादि मिलने पर भी वे अंतिम कवि सम्मेलन (सप्रू हाउस 21 अप्रैल रात्रि) को कह गये-

कागज कितना भी चिकना लगाओ
जिंदगी की किताब खाली की खाली रह जाती है।

राष्ट्रीयता के सशक्त माध्यम

मन्मथनाथ गुप्त

किसी जीवित व्यक्ति पर मैं लिखना पसन्द नहीं करता क्योंकि मैं इस फारसी कहावत में विश्वास करता हूँ-''तब तक किसी पर कुछ मत कह जब तक कि वह मर न जाए'', फिर भी मैंने 'आज के लोकप्रिय कवि' माला के लिए दिनकर पर एक पुस्तक लिखी क्योंकि दिनकरजी का मामला ऐसा था जिसमें मेरे बीच में पड़ने की जरूरत थी। यों उनका जीवन स्फटिक की तरह स्वच्छ है, पर उन्होंने ब्रिटिश सरकार की जो नौकरी की थी, उसी के इर्दगिर्द उनके प्रतिद्वंदी और निन्दक वर्षों तक उनकी नींद हराम किए रहे। इस प्रचार के कारण भीतर ही भीतर उनमें बहुत सालों तक एक हीनताबोध था, जो संसद के प्राथमिक सालों में भी चलता रहा। मैं उनकी इस पीड़ा से परिचित था, इसी के लिए मुझे अपने सारे नियमों को तोड़कर वह पुस्तक लिखनी पड़ी। मैंने उनको सरिता के जनवरी अंकों में 13 साल तक लगातार प्रकाशित होने वाली वार्षिक-समीक्षा में राष्ट्रकवि करके सम्बोधित किया, जिस पर दिल्ली के किसी-किसी साहित्य-चक्र में पीठ पीछे मेरी काफी हँसी उड़ाई गयी। ऐसे लोग मैथिलीशरण को एकमात्र राष्ट्रकवि मानते थे, मेरा कहना था दोनों हैं तथा और भी हैं।

हम 1923 में क्रान्तिकारी प्रचार कर रहे थे, तो हमने अन्य पुस्तकों जैसे 'देश की बात', 'एशिया निवासियों के प्रति योरोपियनों का बर्ताव' के साथ 'भारत भारती' का उपयोग किया। उस समय हमने दिनकर का नाम काशी में सुना भी नहीं था। पर मजा तो मुझे तब आया जब वही लोग जो मैथिलीशरण के घर पर दिनकर का 'राष्ट्रकवित्व' लेकर मजाक उड़ाकर उनसे अपनी रीडरबाजी टाइप का काम निकालते थे, वे मैथिलीशरण की मृत्यु के बाद दिनकर को अटक-अटक कर राष्ट्रकवि कहने लगे और अब इधर कुछ सालों से सभी उन्हें राष्ट्रकवि कहते रहे।

सच बात तो यह है कि इन दोनों में से कोई उस अर्थ में राष्ट्रकवि नहीं थे, जिस अर्थ में इंग्लैंड के कवि लारिएट होते हैं। भारत बहुभाषी देश है, हिन्दी का कवि ही पोएट लारिएट होगा ऐसी कोई गारंटी नहीं।

मैंने इस अर्थ में दिनकर को राष्ट्रकवि कहा कि वह सरकारी नौकर होते हुए भी राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार के बहुत बड़े सशक्त माध्यम बने। बकिंमचन्द्र भी सरकारी नौकर थे, रमेशचन्द्र दत्त, डी.एल. राय, आशुतोष मुखर्जी सरकारी नौकर थे, बंगाल में सब कुछ कहा गया, पर इस नाते किसी ने उनका कभी अवमूल्यन नहीं करना चाहा कि वे सरकारी फाइल में क्या कहते थे। मैंने बिहार के किसी पत्र में दिनकर के विरूद्ध यह पढ़ा था कि युद्ध के दौरान उन्होंने कुछ राजभक्ति मूलक कविता प्रचार विभाग के लिए प्रस्तुत की थी। मेरा एक ख्याल यह है, कि यदि दिनकर सरकार में बड़े नौकर होते जैसे रानाडे हों तो ये निन्दक मुखर न होते। इससे इनका ज्ञापन और खुलता है। मैथिलीशरण के इन्हीं रीडरबाज खुशामदियों में एक आई.सी. एस. स्कूल वाले थे। कभी ब्यौरा लिखूँगा।

दिनकर पर आगे शोध होंगे। मैंने उस पुस्तक में यह नहीं लिखा, पर मैं अब लिखता हूँ कि यदि यह प्रमाणित भी हो जाए कि दिनकर ने वैसे एकाध गीत लिखे (जैसाकि उन्होंने न लिखा होगा) तो इससे कुछ आता जाता नहीं। उनका प्रमुख स्वर देशभक्ति मूलक था। समसामयिक साक्षी भी यही कहते हैं। 'जनता' साप्ताहिक का एक विशेषांक 1940 में भाई बेनीपुरी और मथुराप्रसाद मिश्र के संपादकत्व में निकल रहा था, दिनकर को तार दिया गया कि वह जल्दी से एक कविता भेजें। दिनकर ने गांधी की हैमलेटीय द्विधा पर एक कविता लिखी और उन्हें आन्दोलन छेड़ने को प्रेरित किया जिसका शीर्षक था 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल'। अब पूछा जाए कि क्या बेनीपुरी और मथुरा प्रसाद मिश्र दिनकर को अधिक जानते थे या ये खुशामदी रीडरबाज।

मैं दिनकर को हजारीबाग से जानता हूँ। मैं 1948 में दिल्ली आ गया, वह संसद सदस्य होकर बाद को आए। तब से

सैकड़ों बार भेंट हुई, पत्रों का आदान-प्रदान हुआ। मैंने उनको रवीन्द्रकाव्य के अनुवाद में सहायता दी; भौतिकवाद, अध्यात्मवाद पर बहस की। उन पत्रों को कभी प्रकाशित करूँगा। मैंने उनकी हर प्रधान कृति की लम्बी आलोचना लिखी। उन्होंने मेरे एक निबन्ध-संग्रह की दीर्घ भूमिका लिखी। 1961 में प्रकाशित 'वट पीपल' नामक निबन्ध संग्रह को उन्होंने मुझे समर्पित किया, जो बहुत बड़ा सम्मान रहा। दिनकर पर सैंकड़ों पुस्तकें प्रकाशित होंगी, न केवल इस कारण कि वे महाकवि थे, चिन्तक थे, बल्कि 'उर्वशी' के रूप में वह एक कृति दे गए जो उच्चकोटि का महाकाव्य होने के साथ-साथ एक आदर्श पाठ्यपुस्तक भी है, जिसकी अलग-अलग लोग अलग-अलग व्याख्या करेंगें। अलग-अलग युग में अलग-अलग कारणों से उसकी सराहना होगी।

उनके साथ मेरे मतभेद बहुत गहरे थे। मैं समझता था कि हिन्दी के क्षेत्र में वही एक व्यक्ति हैं, जो यदि वस्तुवादी चिंतन करें तो वह बहुत उपयोगी हो सकते हैं। सुमित्रानन्दन पंत पहले ही प्रगतिवादी से अध्यात्मवादी होकर मुझे निराश कर चुके थे। हमारे साथ के कई कट्टर क्रान्तिकारी जैसे बटुकेश्वरदत्त अध्यात्मवाद में लौट चुके थे। राजकुमार सिंह भी निश्चित रूप से इसी तरफ जा रहे थे जबकि मौत ने उन्हें उठा लिया। वह स्थायी मूल्यों की बात बहुत अधिक करने लगे थे।

दिनकर के 'संस्कृति के चार अध्याय' की इसी दृष्टि से मैंने लम्बी आलोचना लिखी थी, जिससे वह संतुष्ट नहीं थे। वहीं से कुछ कटाव पैदा हुआ, पर यह बराबर उच्च स्तर पर रहा। पन्त की तरह उनकी अरविन्द और माँ की भक्ति मुझे अखरी। अभी सुना मृत्यु के दिन वह तीन बार तिरूपति (श्रीपति) के दर्शन कर चुके थे। इन्हीं से मिलते-जुलते विषयों पर पत्राचार रहा। मैं शायद कुछ अधिक कड़वा हो गया, उन्होंने पीड़ा व्यक्त की। मैंने पत्राचार बन्द कर दिया। जब ज्ञानपीठ पुरस्कार के बाद श्रीमती रमा जैन के घर पर पार्टी हुई, तो उन्होंने बातचीत के दौरान एकाएक कहा-''मेरा आपका कोई इकट्ठा फोटो नहीं है''-कहकर फोटोग्राफर को बुलाया। फोटो हुआ। पर वह फोटो मेरे कब्जे में नहीं है।

इसके बाद कई बार मिले, पर इधर वह मछली-भात खाने वर्षों से नहीं आए थे जैसा वह खैबरपास हॉस्टल में आते थे। एक दिन एकाएक टेलीफोन आया-''भगतसिंह की फांसी की तारीख क्या है? चन्द्रशेखर आजाद कब शहीद हुए।'' मैंने पूरा ब्यौरा दे दिया।

पता नहीं इसका उन्होंने क्या उपयोग किया। मृत्यु से चार या पाँच दिन पहले 'स्टार' के दयानन्द वर्मा, अमरनाथ वर्मा ने उनके साथ-साथ मुझे भी सम्मानित किया। वहीं अन्तिम दर्शन हुआ। उस दिन जो ट्राफी मिली थी, काफी भारी थी। उन्होंने कहा भारी है, मैंने कहा मुदगर के रूप में भाँजिए। वह मुस्कराए। इस प्रकार मुस्कराहट में अन्तिम दर्शन हुआ। इच्छा तो है दिनकर पर कुछ वृहत्तर लिखूँ, पर क्या मृत्यु मेरी इच्छा पूर्ण होने देगी?

आचार्य शिवपूजन सहाय के साथ दिनकर

कलम के धनी : दिनकर

श्री वी.वी. गिरि

तत्कालीन महामहिम राष्ट्रपति

सच पूछा जाय तो दिनकर जी हिन्दी के ही नहीं मगर भारत के एक महान कवि थे जिनकी कविता में, यदि मैं यह कहूँ कि भारतीय आत्मा बोल उठी, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे कलम के धनी थे और क्या गद्य व पद्य, इन दोनों में उन्होंने कमाल की सफलता हासिल की। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो दिनकर जी की विचारधारा का जो बड़ा असर उसी पर पड़ा है, वह हमें स्पष्ट दिखाई देता है। वे एक देश-भक्त कवि थे जिनकी कविताओं में राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के विभिन्न स्वर झंकृत हुए हैं। उनकी विचारधारा प्रगतिशील और उनकी भाषा व शैली प्रभावकारी थी। इसलिए कवि सम्मेलनों में, सभा समारोहों में, जहाँ कहीं वे बोलते, अपनी अमिट छाप छोड़ कर जाते। हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि के लिये उनका योगदान महत्वपूर्ण था। यह उचित ही था कि वे कुछ समय तक संसद के सदस्य रहे, विश्वविद्यालय के उपकुलपति और कई साहित्यिक संस्थाओं के सम्मानित सदस्य भी। दिनकर जी की रचनाएँ भारतीय साहित्य की अनमोल निधि हैं और आशा करता हूँ कि वे भारतीय लेखकों को सदैव प्रेरणा देती रहेंगी।

राष्ट्रकवि दिनकरः कुछ निजी संस्मरण

बनारसीदास चतुर्वेदी

कोई बयालीस वर्ष पहले की बात है। सितम्बर 1932 के आस-पास एक कविता 'विशाल भारत' में छपने के लिये प्राप्त हुई थी। कविता का शीर्षक था 'जीवन का संगीत' और कवि का नाम था रामधारी सिंह 'दिनकर'। पढ़कर तबीयत फड़क गई और अपने सहयोगियों-वर्माजी, धन्यकुमारजी तथा श्रीपति पाण्डे को भी इसे पढ़ने के लिए दिया। किसी अच्छी रचना के आने पर हमारा कार्यालय उत्सव मनाता था और चाय के प्याले ऑर्डर किए जाते थे। न जाने कितनी बार हम लोगों ने तब दिनकरजी की कविताओं पर हर्ष मनाया। जब उनकी प्रथम पुस्तक 'रेणुका' प्रकाशित हुई थी तब मैंने 'विशाल भारत' में एक नोट लिखा था कि ऐसी सुंदर पुस्तक के प्रकाशन पर हिंदी जगत को उत्सव मनाना चाहिए।

कविवर दिनकरजी की एक रचना सन् 1929 में हमारे यहाँ से वापस जा चुकी थी जिसका शीर्षक था 'वायसराय की घोषणा'। यह कविता दिनकरजी के किसी संग्रह में भी नहीं छपी, पर काशी के भारत कला भवन में वह सुरक्षित है।

दिनकरजी के वैराग्य का, जो शुरू में था, मूड बहुत दिन तक कायम नहीं रहा और वे पराधीनता के विपक्ष में और स्वाधीनता के पक्ष में तेजस्वितापूर्ण रचनाएँ एक के बाद एक लिखने लगे। मैने बन्धुवर दिनकरजी को तभी लिखा था कि आप दोनों काम साथ-साथ नहीं कर सकते। सरकारी नौकरी तथा राष्ट्रीय कविताएँ।

किसी परमार्थ की दृष्टि से नहीं, बल्कि विशुद्ध स्वार्थ की दृष्टि से मैं दिनकरजी की रचनाओं का प्रचारक बन गया। अपने पत्र के लिए मैं उनकी बढ़िया रचनाएँ चाहता था। वर्धा में मैंने दिनकरजी की पुस्तक 'रेणुका' बाबूजी को पढ़ने को दी थी और राजेंद्र बाबू जी से तभी उनकी चर्चा की थी। राजेंद्र बाबू ने भी यही कहा था कि दिनकर जी दोनों काम साथ-साथ नहीं कर सकेंगे। मैंने बाबूजी की यह उक्ति 'विशाल भारत' में छाप दी! उसे पढ़कर दिनकरजी के एक भक्त ने, जिनका नाम शायद श्री धनराज था, मुझे लिखा था-''क्या आप दिनकरजी की नौकरी छुड़ाना चाहते हैं?'' उनका भ्रम सर्वथा उचित ही था और दिनकरजी मेरे हृदय की इस आंतरिक इच्छा को भलीभाँति समझते थे। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा भी था-''चतुर्वेदीजी के कथन का सारांश मैं खूब समझता था, किंतु मैं अपनी परिस्थितियों का दास था। न तो मैं नौकरी छोड़ सकता था और न क्रांतिकारी कविताओं से मुँह मोड़ने को तैयार था।'' आखिर देश के आजाद होने पर दिनकरजी ने नौकरी छोड़ दी थी।

सन 1952 में हम दोनों साथ-साथ राज्यसभा के सदस्य बने और तब दिनकरजी अक्सर मुझसे मजाक में कहा करते थे, ''आपने सन 1935 से रट लगा रक्खी थी कि नौकरी छोड़ दो, तो नौकरी मैंने आपकी ही प्रेरणा से छोड़ी है और संसद की सदस्यता से मेरी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती। आपने मुझे एक लाख रुपये के घाटे में डाला है। मै जब भी चाहूँ, आप पर एक लाख का दावा दायर कर सकता हूँ।''

दिनकरजी सब हिसाब लगाकर मुझे एक लाख का घाटा समझा देते थे, पर मैं पचहत्तर हजार से अधिक के लिए राजी नहीं होता था। मेरा दावा था कि नौकरी छोड़ने के बाद आपने जो साहित्य-सृष्टि की है, उसके पच्चीस हजार रुपये इस रकम में से काट दो। और हम लोगों का यह मजाक बराबर कायम रहा।

पर इससे भी अधिक गंभीर अपराध मुझसे और भी बन पड़ा। मैं तो पार्लियामेंट में बहुत ही कम जाता था, पर जब भी जाता तो दिनकरजी वहाँ दीख पड़ते। मैंने उनसे कहना शुरू किया, ''आप भी रेगिस्तान में खेती करते हैं? दोपहरी को विश्राम क्यों नहीं करते?'' यह बात मैंने इतनी बार दुहराई कि दिनकरजी ने उसे लिपिबद्ध कर दिया-

कहाँ फँसे हम सब बनारसीदास सदा कहते हैं,
जंगल छोड़ कभी योगी क्या शहरों में रहते हैं।

अगर आन ही फँसे तो समय नहीं खोओ रे।
जैसे मैं सोया रहता, तुम भी सुख से सोओ रे।

यही नहीं, दिनकरजी भी मेरा अनुकरण करने लगे और संसद में बहुत कम आने लगे। कुछ महीनों बाद जब मुलाकात हुई तो बोले, "आपने मेरी नौकरी तो छुड़वा ही दी थी, अब मंत्रित्व तथा उपमंत्रित्व भी मेरे हाथ से निकल गया। भला गैरहाजिर सदस्य को पद कैसे मिल सकता है? मुझे तो आपकी तरह राज्यसभा भवन में प्रवेश करने में डर लगने लगा है।"

दरअसल एक बार उनके मंत्री बनाए जाने की अफवाह जोरों से उठी थी, पर दिनकरजी मंत्री बनाए नहीं गए। अपनी डायरी में इस बात का जिक्र उन्होंने किया था। पर व्यक्तिगत तौर पर भले ही इससे दिनकरजी को घाटा हुआ हो, हिंदी जगत के लिए यह सौभाग्य की बात ही थी कि दिनकर जैसे प्रतिभाशाली कवि तथा लेखक का सम्पूर्ण समय साहित्य को ही अर्पित हो गया।

मैं न तो कोई काव्य मर्मज्ञ हूँ और न मुझमें इतनी योग्यता है कि उनकी रचनाओं का उचित मूल्यांकन कर सकूँ। पर मानव चरित्र का अध्ययन मेरा प्रिय विषय रहा है और मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि दिनकरजी को जैसा संघर्षमय जीवन बिताना पड़ा वैसा हिंदी जगत में उनके जैसे प्रतिभाशाली किसी भी लेखक या कवि को शायद ही व्यतीत करना पड़ा हो। जब वे बहुत छोटी उम्र के बालक ही थे, उनके पिता जी का स्वर्गवास हो गया और जीवन के अंतिम दिनों पर उन पर वज्रपात हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हो गया। अपने 28.08.1971 के पत्र में दिनकरजी ने मुझे लिखा था-

''आपने निन्यानबे के फेर में पड़ने से मुझे रोका था, पर वह तो और तेज हो गया। जिस परिस्थिति में पड़ गया हूँ, उसमें धन के बिना निस्तार नहीं है। अनाथ पोतियों का भार केदार पर डालकर मुक्त साँड बनकर घूमूँ, यह कायरता होगी। 24 साल की उम्र में जुए को अपनी गर्दन पर लिया था और 74 तक बचा तो गर्दन पर वही जुआ मौजूद रहेगा'।

हम लोगों का-समस्त हिंदी जगत का- यह दुर्भाग्य ही है कि दिनकरजी पैंसठ ही वर्ष की उम्र में चले गये। मेरा भानजा चिरंजीव मिथिलेष, जब उनसे आगरे में पिछली बार मिला था तो उन्होंने अपनी अस्वस्थता का उल्लेख करते हुए कहा था-मैं सत्तर तक नहीं चल सकता।''अत्यंत निर्बल होते हुए भी उन्होंने अपनी एक कविता मिथिलेष को टेप पर रेकार्ड करा दी थी। उनका यह अंतिम अहसान मुझ पर था।

दिनकरजी की मुझ पर जो श्रद्धा थी उसका अधिकारी मैं अपने को नहीं मानता। पिछले 40-45 वर्ष के निकट सम्बंध ा के बाद उनकी महायात्रा के अवसर पर जो हृदयवेधक स्मृतियाँ मेरे मस्तिष्क में उमड़ रही हैं, उनको लिपिबद्ध कर देना मेरे लिए अत्यंत ही कठिन है। मैंने उनसे बहुत सी आशाएँ बाँध रखी थीं और उन्होंने उनमें से कितनों ही की पूर्ति भी की थी।

सन 1935 में पटने के प्रांतीय सम्मेलन के अवसर पर जब दिनकरजी प्रथम दिन अत्यंत वर्षा के कारण नहीं पधार सके थे, मैंने कहा था, "यदि दिनकरजी अफ्रीका में उत्पन्न हुए होते तो मैं उनसे मिलने के लिए अफ्रीका पहुँचता।" सौभाग्य से दिनकरजी वहाँ पहुँच गए और मुझे बहुत खुशी हुई। पर मेरे उस कथन ने जहाँ उनके प्रंशसकों में कुछ वृद्धि की, उनके विरोधियों की भी संख्या बढ़ गयी।

दिनकरजी के काव्यपाठ पर मैं ही नहीं, सम्पूर्ण हिंदी जगत मुग्ध था। सबसे पहले जब वे 1935 में जापान के कवि नौगूची के स्वागत के अवसर पर कलकत्ता पधारे थे, तो मेरे निवास-स्थान पर अपनी 'हिमालय' नामक कविता उन्होंने सुनाई थी। उनकी वह मनोहर छटा अब भी मेरी आँखों के सामने है और उनकी बुलंद आवाज अब भी मेरे कानों में गूँज रही है।

एक स्मरणीय घटना का जिक्र दिनकरजी ने स्वयं ही किया है। वे लिखते हैं- एक बार चतुर्वेदी जी और मैं मोटर से मथुरा जा रहे थे। संयोग ऐसा हुआ कि रास्ते में मोटर खराब हो गयी। अतएव हम दोनों एक हलवाई की दुकान में बैठ गये और समय काटने को उन्हें मैं अपना 'रश्मिरथी' काव्य कोई दो घंटों तक सुनाता रहा। उस समय एक कुत्ता कहीं से आ गया और वह भी दो घंटों तक हमारे साथ बैठा रहा। तब से चतुर्वेदी जी को एक मसाला मिल गया। लोग जब भी मुझसे कविता पढ़ने को कहते, चतुर्वेदी जी कह उठते, "भाई हम और तुम काफी नहीं, श्रोता के रूप में एक कुत्ते का भी हाजिर रहना जरूरी है, तभी दिनकरजी मूड में आते हैं"।

जब हम दोनों मई सन् 1952 में पार्लियामेंट में पहुँचे तो सितम्बर में मैनें डॉक्टर केसकर साहब को एक पत्र में लिखा था, "क्या ही अच्छा हो यदि हिंदी के सुकवियों की कविताओं को टेप पर रेकार्ड करा दिया जाए। उदाहरण के लिए कविवर दिनकर तो एक अद्‌भुत करिश्मा हैं। अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताओं को इतने मधुर स्वर तथा बुलंद आवाज में सुनाने वाला शायद ही कोई दूसरा हो।" उस पत्र की नकल मेरे पास अब भी मौजूद है। खेद है कि सरकार ने तब मेरी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया था। आगे चलकर जब रेडियो विभाग श्री जे.सी.माथुर साहब के अधीन आया तो उन्होंने मेरी प्रार्थना पर कितने ही क्रांतिकारियों के अनुभव टेप पर रेकार्ड करवा लिये थे। हमें पता नहीं कि दिनकरजी की कितनी कविताएँ रेकार्ड की जा सकीं। जितनी भी की गईं हों, उनके स्थायित्व का प्रबंध शीघ्रातिशीघ्र हो जाना चाहिए। मेरा विश्वास है कि मॉरीशस तथा रूस के हिंदी प्रेमी भी उनके टेप रेकार्डों की प्रतियाँ सुरक्षित रखना पसंद करेंगे।

एक बात और। दिनकरजी ने गद्य तथा पद्य में इतनी महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं कि वे उनकी कीर्ति को चिरस्थायी बनाने में समर्थ होंगी। पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की स्मृति रक्षा के लिए उनका एक विस्तृत जीवन चरित्र नितांत आवश्यक है। यद्यपि दिनकरजी का व्यक्तित्व अखिल भारतीय

था, तथापि बिहार राज्य का उनके प्रति विशेष कर्त्तव्य है। वह दिनकरजी की स्मृति रक्षा के लिए पाँच हजार रुपये प्रतिवर्ष का एक पुरस्कार घोषित कर सकती है और उनके जीवन चरित्र लिखवाने के लिए दस पंद्रह हजार रुपये की व्यवस्था भी कर सकती है। ज्ञानपीठ काशी के लिए राष्ट्रकवि दिनकर स्मृतिग्रंथ निकाल देना कोई मुश्किल काम नहीं। वैसे मुझे आशंका है कि मेरा यह कथन अरण्यरोदन ही सिद्ध होगा। क्योंकि जो हिंदी जगत अमरशहीद गणेशशंकर जी विद्यार्थी की स्मृति रक्षा के लिए कुछ भी नहीं कर सका और जो अपने सेवकों को विस्मृति के गड्ढे में धकेलेने में ही गौरव का अनुभव करता है, उससे अधिक आशा क्यों की जाय?

●

पुराने और नए के सेतु सदृश

अज्ञेय

छायावाद के बाद के युग में जिन दो-तीन कवि-व्यक्तियों की छाप हिन्दी-जगत पर पड़ी, दिनकर उनमें प्रमुख थे। युवतर कवि-समुदाय पर वह छाप उतनी स्पष्ट कदाचित न हो पर हिन्दी केवल कवि-जगत नहीं है। पाठक समुदाय भी है और साधारण समाज भी है। दिनकर काव्य छोटे स्कूली दर्जों से लेकर विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओं तक पढ़ाया जाता है– 'पढ़ाने के लिए चुना जाता है' – ही सही, इस बात का महत्व कम नहीं है, न इसी बात का कि उनके पढ़ने वालों और प्रशंसकों में सभी वर्गों और स्तरों के लोग भी रहे और हैं। कविता को व्यापकतर सामाजिक प्रतिष्ठा ही सही, दिलाने का जो काम दिनकर ने किया, वह उन अन्य दो-तीन कवि-व्यक्तित्वों ने नहीं किया जिनकी छाप का उल्लेख हमने किया है। वहाँ दिनकर अकेले थे। उनकी राष्ट्रीय चेतना और व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि, उनकी वाणी का ओज और काव्य भाषा के तत्वों पर बल, उनका सात्विक मूल्यों का आग्रह उन्हें पारम्परिक रीति से जोड़े रखता था, परिवर्तन के लिए उनका अधैर्य, बुराइयों के प्रति उनका आक्रोश और हाँ, जीवन की नेमतों के प्रति उनका आकर्षण उन्हें नई रीति से जोड़ता था। इस प्रकार उनका काव्य पुराने और नये के बीच एक सेतु था, उनके उठ जाने से वह सेतु टूट गया है। यह भी कहा जा सकता है कि वैसा दूसरा व्यक्तित्व सामने आने की सम्भावना नहीं है। यह बात जितनी उनके व्यक्तित्व की स्तुति है, उतनी ही समकालीन समाज परिस्थिति पर टिप्पणी भी।

'दिनमान', 5 मई 1974

एक और सूर्यास्त

डॉ. बृजलाल वर्मा

दिनकर ने हिन्दी की आधुनिक काव्यधारा में अपनी काव्यतरणी को मनचाहे मोड़ दिये हैं। कभी भी उसे प्रवाहपतित नहीं होने दिया। इसीलिए रहस्यवाद, छायावाद, प्रयोगवाद, प्रयोगवाद की इयत्ताओं में उनका काव्य कहीं नहीं बँधा और न उनके काव्य में किसी प्रकार की प्रतिबद्धता ही दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपनी काव्य शैली के राजमार्ग के निर्माण हेतु स्वयं कंकड़ पत्थर डाले हैं, किसी बनी बनाई लीक पर वे नहीं चले, इसलिए कि वे शायर थे, इसलिए भी कि वे कायर नहीं थे।

चिन्तन की दार्शनिकता तथा कल्पना की भाव-प्रवणता जब दिनकरजी की लेखनी अथवा वाणी से निर्झरित होती थी तो पाठक और श्रोता विभोर एवं सराबोर हो जाते थे। काव्यात्मक प्रगल्भता का ऐसा मनोरम वैभव तथा उसमें ध्वनित दिनकरजी के आत्मविश्वास का ऐसा गौरव आज दुर्लभ है। लम्बा छरहरा कद, प्रलम्ब बाहु, गौरवर्ण, स्निग्ध प्रखर नेत्र, खादी की धोती और कुरता, कभी-कभी गले में श्वेत दुकूल की पट्टी, कभी मुक्त हास, कभी गम्भीर मुद्रा, हिन्दी के तत्सम शब्दों का बिहारी उच्चारण (प्रायः 'श' को 'स' की भाँति उच्चारित करना), अंग्रेजी और संस्कृत के ज्ञान की गहराई में आसीन उनकी कविता का दार्शनिक परिधान; यह कुछ मिलाकर हर व्यक्ति के लिये मनहर बन जाते थे। व्यक्तित्व के बहिरंग आयाम में इतना अवकाश नहीं था कि वह उनके अंतस की असीम मेधा व प्रतिभा को अपने में समाहित कर पाता। दिनकरजी की बुद्धि का विद्युत दाम सबको चौंधिया देता था। दिनकरजी का स्वाभिमान उनके विनय का प्रहरी था और उनका विनय उनके स्वाभिमान का कठोर नियंत्रक।

दिनकर अस्त हो गया, परन्तु उसकी दीप्ति ज्योति शेष है, जो निश्चय ही दीर्घजीवी है।

दैनिक जागरण, कानपुर, 5 मई 1974

हिन्दी के प्रबल समर्थक दिनकर जी

अशोक जी

कलकत्ते के 'विशाल भारत' में, सन् 1932 के करीब हिन्दी के तीन ओजस्वी कवियों पर एक लेख निकला था। जहाँ तक याद पड़ता है; ये थे दिनकर, मिलिन्द और सोहनलाल द्विवेदी। द्विवेदीजी की प्रसिद्ध कविता 'राणा प्रताप', मिलिन्द की 'उगता हुआ राष्ट्र' और दिनकर की गांधी जी के ऊपर एक कविता लेख में उद्धृत की गयी थी, जिसकी प्रारंभिक पंक्ति थी– चक्रपाणिता तज धोने को पाप पंक के परनाले ...विप्लव के झाड़ूवाले। उस समय गांधी जी ने हरिजन उद्धार का आयोजन छेड़ रखा था, इसलिए उनके 'झाड़ूवाले' के रूप में अवतार की कल्पना मौजूँ थी, किन्तु सोहनलाल और मिलिन्द की कविताओं के मुकाबले उस समय मुझे दिनकर की कविता हलकी लगी।

किन्तु दिनकर की प्रतिभा दिन पर दिन चमकती गयी और कालक्रम में वे मिलिन्द और द्विवेदी से कहीं आगे निकल गए। कारणों में मैं न जाऊँगा, किंतु मेरे मत से दिनकर की विशेषता यह थी कि हिन्दी के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवियों की भाँति वे बासी नहीं पड़े। शायद इसका कारण उनकी सतत साधना थी। दिनकर प्रायः अस्त होने तक मध्याह्न पर ही रहे। दिनकर जैसा पढ़नेवाला साहित्यकार मैंने कम ही देखा। वे हिन्दी के उन स्वनामधन्य साहित्यकारों में न थे जो पढ़ने से इस कारण कतराते हैं कि इससे उनकी मौलिकता पर जरब लगेगा।

दिनकर से मेरा परिचय बढ़ा, मेरे काशी के 'संसार' के संपादन काल में। उन दिनों (1940 से 50 तक) काशी की साहित्यिक गतिविधियाँ काफी तेजी पर थीं। रायकृष्ण दास उन दिनों काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सर्वेसर्वा थे और उन्होंने सभा में साहित्य, संगीत और कला की त्रिवेणी बहा दी। काशी में कोई भी साहित्यकार व कलाकार आता तो राय साहब उसे सभा में अवश्य बुलाते और गोष्ठी करते। अपने घर व भारतेन्दु भवन में भी वे इनकी पधरई करते। भारतेन्दु के कृति वंशज डॉ. मोतीचन्द्र और उनके अनुज काशी के प्रमुख राष्ट्रकर्मी चौधरी लक्ष्मीचन्द्र, भारतेन्दु की गुणग्राहकता और सहृदयता की परम्परा का निर्वाह कर रहे थे। चौधरी लक्ष्मीचन्द्र कर्मठता की मूर्ति थे और राय साहब के दाहिने हाथ थे।

राय साहब की विशेषता थी, और है, उदीयमान प्रतिभा को पूरा-पूरा प्रोत्साहन देना। दिनकर, यशपाल, अज्ञेय, नरेन्द्र शर्मा उनकी सहृदयता के साक्षी हैं। राय साहब का घर दिनकर जी का काशी में स्थायी डेरा बन गया। उनके 'कुरुक्षेत्र' काव्य का अवतरण (विमोचन नहीं) कराने के लिए उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक के घर पर विशेष गोष्ठी की। यह भी उनकी छोटों को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति का परिचायक था कि इस गोष्ठी के आयोजन के लिए उन्होंने मुझे चुना। हाँ, यह मैं कहना भूल गया कि इस समय काशी में एक और छोटी-सी संस्था साहित्य क्षेत्र में बड़ी सक्रिय थी – यह थी प्रसाद परिषद्। संस्था के सदस्य 30 से कम ही थे जिनमें अधिकांश युवा थे। इस पर रायकृष्ण दास, सम्पूर्णानन्द, श्रीप्रकाश और नंददुलारे वाजपेयी आदि का भी वरदहस्त था। यह गोष्ठी इसी परिषद् की थी और इसमें जहाँ तक मुझे स्मरण है, सम्पादक-प्रवर पराड़कर जी के अतिरिक्त आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द जी तथा श्रीप्रकाश जी मौजूद थे। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' के ओजमय पाठ से पूरी गोष्ठी को मंत्र-मुग्ध कर लिया, विशेषकर युधिष्ठिर की ग्लानि का अंश बड़ा ही मार्मिक था। द्वितीय विश्वयुद्ध अभी समाप्त ही हुआ था और संदर्भ में 'कुरुक्षेत्र' की रचना बड़ी सामयिक थी। इसका यह अर्थ नहीं कि वह केवल सामयिक थी, उसका स्थायी

मूल्य है।

दिनकर की समय के साथ चलने की क्षमता चीन-युद्ध के समय 'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी व्यक्त हुई। कहना अत्युक्ति न होगी कि दिनकर राष्ट्र के मूड को पकड़ लेते थे और उनकी वाणी में राष्ट्र की भावना मुखर हो उठती थी।

दिनकर के व्यक्तित्व का एक और पहलू, उनके राज्य सभा की सदस्यता के समय प्रकट हुआ। जिस समय दिनकर दिल्ली आये, उस समय वहाँ मैथिलीशरण गुप्त, नवीन, सेठ गोविन्ददास जैसे साहित्य महारथी मौजूद थे। अपने व्यक्तित्व के बल पर दिनकर इस मण्डली में सूर्य की भाँति चमकते थे। उनका निश्छल प्रेम और प्रोत्साहन उनको आगे बढ़ाने में सहायक हुआ। अपने ओजस्वी व्यक्तित्व के कारण दिनकर ने बहुत शीघ्र जवाहर लाल नेहरू का ध्यान आकृष्ट कर लिया। इसके बाद पंडितजी ने दिनकर को पोलैंड भारत के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप में भेजा। दिनकर की पैनी दृष्टि का यह प्रमाण है कि पोलैंड में कम्युनिस्ट व्यवस्था की फौलादी जकड़ से छूटने के लिए छटपटाते विद्रोही स्वर को उन्होंने पहचाना और पोलैंड से लौटकर उन्होंने वहाँ की साहित्यिक और सांस्कृतिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक स्थिति की नयी प्रवृत्तियों की भी चर्चा की। थोड़ी ही दिनों के बाद पोलैंड में व्यवस्था के विरुद्ध विस्फोट हुआ और दिनकर की पेशीनगोई सही उत्तरी।

कुछ लोगों ने दिनकर पर आक्षेप किया किंतु दिनकर की हिन्दी निष्ठा कितनी गहरी थी और हिन्दी पर अनुचित प्रहार के प्रतिरोध में वे कितने तत्पर थे, इसका प्रमाण शीघ्र ही मिला। इस प्रकरण से मेरा व्यक्तिगत संबंध है और पहली बार इससे सम्बन्धित बातों को मैं प्रकाश में ला रहा हूँ।

सन् 1962 के चुनाव में डा. केसकर के हार जाने के बाद श्री गोपाल रेड्डी केन्द्रीय सूचना प्रसारण मंत्रालय के मंत्री नियुक्त हुए। इस नियुक्ति का अनुमोदन राजधानी के, विशेषकर संसद के हिन्दी-प्रेमी सदस्यों ने किया था। डा. केसकर हिन्दी प्रेम के लिए प्रख्यात थे और नेहरू जी भी चाहते थे कि उनके स्थान पर हिन्दी का कोई हितैषी ही मंत्री नियुक्त हो, इसलिए उन्होंने इस नियुक्ति के विषय में संसद के हिन्दी नेताओं के मन की टोह ली थी। किंतु शीघ्र ही पता चल गया कि श्री गोपाल रेड्डी को पहचानने में हिन्दी वालों ने गहरी भूल की थी। मंत्री होते ही श्री रेड्डी ने हिन्दी-उर्दू को एक करने के नाम पर हिन्दी का उर्दूकरण आरंभ कर दिया। उनकी इस नीति का जिन अधिकारियों ने विरोध किया, वे उनके कोप के शिकार हुए। उन्होंने ठाकुर जयदेव सिंह और श्री रामचन्द्र टण्डन जैसे योग्य व्यक्तियों को निकाल बाहर किया। श्री नरेन्द्र शर्मा तथा मोहन सिंह सेंगर पर भी उनकी कुदृष्टि पड़ी। वह हिन्दी समर्थकों को 'हिन्दी-फैनेटिक' कहकर व्यंग्य किया करते थे।

इन पंक्तियों का लेखक उस समय केन्द्रीय सूचना विभाग का अधिकारी था। अधिकारियों की एक बैठक में श्री रेड्डी ने अपनी उर्दूकरण नीति का समर्थन करते हुए 'हिन्दी-फैनेटिक' लोगों पर आक्रोश व्यक्त किया। माननीय संसद सदस्यों को उनके पीठ पीछे गाली देने का प्रतिवाद इस जन ने किया और इस कारण उनके रोष का लक्ष्य हुआ। उस समय उनके उपमंत्री और उर्दूकरण में सहायक दिल्ली के लाला श्यामनाथ थे, जो उर्दू और ह्रासोन्मुख दिल्ली की मुगलिया कल्चर के हामी होने के कारण मुगलिया अग्रवाल कहे जाते थे। उस समय श्री रेड्डी की कुचेष्टा का डटकर विरोध करने वाले संसद सदस्यों में दिनकर जी अग्रणी थे। तर्क और तथ्य प्रस्तुत करने में उन्होंने मेरी सहायता ली, पर उनकी ओजस्वी वाणी के बिना तर्क और तथ्य व्यर्थ होते। दिनकर जी के नेतृत्व में संसद के हिन्दी-प्रेमी सदस्यों का जो प्रबल विरोध संगठित हुआ उससे नेहरू जी भी विचलित हुए और उन्होंने रेडियो की हिन्दी नीति की समीक्षा करने के लिए एक समिति नियुक्त की। हिन्दी के एक स्वनामधन्य कवि, जो श्री रेड्डी की हिन्दी-विरोधी नीति की खिल्ली उड़ाया करते थे, किस प्रकार बाद में सलाहकार नियुक्त हाने पर पलटी खा गये, उसकी अलग कहानी है। किंतु श्री रेड्डी अधिक खुराफात कर सकें, इसके पूर्व ही कामराज योजना में उनका पत्ता कट गया और उनके स्थान पर हिन्दी के परम हितैषी श्री राजबहादुर नियुक्त हुए। इस परिणति का श्रेय सबसे अधिक यदि किसी को दिया जा सकता है तो दिनकर जी को; यद्यपि लोगों का ऐसा संदेह है कि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की ही भाँति उनको भी हिन्दी के इस प्रबल समर्थन के कारण मंत्री पद से वंचित रहना पड़ा।

दिनकर जी से मेरा जो प्रगाढ़ प्रेम था, उसकी चर्चा करना यहाँ उचित न होगा। मैं कृतज्ञतापूर्वक इस बात को स्मरण करूँगा कि उन्होंने हिन्दी के एक प्रमुख दैनिक के सम्पादक का पद मुझे ऑफर किया और इसके बाद देश के एक प्रमुख पत्र-प्रकाशक को सुझाया कि मैं उनके नये निकलने वाले पत्र का सम्पादक बनाया जाऊँ। भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार के रूप में दिनकर जी ने अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में सरकारी कामकाज में हिन्दी को बढ़ाने की चेष्टा की। इस विषय में भी वे बराबर मुझे स्मरण करते रहे, यद्यपि परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल थीं कि अन्त में उनको हार माननी पड़ी। इसी समय उनके ऊपर उनके ज्येष्ठ पुत्र की अकाल मृत्यु का वज्राघात हुआ, जिससे उनकी कच्ची गृहस्थी का भार उनके कंधों पर आ पड़ा। दिनकर का स्वर्णशैलाभ शरीर रोग के आक्रमण से अंदर से खोखला हो चुका था। मन भी उनका विषण्ण हो उठा था। इसी समय एक बार कुशल-क्षेम पूछने पर उन्होंने कहा कि 'मित्र मैं हारी हुई लड़ाई लड़ रहा हूँ। डाइबिटीज और एन्जाइना, दोनों ही मुझे मृत्यु की ओर ढकेल रहे हैं।' इसके बाद दिनकर बहुत दिन न जिये।

(श्री अशोक जी 1974, में 'स्वतंत्र भारत' के संपादक थे)

ऊर्मिकाव्यात्मकता

उमाशंकर जोशी

दिनकरजी का प्रथम दर्शन स्वराज मिलने के बाद बम्बई में दद्दा (मैथिलीशरण गुप्त) और रायकृष्णदास के साथ हुआ था। दद्दा के सम्मान के प्रसंग पर हम सब उपस्थित थे। दिनकरजी की ऊँची गौर आकृति, दाँत के बीच स्वभाव के भोलेपन की सूचक जगह, आँखों में कुछ ढीठताभरी चमक -उनके व्यक्तित्व से तुरन्त मैं आकर्षित हुआ।

सुनने का मौका मिला अहमदाबाद में। कॉलेज के समृद्ध काव्य-भंडार का कुछ आत्मीय-सा परिचय मिला। छात्रों के समक्ष उन्होंने 'रश्मिरथी' के बड़े हिस्से का पाठ किया।उस समय उनकी कविता की लाक्षणिक, ओजस्विनी और ओजवती शैली का परिचय हुआ।

हम घर पर बैठे थे। उनकी कालीयमर्दन विषयक कृति में कृष्ण कालीय को 'तू तान-तान...' कहकर फणामण्डल को कितना ही फैलाने को आह्वान देते हैं। कुछ साल पहले बंगलौर में कन्नड़ कवि पुट्टप्पा के घर पर सुने हुए उनके गीत की बात मैं कर रहा था। पुट्टप्पा का कालीय बोलता है, "कृष्ण नृत्य करो, और नृत्य करो, पदघात से मेरी अहंता को विगलित करो।" भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में कई एक से विषय पाए जाते हैं, लेकिन प्रस्तुतीकरण में जोर देने के ढंग में रुचिकर वैभिन्य पाया जाता है।

कई गोष्ठियों में, खास करके साहित्य अकादमी की, दिनकर जी से मिलने का अवसर मिलता था। उनसे ज्यादा परिचय हुआ, कहने में संकोच होता है, विदेश में। 1961 के अक्टूबर में पाँच भारतीय लेखक सोवियत रूस के अतिथि बने। उसमें हम दोनों थे। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। विदेश में भी प्रभात में अपनी पूजा वगैरह नियमित करते रहते थे। उन तीन सप्ताह का खास स्मरण चित्त में रह गया है। मोटर से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने-आने के समय में दिनकर जी के मुँह से सैकड़ों उर्दू कविता की पंक्तियाँ मुझे सुनने को मिलीं। हिन्दी के एक अग्रिम कवि के माध्यम से उर्दू के दिनकर जी स्पष्ट वक्ता थे और बातचीत में कभी-कभी राष्ट्र की घटनाओं की आलोचना तीक्ष्ण दृष्टि से करते रहते थे। दिनकर जी अपनी ऊँचाई पर मगरूर नहीं थे। वे इतिहास की विभूतियों का स्मरण कराने लगते थे-नेपोलियन देखो, पंडित जवाहर लाल देखो। (मैंने सुर मिलाया, कन्हैयालाल मुंशी देखो।)

बातचीत की अनिर्बन्ध आत्मीयता में उनके व्यक्तित्व के मुख्य पहलू आलोकित हो जाते थे। एक बार कुटुम्ब के बारे में बात निकली। अपने एक बड़े पुत्र के बारे में उनके मुँह से जो सरल उद्‌गार निकले, बहुत हृदयस्पर्शी थे-"हमारा ठीक नहीं जम पाया। लेकिन आखिर वह मेरे पास आया।" उस क्षण उनके चेहरे पर जो यातना और सन्तोष से मिश्रित प्रेमदीप्ति थी, मैं कभी भूल नहीं सकता। दिनकर जी का अन्तिम पत्र मेरे पास पौत्री के विवाह के अवसर पर शुभेच्छा -संदेश के रूप में लिखा हुआ है। आधुनिक हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न छायावादी कवियों के बाद आने पर भी दिनकर जी ने अपनी लाक्षणिक शक्ति से अपना अनोखापन दिखा दिया। कथनात्मक और नाट्यात्मक कविता का क्षेत्र अपनाते हुए भी उनकी सिद्धि के मूल में उनकी एक विशिष्ट ऊर्मिकाव्यात्मकता दिखाई देती है, जो हिन्दी भाषा के, बल्कि भारतीय कविता के कीर्तिमंदिर में उनके लिए हमेशा का एक अपना स्थान बनाये रखेगी।

(लेखक को ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ था)

दिनकर : जाने के बाद

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

दिनकर जी अब नहीं रहे। विश्वास करने को जी नहीं चाहता, पर यही सत्य है। वे सही अर्थों में दिनकर थे – तेजःपुंज! लगभग पैंतालीस वर्ष पहले मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य मिला था। तब से उनकी मैत्री पाने का सौभाग्य रहा है। यह मैत्री निरन्तर प्रगाढ़ होती गई। उनके समान तेजस्वी क्वचित् कदाचित् ही धरती पर आते हैं। वे जितने उच्च कोटि के कवि थे उतने ही बड़े विचारक और वाग्मी भी। गद्य और पद्य दोनों के वे सव्यसाची थे। भगवान् ने उन्हें जैसी वाणी की सम्पत्ति दी थी वैसा ही चारुदर्शन भव्य रूप दिया था। वह ओजस्वी वाणी और भव्य रूप इस नश्वर जगत् से हमेशा के लिए चला गया।

इतना सहज प्रेममय उनका हृदय था कि कभी-कभी उनकी सरलता पर आश्चर्य होता था, पर अन्याय देखकर वे दीपशिखा के समान जल उठते थे। हिन्दी के विरुद्ध षड्यन्त्रों से वे सचमुच जल उठते थे। मुझे याद है कि एक बार भाषा आयोग में एक श्रद्धेय विद्वान् की अनुचित बातों का विरोध करने के लिए कितने प्रदीप्त हो उठे थे। विरोध मैंने भी किया था पर दिनकर तो एकदम अग्निशिखा हो उठे थे। लेकिन उसके पहले भी और बाद में भी वे श्रद्धेय को श्रद्धा देने में रंचमात्र नहीं झिझके थे। सच तो यह है कि उन्हें बाद में अपनी कही बातों के लिए पश्चाताप भी हुआ था। उनका हृदय 'मृदु प्रकृत्या चलसारमेव च' का प्रत्यक्ष रूप था। कभी आवेग में आकर वे कड़ा बोल जाते थे तो बाद में दुखी भी होते थे। एक प्रसंग में वे बाद में इतने खिन्न हुए कि अपनी डायरी में लिखा था –

हे नेदिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे दविष्ठ, तुमको प्रणाम है, हे क्षोदिष्ठ तुमको प्रणाम है। हे महिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे वर्षिष्ठ, तुमको प्रणाम है। हे जोविष्ठ, तुमको प्रणाम है। कल सुबह जो दुर्वचन मुख से निकला, उसका परिताप आज सारा दिन जलाता रहा। मरने के करीब आ गया हूँ किन्तु, वाणी का संयम अब भी अधूरा है। क्यों ऐसी बात बोलना, जिसके लिए अपने आपको इतना अधिक दण्ड देना पड़े?

दिनकर ब्रिटिश शासनकाल में सरकारी नौकर थे। परन्तु नौकरी उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति में कभी बाधक नहीं बनी। वे उस समय भी अन्याय के विरुद्ध बोलने की शक्ति रखते थे और बाद में स्वाधीनता के समय भी सरकारी नौकरी करते समय हमेशा उन बातों का डटकर विरोध करते थे जिन्हें अनुचित समझते थे। एक धारणा बन गई थी कि 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखकर वे सरकार के कोप भाजन बने थे। इस धारणा के बारे में मैं कुछ कह नहीं सकता परन्तु मैंने स्वयं देखा है कि एक शक्तिशाली की हिंदी-विरोधी नीति का कड़ा विरोध उन्होंने किया था जिसकी शिकायत पंडित जी तक पहुँचाई गई थी। हिन्दी के प्रश्न पर वे सदा दृढ़ रहे पर उनके तर्क सदा कटुता से दूर और यथार्थवादी होते थे। वे अहिंदी भाषी जनता में भी बहुत लोकप्रिय थे क्योंकि उनका हिंदी प्रेम दूसरों की अपनी मातृभाषा के प्रति श्रद्धा और प्रेम का विरोधी नहीं था, बल्कि प्रेरक था।

यहाँ हिंदी के बारे में जो कहा गया, उससे यही नहीं समझना चाहिए कि वे केवल हिन्दी के प्रति किए गए अन्यायों के विरोध में ही अपनी शक्ति लगा देते थे। उनका विरोध उन सब नीतियों से था जो उन्हें अनुचित लगती थीं। कभी-कभी मुझे उनकी मान्यताओं का विरोध करने का अवसर भी मिला था – व्यक्तिगत रूप से। परन्तु मैंने सदा पाया कि उनका मत तर्कपूर्ण सुचिन्तित होता था। उनके मत से सहमत न होने वाला भी उनके विचारों की सच्चाई से प्रभावित होता था।

अवस्था में वे मुझसे थोड़े ही छोटे थे, पर आदर सदा बड़े भाई का देते थे। उनका हृदय बहुत शिष्ट और उदार था। कर्तव्यवश कड़ी बात कह जाते थे पर सदा कटुता धो देने को तत्पर रहते थे। भाषा आयोग में एक-बार मुझे लगा कि वे सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं। यद्यपि मुझे वे सम्मान देते थे और हमारे सम्बन्ध इतने मीठे थे कि किसी बात पर उन्हें कुछ कह सकने की मुझे पूरी स्वतंत्रता थी। पर मेरे मन में उनके प्रति बहुत सम्मान का भाव था इसलिए कुछ कहने के पूर्व में कई प्रकार से बात को हल्की बना देने की तैयारी कर लेता था। इंगित अवश्य समझ लेते हैं, ऐसा मेरा विश्वास था। उस दिन शाम को मैं उनसे कहना चाहता था कि वे कुछ अनुचित कह गए हैं। कैसे कहूँ यही सोच रहा था। वे जब मिले तो बहुत प्रसन्न थे। मुझसे आते ही पूछा क्या सोच रहे हैं। मैंने कहा – *हिसाब लगा रहा हूँ।* प्रसन्न भाव से उन्होंने पूछा, *काहे का हिसाब?* मैंने कहा कि *भर्तृहरि जी ने कहा कि जब आदमी विवेक से भ्रष्ट हो जाता है तो उसका शतमुख विनिपात होता है। मैंने हिसाब लगाकर देखा है कि मेरा अड़तीस मुख विनिपात हो चुका है, आपका कितना मुख हुआ है? –मेरा अनुमान है कि अभी एकमुख ही हुआ है। या शायद उतना भी न हुआ हो।* दिनकर जी ठठाकर हँसे। बोले, *दूसरी ही बात ठीक है। मेरे हिस्से विधाता ने विवेक दिया ही नहीं। इसलिए हिसाब लगाने की जरूरत ही नहीं। हो तब न भ्रष्ट होने का प्रश्न उठेगा।* मगर वे इशारा समझ गए। उनका चेहरा वैसा ही सहज-प्रसन्न बना रहा। उन्होंने सहज भाव से स्वीकार किया कि उनसे सचमुच गलती हो गई थी। हाय, वह उल्लसित सहज मुख अब देखने को नहीं मिलेगा।

उन्होंने हिन्दी साहित्य को दो दर्जन से अधिक अमूल्य ग्रंथ दिए हैं जिनमें आधे गद्य हैं। 'उर्वशी', मेरी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ देन है। स्वयं दिनकर जी ने कहीं कहा है कि उन्हें ऐसा लगता है कि काव्य पहले से लिखा पड़ा था, उन्हें मिल गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वयं कवि इसे दैवी प्रेरणा का ग्रंथ मानता है। दिनकर जी का तत्व-चिन्तन इस काव्य में सशक्त भाषा में सहज प्रवाह के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने कहा है – *काम के प्रति संतों की दृष्टि निषेधात्मक रही है। शारीरिक कृत्य का तो निषेध है ही, सन्त मानस चित्रों का भी निषेध सिखाते हैं। इससे शरीर और मन की एकता का भंजन होता है। वास्तव में शरीर का ही एक अंश है। ... ईश्वर और प्रकृति, इन दोनों के बीच प्रतियोगिता नहीं है कि मनुष्य एक को ग्रहण करे और दूसरे को त्याग दे।... शरीर का काम, संयत काम, सामाजिक मर्यादा को मानकर एक घाट पर बहने वाला काम पाप नहीं है। पाप वह तब हो जाता है, जब काम मन को अपने वश में कर लेता है और मन शरीर को हाँकने लगता है, जबर्दस्ती हाँकने लगता है। तन का काम अमृत है, लेकिन मन का काम गरल है।*

आनन्दातिरेक प्रकृति का धर्म होना चाहिए। जब यह आनन्द जीवन के अन्य क्षेत्रों में नहीं मिलता, तब मनुष्य बलपूर्वक, इच्छापूर्वक उसकी खोज काम में करने लगता है। यही पाप है।...उर्वशी में जितना कहा गया है, उससे शायद कुछ अधिक कहा जाना चाहिए था। लेकिन उस अकथ्य की भाषा उर्वशी के पास नहीं है, क्योंकि वह मेरे पास नहीं है। मैं सिर्फ यह इंगित करना चाहता था कि प्रकृत जीवन बिताकर भी आदमी सन्त हो सकता है। अगर आपको मुझ पर विश्वास नहीं हो, तो कनफ्यूसियस का विश्वास कीजिए। वे भी मानते थे कि जो और कुछ न करके, प्रकृत जीवन बिताता है, वह भी सन्त है।

मस्ती दिनकर जी का स्वभाव भी थी, जिन्दगी भी। आनन्दोल्लास से वे सदा प्रफुल्ल दिखाई देते थे। बीमारी के कारण अन्तिम वयस में उनका देवोपम शरीर क्षीण होने लगा था। तिस पर वाम विधाता ने उनके ऊपर पुत्रशोक का दारुण आघात दिया। पारिवारिक चिन्ताओं से वे परेशान लगने लगे थे। कभी-कभी वे निराश स्वर में बोलने लगते थे। इधर जब-जब उनसे मिलने का अवसर मिला वे चिन्तित ही दिखे। भीतर से टूटने लगे थे, पर आनन्द का उत्स कभी भी नहीं सूखा। दिनकर जी के समान वाग्मी भी कम ही होते हैं। साधारण तथ्यों से भी वे बड़ा संदेश प्रेषण कर देते थे। उनकी तेजस्विता सदा विद्यमान रहती थी। उनके अभाव की पूर्ति करने वाला कोई नहीं दिखाई देता। हिन्दी भाषा उन्हें पाकर धन्य हुई थी, खोकर शोचनीय हो गई है।

दिनकर अस्त हो गया। जिन्होंने भेजा था, उन्होंने ही बुला लिया। क्या कहा जाय!

आग से गुजरना

बालस्वरूप राही

दिनकरजी की कविताओं में विचारों और विचारमयी अनुभूतियों की आँधी है। आँधी नहीं, लपट। उनकी कविताएँ पढ़ना आग में से गुजरने जैसा काम है। धीरे-धीरे यह आग धमनियों में पहुँच जाती है और भीतर कुछ खौलता हुआ महसूस होता है। और आप इस बुनियादी सवाल के सामने जा खड़े होते हैं, 'पापी कौन? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला? या कि न्याय खोजते...?' अब कैसे यह तय किया जा सकता है कि यह सवाल आज का है या कल का, सामयिक है कि सनातन? इसीलिए तो महसूस होता है कि कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं, जो हमें परम्परा और समकालीनता के झगड़े को भूल जाने पर बाध्य कर देती हैं।

उन्होंने परवर्ती पीढ़ियों पर अपने कवित्व और व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़ी। वह पुरुष कविता के अन्यतम कवि थे। स्त्रैण कविताओं के बीच घिरे होकर भी उन्होंने पुरुषत्व की कविताएँ लिखीं; अतः नयी पीढ़ी उनकी ओर बड़े उत्साह और प्रेरणा से देखने लगी।

उन्होंने कविता को बौद्धिक विलास का साधन कभी नहीं माना। आम आदमी से सीधे बातचीत की। वह जीती जागती मिसाल हैं कि समाज उसी से प्रभावित होता है, जो समाज से प्रभावित होता है। साहित्य क्षेत्र में उपलब्धियों के तथाकथित झंडे भले ही बहुत-से कवियों ने गाड़ लिये हों, जनसमाज का जैसा मान और प्यार उन्हें मिल पाया, वैसा कितने महान कवि पा सके? दिनकरजी उपलब्धियों के शिखर चढ़ते गये, लेकिन आम आदमी से उनका रिश्ता कभी नहीं टूटा।

'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 19 मई 1974 से

राष्ट्रवीणा का ओजस्वी स्वर

प्रो. विजयेन्द्र स्नातक

हिन्दी प्रदेशों में कविता के माध्यम से जन-जागरण और क्रान्ति उत्पन्न करने वाले कवियों में दिनकर का स्थान अग्रणी है। महात्मा गांधी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन के समय जो कवि अपनी ओजस्वी वाणी को राष्ट्रीय उत्थान के लिए प्रयुक्त कर रहे थे, दिनकर उनमें अग्रणी थे। जब कभी हिन्दी की राष्ट्रीय कविता का इतिहास लिखा जाएगा, दिनकर की कविताओं से उसका कलेवर निर्मित होगा। दिनकर शुद्ध अहिंसावादी सत्याग्रही व्यक्ति नहीं थे। अपनी मान्यताओं के अनुकूल उन्होंने परतंत्रता के पाश छिन्न-भिन्न करने के लिए अतीत गौरवगान के साथ वीर रस की शौर्यपूर्ण रचनाओं का मार्ग अपनाया था।

कविवर दिनकर ने लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी साहित्य के भंडार को विविध विधाओं द्वारा भरने का प्रयत्न किया। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इतिहास, संस्कृति, कविता और दर्शन उनके प्रिय विषय थे। इसके अतिरिक्त भाषण कला में भी वे दक्ष थे। अपने ओजस्वी भाषणों से उन्होंने जन-जागरण का सराहनीय कार्य किया था। लेखनी और वाणी पर उनका समान अधिकार था। जिस किसी सभा-समारोह में दिनकर बोलते तो ऐसा लगता कि शार्दूल दहाड़ रहा है। उत्साह और जोश से भरी हुई उनकी वर्चस्वी वाणी आज भी प्रतिध्वनित होती हुई प्रतीत हो रही है।

दिनकर ने हिन्दी काव्य क्षेत्र में जब पदार्पण किया, उस समय दो प्रकार की विचारधाराएँ कविता में प्रवाहित थीं। छायावादी रोमानी कविता के पैर जमे हुए थे। उस समय के प्राणवान कवि छायावादी शैली में प्रेम, शृंगार, प्रकृति, नारी तथा रहस्योन्मुखी रचनाओं से हिन्दी काव्य को समृद्ध बना रहे थे। दूसरी धारा के कवि वे थे जिनके भीतर राष्ट्रीयता की भावना हिलोर मार रही थी और जो देश प्रेम की मस्ती में राष्ट्रीय कविताएँ लिख रहे थे। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, सनेही आदि कवियों ने जन-जागरण तथा विदेशी शासन के विरोध में काव्य सृजन कर युगानुकूल धारा बहाई थी। दिनकर इसी धारा के कवि थे किन्तु उनकी कविता में एक ऐसी इन्द्रधनुषी छवि थी कि इन कवियों के साथ उन्हें एक पंक्ति में नहीं बिठाया जा सकता। यदि क्रान्ति को आधार माना जाय तो दिनकर ने राष्ट्रीय काव्यधारा को नई गति, नई चेतना, नया प्रवाह, नया ओज, नई क्षमता और नया रूप प्रदान किया था। इसीलिए दिनकर अनुकरण करने वाले कवि न होकर अपना नया स्वतंत्र मार्ग बनाने वाले कवि थे। वे स्वयं अनुरणेय हो गये थे।

दिनकर को अपने जीवन में लगभग सोलह वर्ष सरकारी नौकरी करनी पड़ी। इन सोलह वर्षों को वे अपने जीवन की कठिन-कसौटी कहते थे। दो वर्ष के लगभग हिन्दी-प्रोफेसर भी रहे किन्तु उसे उन्होंने सरकारी नौकरी होने पर भी नौकरी नहीं माना। वे कहते थे कि मुझे कविता लिखने का मौका मिला ही नहीं। दिन भर सरकारी फाइलें पीटने के बाद भी क्या कविता के लिए कोई जीवनी शक्ति शेष रह सकती है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'जब अफसर लॉन में टेनिस का आनन्द लेते थे, मैं बन्द कमरे में कविता की पंक्तियाँ जोड़ता था।' सचमुच यह देश का बड़ा दुर्भाग्य ही है कि इतने महान् कलाकार को जीविका के लिए वह करना पड़ा जिसे वह स्वप्न में भी नहीं करना चाहता था। अंग्रेज अफसर तो सदैव रुष्ट ही रहे। चार साल में चौबीस बार इनका ट्रांसफर किया - परेशान किया कि कविता लिखने का धंधा

छोड़कर सरकारी नौकरी में वफादारी का सबूत दें। लेकिन दिनकर ने आत्मा की आवाज ही सुनी - अफसरों की आवाज को एक कान से सुनकर दूसरे कान निकाल दिया। रेणुका, हुंकार, द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, बापू, रसवन्ती जैसी श्रेष्ठ कृतियाँ सरकारी नौकरी के समय ही लिखी गईं। कौन कह सकता है कि जिन परिस्थितियों में कवि ने इनकी रचना की होगी, वे स्थितियाँ विषमता और प्रतिकूलता की चरम सीमा न रही होंगी। विस्मय तब और अधिक होता है कि दिनकर को परिवार-पोषण के लिए जीविका की सख्त जरूरत थी और नौकरी से निकाले जाने का पूरा भय था फिर भी वे अपने को अनल किरीट धारण करने वाला आलोक-धन्वा कवि कहने का साहस रखते थे -

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौरमंडल का,
मेरा शिखण्ड अरूणाभ, किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे
किरणों में उज्ज्वल गीत गुंथे हैं मेरे।

हिन्दी कविता को नया मोड़ देने के लिए एक सरकारी नौकर जो प्रेरणादायक प्रयत्न कर रहा था उसका मूल्यांकन आज हम तटस्थ भाव से कर सकते हैं। न तो आज विदेशी शासन है और न विदेशी शासन को ललकारने और झकझोरने वाला शार्दूल कवि ही जीवित है। 'हिमालय' कविता में दिनकर ने नवयुवकों के आक्रोश को वाणी दी थी- ऐसी वाणी जो हिमालय की गगन स्पर्शी चोटियों से लेकर समुद्र की अतल गहराइयों तक गूँज उठी थी। उस तेजोदीप्त वाणी के स्वर में युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन का अजेय पराक्रम हुंकार उठा था। 'दिल्ली' शीर्षक कविता में तत्कालीन दिल्ली का जो रूप कवि ने अंकित किया वह इतना सटीक था कि दिल्ली का अतीत और वर्तमान अपनी सम्पूर्ण विषमता में साकार हो उठा था।

दिल्ली आह! कलंक देश का,
दिल्ली आह! ग्लानि की भाषा,
दिल्ली आह मरण पौरुष का
दिल्ली छिन्न-भिन्न अभिलाषा।

दिनकर ने भाषा के माध्यम से शाप और शर का प्रयोग किया था। ऐसा प्रखर प्रयोग संभवतः उस समय माखनलाल चतुर्वेदी के सिवाय और कोई कवि नहीं कर सका था। 'कोकिल और कैदी' शीर्षक कविता में चतुर्वेदी ने जिस स्वर का संधान किया था वही स्वर दिनकर का प्रिय स्वर था। उसी स्वर को पंचम तक पहुँचाने का श्रेय दिनकर को है।

दिनकर केवल कवि ही नहीं, उच्चकोटि के मनीषी और विचारक भी थे। 'कुरुक्षेत्र' में युद्धदर्शन को उन्होंने विचार के स्तर पर प्रस्तुत कर अपने वैदुष्य का अच्छा परिचय दिया है। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर कवि दिनकर के आभ्यन्तर संवाद के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं और उनके विचार-विमर्श को ही काव्य भाषा में प्रस्तुत करते हैं। जीवन की उन समस्याओं पर गहरे उतरकर दिनकर ने कुरुक्षेत्र में विचार किया था जो उस युग में अहिंसा, शान्ति, विश्व प्रेम और मैत्री की पुकारों के बीच भी हिंसा, युद्ध और शत्रुता को बढ़ावा दे रही थीं। दिनकर ने एक प्रश्न उठाया था - ऐसा प्रश्न जो आज भी उठाया जाना चाहिए। अर्थात् रण को कौन बुलाता है और जो बुलाता है उसके लिए विश्व के न्यायालय में दंड की क्या व्यवस्था है। दिनकर ने ललकार कर कहा था -

चुराता न्याय जो,
रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर! स्वत्व की
अन्वेषणा पातक नहीं है।

दिनकर ने युद्ध और शान्ति की समस्या ही नहीं- और भी ऐसी अनेक समस्याएँ उठाई थीं जो मानव जाति के सामने प्रश्न चिह्न बनकर खड़ी रहती हैं। दिनकर मानवधर्मी कवि थे। मानव-समाज के कल्याण की प्रत्येक प्रक्रिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखना उनका स्वभाव बन गया था। आस्था और विश्वास खोकर किसी अंधी गली में भटकने के लिए उन्होंने मानव को प्रेरित नहीं किया था। अवचेतन और अचेतन की गहन गुफा में टोह लगाना उनके स्वभाव में नहीं था। 'कुरुक्षेत्र' में शंकाओं का अम्बार लगा देने के बाद भी उन्होंने आस्था विश्वास का सम्बल हाथ से नहीं जाने दिया था।

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से,
स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

'संस्कृति के चार अध्याय' नामक अपने गहन चिन्तन-मनन पूर्ण ग्रंथ में उन्होंने भारतीय संस्कृति की दीर्घकालीन यात्रा का शोधपरक दृष्टि से संधान किया है। एक कवि के द्वारा यह अनुसंधान इतना विस्मयकारी लगता है कि संस्कृति के साथ-साथ भारतीय समाज के निर्माण, पुनर्निर्माण, जागरण, पुनर्जागरण का पूरा लेखा-जोखा इसमें समाया हुआ है।

कवि दिनकर ने हिन्दी कविता को राष्ट्रीयता का स्वर ही नहीं दिया वरन् उन्होंने कलाकार के दायित्वों को अपने समकालीन कवियों तथा रचनाकारों को बोध भी कराया था। जनसाधारण की उपेक्षा करने वाले कलाकार को उन्होंने कभी वरीयता नहीं दी। उनकी दृष्टि में जनता की उपेक्षा करने वाला कवि या लेखक डिक्टेटर के सदृश ही जनता से दूर होता है और उसे चिरकाल तक स्वीकार नहीं किया जा सकता। दिनकर की काव्य चेतना निषेध से स्वीकृति, अकर्मण्यता से कर्मठता और स्वप्न से सत्य की ओर अग्रसर हुई थी। पहले कवि दिनकर भाव प्रवण थे, फिर विचार प्रवण हुए, फिर आगे चलकर प्रचंड तेज के साथ युद्ध की स्वीकृति देकर क्रोधानल में आहुति की भाँति जलने लगे। उसके बाद जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँचकर उन्होंने अध्यात्म और दर्शन की ओर ध्यान लगाया। कहने का तात्पर्य यह कि दिनकर केवल गीत लिखने वाले कवि

या भाषण देने वाले व्याख्याता ही नहीं बने रहे, बल्कि बलिदानी वीर पुरुष के समान कर्म और प्रेरणा को मिलाकर विचार सागर में गहरे उतरते चले गये। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि ने कोरी कल्पना ही नहीं व्यक्त की थी वरन् भारतीय जनता के हृदय की आकुल पुकार उस कविता की पंक्ति-पंक्ति से गूँज रही है। चीनी आक्रमण के बाद जब पाकिस्तान का दूसरा आक्रमण भारत पर हुआ तो 'परशुराम की प्रतीक्षा' कविता कर्म की भूमि पर साकार हो उठी थी।

संक्षेप में, दिनकर सच्चे अर्थों में नवजागरण के अग्रदूत, क्रान्ति के चरण, युगप्रहरी साहित्यकार थे। राष्ट्रहित के लिए बांसुरी छोड़कर पांचजन्य उठाने का उनमें भरपूर साहस था। उनकी रचनाओं में उनके विराट व्यक्तित्व के बीज सहज ही खोजे जा सकते हैं। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म, 'रश्मिरथी' के कर्ण, 'परशुराम की प्रतीक्षा' के परशुराम और 'उर्वशी' के पुरुरवा में दिनकर के व्यक्तित्व का अंश उनके यशः शरीर के साथ सदैव जीवंत रहेगा। दिनकर ने कविता की भूमि पर पहुँचकर दर्द और बेचैनी, कष्ट और यातना, शोषण और दमन तथा वासना और रुधिर के उत्ताप को पहचाना था। इसी रूप में दिनकर, महाकवि दिनकर और राष्ट्रकवि दिनकर बने थे। आज उनकी ओजस्वी वाणी का स्वर मौन हो गया है किन्तु उनकी काव्य-वीणा की गूँज और अनुगूँज सर्वत्र व्याप्त है। वर्तमान राष्ट्रीय महासंकट के समय दिनकर की वाणी का वर्चस्व अपेक्षित है। उन्होंने इस महान् राष्ट्र की राष्ट्रीयता और भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए जो कार्य किया वह इस देश के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। हमारा अमिट विश्वास है कि सहस्त्राब्दियों तक जन-मानस में उनका संदेश व्याप्त रहेगा और संकट की बेला में वह हमारा पथ-प्रदर्शक होगा।

एक विराट व्यक्तित्व : दिनकर

सेठ गोविन्ददास

दिनकर जी ने प्रसाद गुणों से परिपूर्ण विपुल परिमाण में साहित्य रचना की है। उनके साहित्य का समादर हुआ है और वे उच्चकोटि के सृजनकर्ता माने जाते हैं। उनके साहित्य में क्या कैसा है, यह प्रबुद्ध पाठकों और मर्मज्ञ समीक्षकों का विषय है, किंतु यदि दिनकर जी के साहित्य के विषय में मुझे कुछ भी कहना अनिवार्य हो तो केवल इतना कहूँगा कि उन्होंने इस तथ्य को सामने रखकर कि दिनकर रूपी भौतिक अस्तित्व का तो एक न एक दिन अवसान होना है, पर दिनकर के नाम और उसके सार्थक प्रकाश का अस्तित्व बना रहे, अपने साहित्य का सृजन किया है। अपने इस उद्देश्य में वे पूर्ण सफल रहे हैं। दिनकर आज अस्त हो चुके हैं पर आज और आइन्दा उनका साहित्य कालजयी रूप में, काल की सीमा, काल की परिधि से बाहर अक्षय और प्रकाशित रहने वाला है।

दिनकर जी के व्यक्तित्व के जिस सर्वाधिक प्रबल पक्ष ने मुझे प्रभावित किया, वह था उनका निष्ठावान, तेजस्वी रूप जिनके व्यक्तित्व की तेजस्विता न केवल उनके आचार-विचार, व्यक्तिगत व्यवहार तक सीमित थी अपितु उनका सारा साहित्य इस तेजस्विता से परिपूर्ण था। उनके व्यक्तित्व के इसी पक्ष ने सम्भवतः हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेंद्र को प्रभावित किया और इसीलिए नगेंद्र जी ने दिनकर जी के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए नीचे लिखे कुछ वाक्यों में उनके मेधावी और विराट व्यक्तित्व की विवेचना की। नगेंद्र जी के शब्दों में:-

हिंदी साहित्य में कोमल और मधुर भावना के अमर कवि अनेक हैं, परंतु विराट भाव को अपने पौरुष दीप्त स्वरों में बाँधने वाले कवि प्रसाद और निराला के बाद मुश्किल से नजर आते हैं। दिनकर का गौरव यह था कि उनको विराट और कोमल पर समान अधिकार प्राप्त हुआ।

हिंदी साहित्य में जिन नौ रसों की कल्पना की गई है उनमें कोमल (करुणा) रस के बिना कवि की कल्पना ही संभव नहीं है। अतः मानना होगा कि कोमल भाव से प्रेरित और अनुप्राणित होकर ही कवि अपने काव्य सृजन में प्रेरित और तत्पर होता है। किंतु जिस कवि में महत् अथवा विराट भाव की अनुभूति हो जाय फिर तो उसके काव्य, उसकी रचना का कहना ही क्या! अणु और विराट, इन दो धुरियों पर ही तो इस जगती का चक्र चल रहा है। जिसके चिंतन में सूक्ष्म और स्थूल, अणु और विराट आ जाता है वह ब्रह्म-साक्षात्कार की क्षमता से भर उठता है और फिर यदि ऐसा व्यक्ति लेखक हो, कलाकार हो, कवि हो तो वह अपनी लेखनी, अपनी कला और काव्य के माध्यम से अपनी अनुभूति को अपनी कृति द्वारा सर्वसाधारण को अनुभूत कराने में सक्षम हो जाता है। श्री दिनकर जी ऐसे ही लेखक, ऐसे ही कलाकार और कवि थे जिन्होंने अपने विभिन्न काव्य-ग्रंथों में जीवन सत्य के विभिन्न रूपों का उद्घाटन कर उसका सर्वसाधारण को साक्षात्कार कराने का यत्न किया है।

दिनकर जी से मेरे पुराने और व्यक्तिगत सम्बंध थे। वे साहित्य क्षेत्र के कर्मी और मैं भी। वे हिंदी के उपासक और मैं भी। हिंदी और साहित्य की साधना में एक अर्पित जीवन के रूप में मैंने सदा उन्हें देखा। वर्षो वे राज्यसभा के सदस्य रहे। उसके बाद हिंदी सलाहकार समिति में हम लोगों के साथ-साथ काम कर हिंदी के प्रचार-प्रसार के काम को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस कालावधि में मैंने हिंदी के प्रति उनकी लगन और समर्पित जीवन को निकट से देखा।

साहित्य के क्षेत्र में हम लोगों का सदा सहपाठी-सा सम्पर्क-सम्बंध बना रहता। जब उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'उर्वशी' की रचना की तो अनेक दिनों निरंतर मेरे निवास स्थान पर आकर वे सस्वर 'उर्वशी' के महत्वपूर्ण अंश मुझे और मेरी पत्नी को सुनाते। इसी प्रकार मेरे साहित्य के प्रति भी उनका सदा बड़ा उत्सुक रुझान रहा। जब मेरी कविताओं का ग्रंथावली के अंतर्गत एक खंड में प्रकाशन आरंभ हुआ तो दिनकर जी ने उन कविताओं को स्वयं पढ़ा और कृपाकर उसकी भूमिका भी लिखी।

अपना कोई स्वजन, कोई आत्मीय जब हमसे बिछुड़ता है तो दुख, पीड़ा और वेदना से मन भर उठे, यह अस्वाभाविक नहीं। फिर चिरवियोग की पीड़ा तो कभी-कभी असह्य हो जाती है। श्री दिनकर जी के चिरवियोग से ऐसा ही कुछ उनके स्वजन अनुभव कर रहे हैं। पर मैं, जो स्वयं चिरगमन के सन्निकट पहुँच रहा हूँ, दिनकर जी के इस वियोग की पीड़ा के साथ उनके जीवन के इस पक्ष से सर्वथा संतुष्टि अनुभव कर रहा हूँ कि उन्होंने एक कर्मठ और तेजस्वी जीवन जिया और अपने जाने के साथ अपने पीछे रहने वाली पीढ़ी और पीढ़ियों के लिए वे ऐसा साहित्य, ऐसा संदेश दे गये जिस पर वे पीढ़ियाँ गर्व करेंगी। श्री दिनकर जी ने एक प्रसंग पर लिखा है:-

इतिहास को रोशनी उस व्यक्ति से नहीं मिलती जो विजयी या सफल रहा हो, इतिहास को रोशनी सदा उस व्यक्ति से मिलती है जो पुण्य की राह पर हार गया हो।

जिंदगी के मोर्चे पर दिनकर जी कहाँ जीते, कहाँ हारे, यह हम लोगों, जो उनके निकट साथी रहे, के विचार विवेचन का विषय नहीं है। कुछ लोगों का कथन है और शायद स्वयं दिनकर जी के अंतर्मन की व्यथा से ही प्रेरित जिन कुछ लोगों ने कहा और लिखा है कि दिनकर जी पिछले कुछ वर्षों से खिन्न-मन और दुखी रहे हैं। यह सही भी हो, तो मैं इसे अनुचित नहीं मानता; उल्टे साहित्यकार, कलाकार और कवि का संतुष्ट रहना तो मैं अशुभ मानता हूँ। संभव है दिनकर जी के इस असंतोष, उनके मन की रिक्तता और खिन्नता में समाज, साहित्य और देश का कोई अशुभ चित्र हो क्योंकि मैं ऐसे साधक, साहित्यकार और कवि के जीवन के किसी व्यक्तिगत असंतोष की बात करना भी अप्रिय अनुचित और अशुभ मानता हूँ।

दिनकर जी भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक और परम आस्तिक व्यक्ति थे। उनकी आस्तिकता का इससे अधिक उज्ज्वल और ज्वलंत प्रमाण और क्या हो सकता है कि उन्होंने अपने जीवन के अंतिम समय में भगवान वेंकटेश्वर बालाजी के दर्शन के लिए तिरुपति की ओर प्रयाण किया और तिरुपति दर्शन के बाद मद्रास में ही महाप्रयाण कर दिया। स्पष्ट है उनके अंतर्मन में उनके भौतिक अवसान के समय श्री तिरुपति बाला जी की छवि छटा होगी। वही उनके गंतव्य थे, वही उनके लक्ष्य।

दिनकर जी के इस महाप्रयाण के सम्बंध में भारतीय संस्कृति की यह उक्ति कि 'अंत मता सो गता' अक्षरशः सार्थक सिद्ध हुई है।

'लोकराज' के 'दिनकर अंक' से लिए गए अंश इसी पृष्ठ तक

- संपादक

आशा के प्रदीप को
जलाए चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त
भूमि रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न
राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं
जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की
न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी
मानव का जीत से
स्नेह-बलिदान होंगे,
माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी,
स्वर्ग प्रीति से।
- 'कुरुक्षेत्र'

मही नहीं जीवित है,
मिट्टी से डरने वालों से;
जीवित है वह उसे फूँक,
सोना करने वालों से।
- 'कुरुक्षेत्र'

'जिंदगी से हम उतना
ही पाते हैं जितनी कि
उसमें पूँजी लगाते हैं।
यह पूँजी लगाना
जिंदगी के संकटों का
सामना करना है, उस
पन्ने को पलटकर पढ़ना
है जिसके सभी अक्षर
फूलों से नहीं, कुछ
अंगारों से भी लिखे
गए हैं। जिंदगी का भेद
कुछ उसे ही मालूम है,
जो यह मानकर चलता
है कि जिंदगी कहीं भी
खत्म न होने वाली
चीज है।'
-दिनकर (रेती के फूल)

राष्ट्रीय, दलित एवं ग्रामीण चेतना के अनूठे कवि हैं दिनकर

जयपाल सिंह

किसी भी रचनाकार की जयंती को स्मृति में लाने का मतलब यह है कि हमें अपनी संस्कृति एवं समाज के साथ-साथ इतिहास, परम्परा इत्यादि से जुड़ने का एक अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त जयंती समारोह आगामी पीढ़ी या नयी पीढ़ी को अपनी जातीय स्मृतियों से जुड़ने को प्रेरित करते हैं। यह बात भूलने के खिलाफ है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी सर्जनात्मकता एवं वैचारिक चिंतन से परतंत्र भारत में एक नया आलोक पैदा किया। उनकी कविताओं एवं गद्य कृतियों की जन-मन में धूम रही। दरअसल, दिनकर की रचनाओं को पढ़कर गांधी-नेहरू युग का पुनर्पाठ भी किया जा सकता है। आज भी उनकी कविताएँ युवकों के लिए कंठहार बनी हुई हैं।

राष्ट्रकवि दिनकर, यशपाल, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, भगवती चरण वर्मा, भवानीप्रसाद मिश्र, सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त इन सभी रचनाकारों की रचनाशीलता गहरे अर्थ में देश-प्रेम से जुड़ी है। दिनकर देशभक्त कवि हैं। उनका देशप्रेम अंधराष्ट्रवाद नहीं है। दिनकर के देश-प्रेम का संबंध संस्कृति और परम्परा से है। वही संस्कृति जिसे रवीन्द्रनाथ टैगौर 'महामानव का समुद्र' और जिसे आचार्य नरेन्द्र देव 'चित्त की खेती' कहते थे। इसी इतिहास बोध और परम्परा बोध को गांधी-नेहरू युग में दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में भारतीय संस्कृति को *सामासिक संस्कृति* कहकर दिखाया।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' औपनिवेशिक भारत की मुक्तिकामी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के कवि हैं। वे देश की अस्मिता और सांस्कृतिक गरिमा के प्रतीक थे। आज जिस तरह अस्मितामूलक विमर्शों के भीतर साहित्य के केन्द्र में स्त्रियों, दलितों और किसानों को रखा जा रहा है, वैसा दिनकर अपनी कविताओं में पहले ही कर चुके हैं। दिनकर किसानों के बारे में लिखते हैं: *जेठ हो कि हो पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं।* पुनः वे आन्दोलन की घोषणा करते हैं: *हटो व्योम के मेघ, पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।*

यह सार्थक बहस का विषय हो सकता है कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के संदर्भ में दिनकर जैसे राष्ट्रीय रचनाकारों का सही मूल्यांकन नहीं हो सका, जबकि वे उसके अधिकारी थे। दिनकर जीवन की ऊष्मा के कवि हैं। प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि की तरह अपने भूगोल और अपनी संस्कृति से अपरिहार्य रूप से संबद्ध रचनाकार हैं।

स्वाधीनता और नये जनतंत्र की खोज को उन्होंने अपनी कविताओं का आधार बनाया। इस बात पर आज तक ठीक ढंग से विचार नहीं हुआ कि उनकी कविता का उनकी जन्मभूमि सिमरिया (बेगूसराय, बिहार) के समय और समाज से कितना गाढ़ा, तीखा और रागात्मक रिश्ता है। दिनकर की अनेक कविताओं में सिमरिया के शोषित-पीड़ित एवं संघर्षरत किसानों की विविधवर्णी झाँकियाँ उतरी हैं।

दिनकर उन कवियों में अग्रगण्य अमर शिल्पी हैं, जिनकी कविताओं ने अपने पाठकों को नवीन संवेदना एवं नयी काव्य-भाषा के प्रति लगातार आश्वस्त किया है। उनकी रचनात्मकता ने नवीन काव्य रुचि के सामाजिकों को तैयार किया है। 1929 के आसपास से उन्होंने अपना रचना-कर्म शुरू किया था और यह काल छायावाद के पूर्ण उत्कर्ष का काल भी था। हिन्दी जगत में नवजागरण की चेतना भी तीव्र से तीव्रतर

होती जा रही थी। राष्ट्रीय सांस्कृतिक आंदोलन का जिस ढंग से देश में विस्तार हो रहा था, उसी ढंग से सृजनात्मकता भी बदल रही थी। अपने समय की इसी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के भीतर दिनकर की कविता फूटती है।

दिनकर के काव्य की जड़ें भारतीय चिंतन परम्परा में बहुत दूर तक फैली हुई हैं। उनके काव्य को सही संदर्भ में समझने के लिए एक बुनियादी शर्त रही है कि भारतीयता की पुनर्व्याख्या एवं परख की शक्ति होनी चाहिए। यह शर्त तब तो और ज्यादा बुनियादी रूप ले लेती है जब सांस्कृतिक विघटन, अनास्था, यंत्रणा और धुरीहीनता की चर्या से परिवेश के काम बेचैन हो उठे हों। ऐसे कठिन समय में भारतीय संस्कृति के पक्षधर कवि को समझना और उसे उचित न्याय देना, बड़े साहस की बात होगी।

दिनकर अपने समय के सबसे बड़े रचनाकार हैं। नवजागरण की कोख से दिनकर की सृजनात्मकता का जन्म होता है। यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि नवजागरण की चेतना की प्रधान समस्या ब्रिटिश एवं भारतीय समाज से सीधे जुड़ी हुई थी। नवजागरण का प्रभाव जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे उनके स्वर की अभिव्यक्ति द्विवेदी-युग के साहित्य, छायावादी साहित्य और छायावादोत्तर साहित्य में मुखर होती गयी। महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, प्रेमचंद, निराला और दिनकर के साहित्य को देखने- समझने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी-प्रदेश में नवजागरण का बड़ा जोर था। नवजागरण के क्रांतिकारी स्वर की पूरी प्रेरणा रामायण-गीता से छन-छनकर आ रही थी। यह मानना गलत है कि हमारा नवजागरण पश्चिम की देन है। सच्चाई यह है कि यह हमारी ही परम्परा के भीतर से फूटा है। मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा ने लिखा है- हिन्दी प्रदेश में नवजागरण 1857 ई. के स्वाधीनता संग्राम से शुरू हो जाता है। इस प्रकार सन् 1857 का स्वाधीनता संग्राम डॉ. राम विलास शर्मा के शब्दों में 'हमारा जातीय संग्राम' था। और इसे इसी दृष्टि से देखने पर सही नतीजे निकल सकते हैं कि दिनकर का गांधी-विचारधारा के माध्यम से गहरा ताल्लुक भी रहा है। निराला जी ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा था- *पश्चिम की उक्ति नहीं। गीता है गीता है। गीता* से विरोध और विद्रोह की चेतना गांधी-तिलक, जयप्रकाश आदि सभी पा रहे थे।

अंग्रेजी शासन के दौरान भारतीय जनता की आमदनी और जीवन का मूल स्रोत जमीन थी जिसे अंग्रेजों ने छीन लिया था। किसानों के घरों में निर्धनता का स्थायी निवास हो गया। कर्ज से तबाह किसान-मजदूर की दुरावस्था देखकर गांधी ने घोषित किया कि स्वराज्य का सच्चा अर्थ यही होगा कि किसान-मजदूर की खुशहाली को बहाल किया जाए। गांधी विचार और आन्दोलन की हर साँस का इतिहास कहने की काव्य प्रेरणा ने दिनकर को जनता और जनतंत्र का कवि बना दिया है। जनता की हर व्यथा को वाणी देने में ही उनके *कवि ने उनकी सार्थकता पायी है:*

फावड़े और हल राजदंड बनने को हैं
धूसरता सोने से शृंगार सजाती है
दो राह समय के रथ का घर्घरनाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

इसलिए शब्द को कर्म से जोड़ने में दिनकर के योगदान ने सार्थकता पायी है। दिनकर की रचनाओं में भारतीय संस्कृति एवं अतीत के गौरव की झलक दिखायी पड़ती है। दिनकर गांधी, जयप्रकाश नारायण, अरविंद, विवेकानंद आदि तमाम महान विभूतियों से प्रभावित होते हैं लेकिन एक खूँटे में बँधते नहीं हैं। प्रभावित होना मनुष्य का स्वभाव है लेकिन एक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता को वे मानसिक गुलामी मानते हैं। अपने को वे किसी एक पार्टी, मठ आदि की हथकड़ी में बाँधना नहीं स्वीकारते। इस तरह वे एक वादमुक्त रचनाकार के रूप में अपने को स्थापित करते हैं। दिनकर की चेतना की खिड़कियाँ कई तरह से खुलती हैं और वही उनके मानस का निर्माण करती हैं। एक बात यह भी सच है कि दिनकर के जीवन-संस्कार गांधी के विचारों से निर्मित हुए और वे मार्क्सवाद का सम्मान करते थे लेकिन मार्क्सवाद को रक्तवाद के कारण अपनाने में ही असमर्थ रहे। नेहरू जी उनके अच्छे मित्र थे किन्तु 1962 के चीन युद्ध के परिणाम को देखकर वे नेहरू पर भी प्रहार करने से नहीं चूकते :

देवता सदृश जो दिखता है
कमरे में बैठकर गलत हुक्म लिखता है
जिसको अपना गोत्र प्यारा है
उसने ही हमें मारा है

इसी तरह मार्क्सवाद के प्रति भी वे संशय व्यक्त करते हैं:

गीत मत दो रोटी दो
उनको भूख लगी है
भूखों में दर्शन दिखाना
दगा है, ठगी है, छली है।

इस तरह हमें लगता है कि एक रचनात्मक व्यक्ति आमतौर पर किसी विचारधारा का पिछलग्गू बनना स्वीकार नहीं करता।

दिनकर की शक्ति का उत्स ही जन-उद्बोधक चिंतन और किसानी संस्कार हैं। दिनकर उद्बोधन, प्रबोधन, सम्बोधन के कवि हैं। भारतीय संस्कृति के विकास और प्रचार-प्रसार के साथ मजबूती प्रदान करने में धर्म की एक ऐतिहासिक भूमिका रही है। आध्यात्मिकता इस संस्कृति का प्राणतत्व है। दिनकर यह मानते हैं कि एक बुद्धिजीवी के लिए धर्म नये अर्थों में सम्पादन और संशोधन की एक प्रक्रिया है और मूर्ख लोगों के लिए धर्म अपने हित साधने का तेज जहर है। भारतीय संस्कृति का इतिहास साक्षी है कि जिस धर्म का आधुनिकीकरण विवेकानंद ने किया, उसी धर्म का आध्यात्मीकरण तिलक और गांधी करते रहे। ध्यान देने की बात यह है कि विवेकानंद और गांधी का चिंतन अलग-अलग दिखाई देने पर भी तत्वतः भिन्न नहीं है।

यह मूलतः मानव केन्द्रित चिंतन है जिसे दिनकर जी 'भूमि के स्वर्गीकरण' का चिंतन कहते रहे हैं। उनके ही शब्दों में *आज का भारत गांधी का भारत है और गांधी नाम आज के भारत नाम का पूरा पर्याय है। गांधी जी के इस महाव्यापक प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए यह सरल कार्य नहीं है कि हिन्दू नवोत्थान की पृष्ठभूमि पर उनका समग्र रूप आँका जा सके।* जन्म और विकास तो उनका भी सांस्कृतिक नवोत्थान के कारण ही हुआ किन्तु काल को खींचकर वे उसे अपनी दिशा की ओर ले गये। महापुरुषों के संकेत पर इतिहास अपना रूप बदलता है।

साहित्य युग के अवचेतन मन को प्रतिबिंबित करता है और रचना के भीतर रचनाकार का आत्मबोध और युगबोध दोनों संबद्ध होते हैं। अगर गहरे ढंग से विचार करें तो रचना के भीतर हमारे पुरखे बोल रहे होते हैं। संपूर्ण सृजन में वैयक्तिक अवचेतन के साथ सामूहिक अवचेतन सक्रिय रहता है। साहित्य अपने युग की सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति की अनुभूत आवश्यकता के अनुसार निर्मित होता है। दिनकर ने अपने युगबोध को आत्मबोध के धरातल पर स्वीकार किया। तत्कालीन समाज की विषमता, किसान समस्या, दलित समस्या आदि को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। दिनकर की तमाम रचनाओं को सही नजरिए से न समझने का संकट हिन्दी समीक्षा का संकट रहा है।

दिनकर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद मिश्र, सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवानी से लेकर धूमिल तक इस समीक्षा संकट के शिकार रहे हैं। दिनकर 1929 से अपने लेखकीय जीवन की शुरूआत करते हैं। वे द्विवेदी युग, छायावाद और प्रगतिवाद को बहुत साफ आँखों से देख रहे थे। गुलाम देश में हिन्दी की महत्वपूर्ण भूमिका आज भी स्मरणीय है। इसी राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण की बेला में कवि दिनकर का व्यक्तित्व निर्मित होता है। युग के वैचारिक संक्रमण की सूचना इस काल के सभी पुराने-नये कवियों में सुनी जा सकती है। दिनकर की मानसिक बनावट में ग्रामीण चेतना खासकर बिहार की गरीबी, भूख और दरिद्रता है। अतः वे मूलतः भारतीय ग्रामीण संवेदना के रचनाकार हैं।

दिनकर के भीतर जनता का वही रूपक यहाँ बनता है जो सिमरिया (जन्मभूमि) के परिवेश से उभरता है। दिनकर किसानों को उबरने का आह्वान करते हैं। साथ ही मदमस्त सत्ता को जनतंत्र की सही परिभाषा बतलाते हैं : *देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे, / देवता मिलेंगे, खेतों में, खलिहानों में*। स्वाधीन भारत की विडम्बनाओं, अंतर्विरोधों और जनविरोधी चिंताओं पर दिनकर ने लगातार प्रहार किया। दिनकर ने दिल्ली की हसीन सत्ता को अपनी खुली आँखों से देखा और सिमरिया के किसानों के प्रति उनकी क्रूरता को 'भारत का रेशमी नगर'' नामक कविता में रेखांकित कियाः

चल रहे ग्राम कुंजों में पछुआ के झकोर
दिल्ली लेकिन ले रही लहर पुरवाई में।

आज भी भारतीय किसान भूख, गरीबी और दरिद्रता से अभिशप्त हैं और आत्महत्या तक करने को विवश हैं। किसानों एवं बेरोजगारों की निरंतर बदहाली की स्थिति बनती जा रही है। दिनकर मानते थे कि भारतीय राष्ट्र की मुक्ति तब तक संभव नहीं जब तक इस देश के किसानों की मुक्ति नहीं होगी। उन्होंने 'दिल्ली' कविता में गुलाम भारत की मध्यवर्गीय सत्ता-संरचना और गाँव-किसानों के बीच के विभेद को तीखे ढंग से रेखांकित कियाः *वैभव की दीवानी दिल्ली, अनाचार अपमान व्यंग्य की, चुभती हुई कहानी दिल्ली।*

दिनकर सच को स्वीकार करने वाले रचनाकार हैंः *कविता मेरे बस में नहीं है, मैं ही उसके अधीन हूँ, पहले उस तरह की कविता आती थी, तब वैसी लिखता था, अब इस तरह की आ रही है, इसलिए ऐसी लिखता हूँ...पहले नवयुवकों में प्रेरणा भरने के लिए कविता लिखता था क्योंकि अंग्रेज हमारे देश में रावण की तरह थे किन्तु अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे देश में नेता ही जल्लाद बन गये हैं। अब प्रतिरोधी कविताएँ किसके खिलाफ लिखूँ!*

दिनकर का मानना था कि सच्चा समाजवाद भारत में तभी आ सकता है जब मिट्टी पर पैदा होने वाले, दीन-दुर्बल पेड़ों में शक्ति आ जाए। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उन्होंने यह स्वयं स्वीकार किया कि जब तक समाज में विषमता नहीं मिटेगी, तब तक सच्ची समाजवादी व्यवस्था की परिकल्पना संभव नहींः *जब तक है वैषम्य, समाज सड़ेगा, किस तरह एक होकर यह देश लड़ेगा*।

सच कहिए तो दिनकर की रचनाओं में कृषकों के प्रति सच्चा दर्द है। जेठ की दुपहरी और पूस की सर्दी में काम करने वाला सर्वहारा नमक-रोटी के लिए मुहताज है। संक्षेप में दिनकर केवल राष्ट्रीय भावना या क्रांति के कवि ही नहीं थे बल्कि सामाजिक चेतना और दलित चेतना के उद्बोधक भी थे। सर्वहारा समाज की विवशताओं एवं वेदना को उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। कवि दिनकर उद्घोषणा करते हैं : *शांति नहीं तब तक, जब तक संभाग न नर का सम हो; नहीं किसी को बहुत अधिक हो, न ही किसी को कम हो*।

इस तरह साहित्य के भीतर सामूहिक अवचेतन मन की उपस्थिति होती है। उनमें हमारे पुरखे बोलते हैं। दिनकर का साहित्य छायावादोत्तर काव्य एवं स्वाधीनता संग्राम के दौर का इस्पाती दस्तावेज है। *संस्कृति के चार अध्याय, अर्द्धनारीश्वर, शुद्ध कविता की खोज, चेतना की शिखा, उर्वशी, हुंकार, कुरुक्षेत्र* जैसी कृतियाँ लिखने वाले दिनकर हिन्दी साहित्याकाश के वास्तविक सूर्य कहलाने के अधिकारी हैं। ऐसे रचनाकारों को भुलाना दरअसल हमारी अपनी संस्कृति को भुलाना माना जाएगा। विस्मृति के गर्भ से निकालकर ही हम जातीय और महान रचनाकारों के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली -110007

संस्मरण

विजय बहादुर सिंह

कवि दिनकर की कविता ने मुझे नए सिरे से गरीबी का बोध कराया और याद दिलाया कि गरीबी एक हद तक उस अमीरी के चलते है जो अनियंत्रित और अबाध भोग-विलास में इन्द्र की तरह विश्वास करती है। अमीर लोग अगर अपनी अमीरी और शानो-शौकत के ताम-झाम कम कर लें तो जीवन के संसाधनों पर उनका बोझ थोड़ा कम हो जाएगा और वितरण समानता की और बढ़ने लगेगा। गांधी जी ने इसी संदर्भ में ट्रस्टीशिप की बात सोची होगी कि भारत के धन-कुबेर अपनी अकूत संपदा का एक लोक न्यास (पब्लिक ट्रस्ट) बनाएँ जिसका उपयोग व्यापक जन-बिरादरी के पक्ष में किया जा सके। कवि दिनकर की कविता मुझे यह संदेश दे रही थी कि असमानता घटने की बजाय निरंतर बढ़ रही है, इस तरह आर्थिक दुराचार और अत्याचार बढ़ रहा है और इस अहम मुद्दे पर सोचा जाना बेहद जरूरी है।

कविता या साहित्य को लेकर मेरी अपनी कोई खास समझ नहीं बनी थी, इतना जरूर था कि कविता मन की सबसे पवित्र और खूबसूरत आवाज है जो छंदोबद्ध होकर प्रकट हुआ करती थी। यह तो बचपन से ही सुनता आ रहा था कि कवि की आँख वहाँ तक देख लेती है, जहाँ तक सूरज की किरणों की आँखें भी पहुँच नहीं पातीं। कवि ने इस कविता में आजादी के बाद बढ़ती हुई विषमता के इस ग्राफ को देख लिया था। निश्चय ही इस विषमता का एक कारण वह साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद भी था जिसने हमारे सोचने-समझने ही नहीं, जीवन जीने के बुनियादी तौर-तरीकों को बदल दिया था। हमारी सोच पर एक परदेशी विचार-प्रवाह हावी हो चुका था। खास तौर से उच्च, अतिउच्च और मध्यम वर्ग के धनपतियों, बुद्धिजीवियों, राजनेताओं, पत्रकारों, वकीलों, डॉक्टरों की एक नई जमात बन चुकी थी, गांधी के बावजूद।

दिनकर जी तब राज्यसभा में आ चुके थे जब मैं साठ-इकसठ में बी.ए. का छात्र था और कलकत्ता के विद्यासागर कॉलेज में पढ़ता था। मेरे हिन्दी अध्यापक, जिनकी अध्यापन कला के प्रति आकृष्ट होकर मैंने हिन्दी अध्यापक होने का अपना सपना पाला था, पं. रघुनंदन मिश्र ने एक दिन यह सुझाव हम छात्रों के सामने रखा कि क्यों न तुलसी जयन्ती पर दिनकर जी को बुलाया जाय। चूँकि वे राज्यसभा में हैं, अतः उनके आने-जाने का कोई खास खर्च उठाना नहीं पड़ेगा और थोड़ी-सी दक्षिणा में आयोजन का रंग चोखा हो उठेगा। हुआ भी यही। वे आए और आयोजन अविस्मरणीय रहा। पर जो बात मुझे अब तक याद है वह यही कि ट्रेन के एसी कोच से उतर टैक्सी में बैठते ही उन्होंने न जाने क्यों गांधी के प्रति अपना क्षोभ इन शब्दों में प्रकट करना शुरू किया (संभवतः नेहरू की अपनी मैत्री और निकटता के चलते)- 'गांधी! गांधी कहते हैं कि शादी तो करो पर बच्चे मत पैदा करो। बच्चे नहीं पैदा करना है तो शादी ही क्यों करो।' कवि का यह क्षोभ जितना गांधी को लेकर था उसकी जद में नेहरू के बाद के सबसे लोकमान्य नेता जयप्रकाश के उस जीवन को लेकर भी जिन्होंने विवाह तो किया पर बच्चे नहीं पैदा किए। दिनकर जी के बयान का अर्थ अब समझ में आता है कि गांधी कुछ अव्यावहारिक थे और कुछ आदर्शवादी भी। नेहरू व्यावहारिक थे और जमीन पर थे। नेहरूमय दिनकर को सुनते हुए मैं

चकित था। तब तक मुझमें इतनी समझ नहीं आई थी और न हिम्मत, कि मैं उनसे कुछ पूछ पाता; फिर वे हमारे मेहमान भी थे। हम पं. रघुनंदन मिश्र, मधुसूदन सिन्हा, जमुना पाण्डेय के साथ साहू शांति प्रसाद जैन के निवास की ओर उन्हें लेकर जा रहे थे, जहाँ उन्हें ठहरना था। यह वही दिनकर थे जिन्होंने 'कस्मैदेवाय' कविता लिखी थी। मेरे मन में एक तूफान सा मचा हुआ था। फिर भी मेरे होंठ बन्द थे।

दिनकर जी को पढ़ने का एक और मौका मुझे तब मिला जब मैं सन् '61 में बी.ए. कर चुकने के बाद हिन्दी से ऑनर्स करने में प्रवृत्त हुआ। याद है मुझे तब पं. श्रीकान्त उपाध्याय प्रोफेसर थे। मैं उनके पास यथा सुविधा जाया करता और वे मुझे साहित्य को समझने के कुछ गुर बताया करते।

श्रीकान्त जी के साथ अपनी उन बैठकों को कभी भूल नहीं पाता। वे मुझमें जैसे कोई होनहार संभावना देखा करते और इसीलिए सचेत भी किया करते। दिनकर का *कुरुक्षेत्र*, *शेखर : एक जीवनी* (अज्ञेय), प्रसाद का *चन्द्रगुप्त* नाटक मेरे पाठ्यक्रम में थे। कविताएँ तो ढेर सारी थीं। बच्चन की वह कविता 'तीर पर कैसे रुकूँ मैं आज लहरों का निमंत्रण' तो मुझे आज भी आन्दोलित करती है। सबसे अधिक कुरुक्षेत्र का वह छठा सर्ग जिसमें दिनकर भगवान से धर्म और न्याय की याचनाओं का एक पूरा ज्वार-समूह लेकर खड़े हैं: *कब जलेगा, कब जलेगा* की भाव-मुद्रा में विकल और आतुर होकर दया और धर्म की संस्थापना की माँग करते हुए। उसी कुरुक्षेत्र की, मुझे, पहली बार ये पंक्तियाँ भी डुबो गईं-

धर्मराज! यह भूमि नहीं है, क्रीत किसी को दासी
हैं जन्मना समान परस्पर इसके सभी निवासी

पापी कौन मनुज का उससे न्याय चुराने वाला
या कि न्याय माँगते विश्व का शीश उड़ाने वाला
क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो
उसको क्या जो दंतहीन; विषरहित, विनीत, सरल हो।

यह वह कविता थी जो सीधे-सीधे मेरे मन पर उतरा करती थी। इसके कहने में गहरी अर्थवत्ता और जबर्दस्त सादगी थी। ऐसी अभिव्यक्ति जिसकी ताकत प्रत्यक्षता हो। मुझे याद है उन दिनों मैथिलीशरण गुप्त के बाद दिनकर ही मेरे सबसे प्रिय कवियों में से थे। ये सब अभिधा किन्तु गहरे राष्ट्रीय सन्दर्भों के कवि थे। जमाना करवटें ले रहा था और ये सब चाह रहे थे कि पुराने हिन्दुस्तान की कोख से एक ताजा, खूबसूरत और न्यायसम्मत बलशाली भारत निकलकर साकार हो ले। उनमें लोक को जगाने की अद्‌भुत ताकत थी और उसे उसकी ताकत की याद दिलाने की भी। यह तब और भी प्रमाणित हुआ जब 1974-75 में संपूर्ण क्रान्ति वाले जन आन्दोलन में उनकी पंक्ति 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' एक प्रमुख नारा बनी।

मेरे किशोर काल और जवानी की शुरूआती सीढ़ियों पर जिस एक कवि ने भारी पकड़ बना रखी थी- वो कवि यही थे। बाद में तो 'परशुराम की प्रतीक्षा' भी आई। फिर 'उर्वशी' भी। 'रश्मिरथी' तो उन्हीं दिनों पढ़ चुका था। जोश और जवानी का यह तेवर *मधुशाला* के कवि बच्चन से अलग किस्म का था। यों *मधुशाला* भी मुझे कुछ कम प्रिय नहीं थी। पर उन दिनों अगर किसी एक ही कविता पुस्तक को चुनना पड़ता तो निश्चय ही वह *कुरुक्षेत्र* होती।

'कस्मैदेवाय' में दिनकर वैदिक चेतना वाली भाषा से अपना शीर्षक लेकर आए थे। 'कुरुक्षेत्र' तो *गीता (महाभारत)* से आया हुआ सर्वविदित शब्द है। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत मैथिलीशरण गुप्त की चेतना में भी थे, दिनकर की भी। पर दिनकर के पास जो ताजा यथार्थ-अनुभव और राजनीति-बोध था वह गुप्त जी के यहाँ कहाँ? दिनकर की ये फौरी संवेदनाएँ मुझे आकृष्ट किया करतीं। मुझे आज भी लगता है कि कविता का एक काम उस वातावरण को पैदा करना भी है जिससे एक युगान्तरकारी आन्दोलन अपनी भाव-ऊर्जा ग्रहण कर सके। दिनकर की कविताओं ने यह ऐतिहासिक योगदान नहीं किया, इसे कौन कहने की हिमाकत करेगा? वे उस समय के बेहद साफ-सुथरे दो-टूक अंदाज वाले निर्भ्रान्त कवि हैं जिनमें जबर्दस्त जन-पक्षधरता, सामाजिक न्याय की माँग और आदर्श लोकतंत्र की आकांक्षा है। ये बातें आज भी अप्रांसगिक नहीं हुई हैं। आज भी इन पर विचार करने की जरूरत तो है ही।

29, निराला नगर, दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल - 462003

यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश!
किन्तु है बढ़ता गया मास्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।
चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;

-दिनकर

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि : दिनकर

परमानन्द प्रभाकर

मैं विभा पुत्र जागरण गान है मेरा
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

विभा का पुत्र, नव जागरण का गायक, संसार को अक्षय आलोक दान देने वाला जब कहता है- *भटकता खोजता हूँ ज्योति तम में।*

तो निश्चय ही यह बात उभर कर सामने आती है कि वह द्वन्द्व में जीता रहा है। उस कवि की कौन-सी तस्वीर खींची जाय यह एक अनुत्तरित प्रश्न सा लगता है। मैं जिसकी बात कर रहा हूँ वह और कोई नहीं-

सुनूँ क्या सिन्धु ! मैं गर्जन तुम्हारा
स्वयम् युग धर्म का हुंकार हूँ मैं।

की उद्‌घोषणा करने वाला तथा क्रांति युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला, जिसे हम राष्ट्रकवि 'दिनकर' के नाम से जानते और पहचानते हैं। 'दिनकर' का जन्म बिहार के मुंगेर जिला(अब बेगूसराय) के सिमरिया नामक गाँव में 23 सितम्बर, 1908 ई. को एक सामान्य गृहस्थ परिवार में हुआ था। बचपन में लोग उन्हें प्यार से 'नूनू' कहा करते थे। इतिहास में ऑनर्स के साथ बी.ए. की परीक्षा पास करने के बाद पारिवारिक उत्तरदायित्व के कारण इन्हें अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी और अर्थोपार्जन में लगना पड़ा। परन्तु इनकी साहित्य-साधना अनवरत चलती रही और उसी का प्रतिफल हुआ कि दिनकर का कवि 1938 ई. में अपनी प्रथम काव्य पुस्तक 'विजय संदेश' लेकर हिन्दी काव्याकाश में 'दिनकर' बनकर चमका। 'दिनकर' का कवि जब काव्यसाधना की गहराई में उतरा तो उतरता ही चला गया और इतना उतरता चला गया कि स्वयम् भी यह निर्णय करने में असमर्थ हो गया कि उसकी प्रथम कृति का नाम 'विजय संदेश' था या 'बारदोली विजय'। वाह रे साधक! इसे ही तो एकान्त साधक कहते हैं।

'दिनकर' का कवि प्रबुद्ध राष्ट्रप्रेमी होने के साथ-साथ मानवता और व्यक्ति स्वातन्त्र्य का भी पुजारी है। वह संघर्षशील जीवन को ही जीवन कहता है। उन्होंने स्वयं कहा है *संघर्ष दो मुझे स्थान।* राष्ट्रीयता की भावनाओं को कविता में उड़ेलने वालों में बीसवीं सदी में जिन कवियों को रेखांकित किया जाता है, उनमें दिनकर का नाम अन्यतम है। 'दिनकर' की कविता जमीन से फूटती है, उसमें आम आदमी की कसक है, उसकी पीड़ा है, उसकी छटपटाहट है। तुलसी के 'मानस' और व्यास के 'महाभारत' के बाद अगर सब से ज्यादा किसी कवि की रचना लोगों का कंठाहार बन सकी तो वह दिनकर हैं। दिनकर की रचनाओं में जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा है।

'दिनकर' का कवि जीवन के उषाकाल से ही कभी तपती रेत पर तो कभी कंकरीट पथ पर चला है। दिनकर के कवि को कहीं फूलों के नगर मिले हैं तो कहीं काँटों का वन मिला है। इसीलिए उनकी रचनाओं में जीवन का रूप आकृति पा चुका है। दिनकर के कवि को मालूम है कि रेत पर चलने का दंश क्या होता है? इसी कारण कवि कह उठता है:

चलो कवि वन फूलों की ओर

दिनकर का कवि सामन्ती व्यवस्था की तानाशाही और उसमें घुटती आम जनता की व्यथा को बेबाकी से खोलता है-

वे भी नहीं दूध से जो अपने स्वानों को नहलाते हैं
ये बच्चे भी यही कब्र में दूध-दूध जो चिल्लाते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं
मालिक जब तेल-फूलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।

इतना ही नहीं कवि पापी महलों की सामन्ती सोच, दमन की नीति और गगनचुम्बी अहंकार को खुले शब्दों में चुनौती भी देता है-

हरो व्योम के मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।

सामाजिक कुव्यवस्था से आहत होकर कवि विद्रोही बन जाता है। कहते हैं 'शोषण और अत्याचार जब सीमा से बढ़ जाता है तो वह व्यक्ति को विद्रोही बना देता है। दिनकर का कवि भी सामाजिक विद्रूपता को देखकर एक विद्रोही तेवर लेकर गरज उठता है–

चिन्तकों! चिन्तना की तलवार गढ़ो रे।
ऋषियों! कृशानु-उद्दीपन मंत्र पढ़ो रे।
योगियों! जगो जीवन की ओर बढ़ो रे।
बन्दूकों पर अपना आलोक मढ़ो रे।

दिनकर की कविता अपनी कसौटी पर है। दिनकर की कविता में भाव पक्ष ही नहीं अपितु कलापक्ष भी साकार हुआ है। दिनकर की कविता में क्रांति का ज्वार है तो प्रेम का वासन्ती उल्लास भी है। ग्रीष्म की तपिश है तो शरद की निर्मल और दूधिया चाँदनी की शीतलता भी। दिनकर का कवि जहाँ खड़ा होता है वहाँ वह एक नयी छवि और एक नये अन्दाज में खड़ा होता है। दिनकर का कवि एक ओर ओज और वीरता के लिए जग जाहिर है तो दूसरी ओर प्रेम और शृंगार की तरल अभिव्यक्ति तथा सरस अभिव्यक्ति के लिए भी। 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' इसी भावना की अभिव्यक्ति हैं।

जीवन की प्रभात बेला से ही क्रांति का पांचजन्य फूँकने वाला, विभा के उज्ज्वल गीत गाने वाला, किस अन्तर्वेदना में जलता रहा, उसके अन्दर कैसी छटपटाहट थी, वह किस रौशनी की तलाश में भटकता रहा। यह समझने का किसी को अवकाश ही नहीं मिला । जीवन का संगीत गाने वाला*अधरों पर संगीत, हृदय में पीड़ा का सिन्धु अथाह लिए।* जीता रहा, और तो और दिनकर के द्वंद्व और दर्द को समझने का अवसर उसके परिवार को भी नहीं मिला।

दिनकर के कवि को अपनी पीड़ा कहने का भी अवकाश नहीं मिला। वह स्वयं कहता है–

अपनी पीड़ा कहने का कब अवकाश मिला
मैं सदा तुम्हारा दर्द बोलता आया हूँ।

ऐसे व्यक्तित्व के लिए सोचने का अवकाश किसी को नहीं मिला, यह सोचकर मैथिली साहित्य के व्यंग्य कथा सम्राट हरिमोहन झा की पंक्तियाँ, जिन्हें उन्होंने नागार्जुन के लिए लिखा था, याद हो आती हैं–

जखन मरि जेवह तखन तोरा हेतह सम्मान,
ठाम-ठाम सभाक द्वारा हेतह शोकक गान
आ तरौनी मध्य तोरो मूर्ति हेतो ठाढ,
आ जयन्ती मध्य तोहर हेतह यश केर गान
किन्तु,एखन करह तावत मूक तो विश पान।

दिनकर के कवि का कोई एक चित्र खींचना आसान नहीं है। 'हुंकार','परशुराम की प्रतीक्षा', 'विजय संदेश' में संघर्ष का संदेश देने वाला कवि जब 'कुरुक्षेत्र' की भूमि पर उतरता है तो संघर्ष में हुए रक्तपात पर हाहाकार कर उठता है। जब 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' की भूमि पर उतरता है तो प्रेम की सात्विक परिभाषा इस प्रकार देता है कि लोग यह नहीं समझ पाते हैं कि यह 'हुंकार', का ही कवि है या दूसरा कोई और। दिनकर के दिल में प्रेम और शृंगार की जो अमृतवाहिनी धारा अवरुद्ध थी वही 'रसवन्ती' से आरम्भ होकर 'उर्वशी' तक चली आयी है। इसलिए 'दिनकर' के व्यक्तित्व की या उसके कवि की एक सम्पूर्ण तस्वीर खींची ही नहीं जा सकती। वह अपनी एकल आकृति में बहुआयामी व्यक्तित्व को समेटे रहा है।

कहते हैं, दिनकर के व्यक्तित्व में नारियल वाली कई परतें थी। वह ऊपर से जितना ही सख्त, शुष्क और रूखा दिखता है, भीतर से उतना ही अधिक कोमल, संवेदनशील और सहज है। उसे *वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि* भी कह सकते हैं।

दिनकर का कवि एक ओर विद्रोही है तो दूसरी ओर अध्यात्मवादी और कुछ हद तक परम्परावादी भी है और तंत्र-मंत्र तथा सिद्धपीठों से प्रभावित भी। दिनकर ने स्वयं 'संचयिता' के आत्मकथन में लिखा है–

धर्म में मैं निराकार से साकार की ओर गया हूँ।
कविता में मेरी यात्रा साकार से निराकार की ओर है।

दूसरों की पीड़ा के समाधान के लिए बेचैन रहने वाला जीवन के अन्तिम क्षण में भी बेचैन ही रहा और शायद इसी बेचैनी ने 'हारे को हरिनाम' को जन्म दिया।

दिनकर का कवि हमेशा शून्य में कुछ तलाशता हुआ सा दिखता है। उसकी प्यास उम्र के साथ बढ़ती ही गयी। वह मन में खोया हुआ सा और आँखों में लबालब आँसू लिए जीता रहा। उसके दर्द को, उसकी पीड़ा को, उसकी टीस को इन पंक्तियों में देख सकते हैं–

न्योछावर मैं एक फूल पर, जग की ऐसी रीति कहाँ
एक पंक्ति मेरी सुधि में भी सहते इतने गीत कहाँ।

संत पॉल्स शिक्षण संस्थान, बंगाली टोला, समस्तीपुर (बिहार) - 848101

कवि दिनकर : अतीत के झरोखों से

अनिल कुमार सिंह 'सेंगर'

इस संसार में कुछ ही लोग होते हैं जिन्हें शताब्दियों तक याद किया जाता है। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी यह मानते थे कि हिन्दी में तीन ही ऐसे आधुनिक कवि, लेखक हैं जो कई शताब्दियों से भी ज्यादा याद किये जाते रहेंगे... ये तीन हैं प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर।

पद्य और गद्य विधाओं में दिनकर की साठ से भी ज्यादा रचनाएँ हैं। दिनकर ने पुराण और इतिहास को आत्मसात करते हुए वर्तमान जीवन की जर्जरता को जोरदार शैली में प्रस्तुत किया। क्रांतिकारी भावना और प्रेमानुभूति, दोनों को एक साथ काव्य के रूप में स्वीकार किया। 'उर्वशी' के माध्यम से पुरूरवा की कथा को उन्होंने काव्यात्मक रूप प्रदान किया।

दिनकर वस्तुतः किसी 'वाद' के पक्षधर नहीं हैं। यदि उनकी रचनाओं पर दृष्टि डालें तो 'रेणुका' का अतीत गौरवगान, 'हुंकार' का वर्तमान परिवेश के प्रति असंतोष, 'रसवन्ती' का सौन्दर्य, 'सामधेनी' की विश्व-चेतना, 'नील कुसुम' में नयी काव्य-धारा अपनाने की लालसा; 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' तथा 'उर्वशी' में वेद-पुराणादि से सामग्री लेकर विचार-प्रस्थापन शैली आदि, सभी को हम किसी वाद में नहीं बाँध सकते।

दिनकर का रचना संसार इतना व्यापक है कि उनके सम्पूर्ण साहित्य को पढ़ने के बाद यह ज्ञात होता है कि उनके साहित्य में जीवन, व्यष्टि, समष्टि, वेद, पुराण, धर्मग्रन्थ, प्राचीन और अर्वाचीन वर्ग-संघर्ष और सत्ता-संघर्ष सभी प्रखर तौर पर सामने आता है। उनके काव्य की एक-एक पंक्ति प्रेरणादायक है। जीवन को अनुप्राणित करना और सही दिशा देना उनकी कविताओं के मुख्य घटक हैं।

दिनकर जी शुरू से ही उस धारा के कवि रहे हैं जिसमें राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति, संस्कृति और सभ्यता के उन्नयन, संश्लिष्ट होते हुए धर्म और नैतिकता के सरल रूप में अभिव्यक्त करने की कोशिश हुई है–

चाहे राधा बोलो घनश्याम कहाँ
अभी तक कर पायी न शृंगार
रास की मुरली उठी पुकार
तान-तान फण व्याल कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ

ओज,शृंगार, भक्ति, राष्ट्रीयता, राजनीति, धर्म, जन-संस्कृति आदि दिनकर की कविता के मुख्य बिन्दु हैं। विद्यापति ने लिखा है– *माधव हम परिनाम निराश।* पुनः दिनकर कहते हैं– *हारे को हरिनाम।*

डॉ. नामवर सिंह ने 'हारे को हरिनाम' कविता को दिनकर की विनय पत्रिका के रूप में स्वीकार किया है। दिनकर राष्ट्रप्रेम, देशहित, मानवहित, शोषण के खिलाफ संघर्ष के प्रेरक स्तम्भ हैं। ऐसा लगता है कि राष्ट्रप्रेम और उनका गौरव-गान कहीं टूटा ही न हो–

तुझको या तेरे नदीश गिरि वन को नमन करूँ मैं
तेरे प्यार देश देह या मन को नमन करूँ मैं
किसको नमन करूँ मैं भारत किसको नमन करूँ मैं।

दिनकर जी ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' में लिखा है–

जा कहो पुण्य यदि बढ़ा नहीं शासन में
या आग सुलगती रही प्रजा के मन में
...रिपु नहीं यही अन्याय हमें मारेगा
अपने ही घर में फिर स्वदेश हारेगा।

दिनकर जी की इस संवेदनशीलता को देखकर पं. किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है– *महाकवि दिनकर अपने ढंग के एक ही थे। मुझे कोई अन्य साहित्यकार बहुत ढूँढ़ने पर भी ऐसा नहीं दिखाई देता जिसका नाम उनके नाम के साथ लिया जा सके। तुलसीदास के साथ सूरदास, पंत के साथ निराला और हरिऔध के साथ मैथिलीशरण गुप्त का नाम स्वयं आ जाता है; लेकिन दिनकर के साथ रखने के लिए कोई नाम नहीं मिलता।*

चापलूसी, समझौतावादी दृष्टिकोण और मार्ग अवनयन दिनकर के काव्य में नहीं है। उनके काव्य में वर्ग-संघर्ष और

शोषित मानवता के प्रति गहन पीड़ा है, इस पीड़ा को उन्होंने अपने काव्य में व्यक्त किया है।

जिस प्रकार दिनकर की शुरू की रचनाओं की समष्टिपरक उग्र-चेतना 'कुरुक्षेत्र' में आकर दर्शन और मनोविज्ञान से संपुष्ट होकर संतुलित हुई थी; 'उर्वशी' की सृजन-प्रेरणा और प्रक्रिया भी करीब उसी तरह की है। 'उर्वशी' को हिन्दी कविता का एक नया मोड़ माना जा सकता है। कामजन्य समस्याओं से प्रेरित साहित्य-सर्जन हिन्दी के लिए नयी वस्तु नहीं है। काम की प्रेरणा की अनेक स्वस्थ और विकृत उल्टी-सीधी अभिव्यक्तियाँ हिन्दी के कथा-साहित्य में चली आ रही हैं। इन समस्याओं को सामाजिक परिवेश और काल्पनिक पात्रों के माध्यम से चित्रित करना संभव भी था और उचित भी। डॉ. रामविलास शर्मा 'उर्वशी' को सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ मानते हैं, उनका शिखर ग्रन्थ। 'उर्वशी' चिंतन और अनुभूति के क्षेत्र में कवि की महान उपलब्धि है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार- *सामयिक कविता की उपलब्धियाँ, उसके आयाम और उसकी विधाएँ इस मेरु के आस-पास उगे हुए झाड़-झंखाड़ जैसी लगती हैं। कल्पना और यथार्थ, दर्शन और शृंगार के अद्‌भुत सम्मिश्रण के कारण यह ग्रन्थ प्रत्येक मनीषी कवि और काव्य-प्रेमी चिन्तक के अध्ययन और रसास्वादन का केन्द्र बनेगा।* दिनकर जी की यह रचना इस अर्थ में महान् नहीं है कि इसमें सब कुछ नया है। रचना की महत्ता इस अर्थ में है कि वह पुरानी बातों को नये अन्दाज में प्रस्तुत करती है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते है- *उर्वशी शृंगार रस की परंपरागत आलम्बन है, फिर भी दिनकर की रचना में एक उदात्त भंगिमा है जो निराला काव्य के बाहर जरा कम देखने को मिलती है। मेरी दृष्टि में यह उनकी बहुत बड़ी सफलता है।* उर्वशी और पुरूरवा के प्रेम में धरती की महत्ता का चित्रण हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इसका विवेचन बड़ी ही ललित शब्दावली में किया है-

उर्वशी पुरूरवा पर मुग्ध हुई। स्वर्ग और धरती की होड़ में धरती जीत गई, डूब गई सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपनों में। स्वर्ग भी एक सपना है लेकिन कौन कहता है मिट्टी के सपने उससे कम मूल्यवान हैं। मानव-मात्र से प्रेम, धरती से प्रेम उनकी दृष्टि में कलाकार और उसकी कला की सबसे बड़ी कसौटी है। दिनकर की 'उर्वशी' महत्वपूर्ण है क्योंकि उसका कवि मिट्टी की सोंधी गंध से प्रेम करता है। आकाश की अप्सरा धरती के आकर्षण में बँधकर मानवी-रूप धारण करती है। भूतल के मनुष्य से उसका प्रेम मातृत्व में सार्थक होता है। जीवन में आस्था का स्वर अभिनंदनीय है-

चिन्तन कर यह जान कि तेरे / क्षण-क्षण की चिंता से
दूर-दूर तक के भविष्य का / मनुज जन्म लेता है।
उठा चरण यह सोच कि / तेरे पद के निक्षेपों की
आगामी युग के कानों में / ध्वनियाँ पहुँच रही हैं।

अपने इस प्रबंध की भूमिका में दिनकर ने उर्वशी को सनातन नारी का प्रतीक माना है। लेकिन रामविलास शर्मा उनके इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में-*उर्वशी सनातन नारी का प्रतीक न होकर अनन्त यौवन और सौन्दर्य की कल्पना का प्रतीक है।* उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है। पुरूरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य। पुरूरवा के लिए स्त्री-पुरुष संबंध पाप है। उर्वशी को छूते समय उसके मन में एक ग्रन्थि रहती है-*आग है कोई नहीं जो शान्त होती है / और खुलकर खेलने से भी निरन्तर भागती है।* पुरूरवा की इस मनोवृत्ति पर चोट करती हुई उर्वशी कहती है-

किसने कहा तुम्हें जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का
और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को
देश-काल का भेद गगन में उठने योग्य नहीं है?

संभोग ऊर्जा की अधोगति है, समाधि ऊर्ध्वगति। संभोग स्खलन है, समाधि विस्फोटक है। जिस उत्स से पौरुष का प्रवाह निकलता है, उसी से प्रेम की निर्झरिणी भी फूट पड़ती है, तेज एवं पराक्रम की अग्नि और स्निग्धता एवं सुकुमारता का पीयूष, दोनों मूलतः एक ही उत्स से निकले हैं। दिनकर जी लिखते हैं- *तिमिराच्छन्न व्योमवेधन में जो समर्थ होती है, / युवती के उज्ज्वल कपोल पर वही दृष्टि सोती है।* इसीलिए पुरुष की जो सर्वश्रेष्ठ परिकल्पना है वह शक्तिशाली वीर्यवान की परिकल्पना है। शरीर से पुष्ट, मन से दुर्धर्ष और आत्मा से स्थिरपद।

दिनकर आत्म-साक्षात्कार की इस स्थिति को तन का अतिक्रमण कहते हैं और 'उर्वशी' में इसकी महिमा को उजागर करने के लिए जगह-जगह उनके शक्त कवित्व का स्रोत फूट पड़ा है।

एक योग में भोग है, एक भोग में योग। शिव और कर्म। संघर्ष और त्याग, विजय और पराजय, धर्म और अधर्म, राजनीति और संन्यास; ये सभी विषय ऐसे हैं जहाँ दिनकर जी की पंक्तियाँ मानदण्डों की स्थापना में व्यस्त दिखती हैं। इसके अलावा समयानुसार कैसे विचार समाज को प्रभावित और प्रेरित करता है-

एक हाथ में कमल, एक में धर्म-दीप्त विज्ञान
लेकर उठने वाला है धरती पर हिन्दुस्तान।

धर्म और राजनीति, मनोविज्ञान और इतिहास, दर्शन और भक्ति, विवेक और सद्‌भाव, तात्कालिकता और दूरगामिता, गर्वोक्ति और निरीहता-यथार्थ का चित्रांकन करने वाले और स्वप्नदर्शी, कोमल तथा चिरंतनशील महाकवि दिनकर को शत-शत नमन!

एस-३०, लीछू बागान, पो. बलतल्ला, कोलकाता-18, प. बंगाल

युगपुरुष दिनकर

विपिन बिहारी 'अकुल'

दिनकर जी का नाम लेते ही मंच पर काव्य पाठ करते हुए उस महान् कवि का चित्र अनायास आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है, इतना ही नहीं, उसका ओजपूर्ण कंठस्वर कानों में स्पष्ट गूँजने लगता है। दिनकर जी को काव्य-पाठ करते हुए सुनने का जिन्हें सुयोग प्राप्त हुआ है वे उस अविस्मरणीय क्षण को कभी भुला नहीं सकते। कवि के आकर्षक व्यक्तित्व और ओजस्वी कंठस्वर में वह जादू था कि कोई भी उसके प्रति सहज श्रद्धावनत हो जाता था। राष्ट्रकवि की उपाधि से अलंकृत दिनकर जी निश्चय ही एक युगपुरुष थे।

पहली बार मैंने स्वनाम धन्य रामधारी सिंह 'दिनकर' को पटना लॉज में (बाद में उसका नाम गांधी मैदान पड़ा) आयोजित एक भव्य कवि-सम्मेलन में कविता पाठ करते हुए सुना था। उस समय मैं पटना के एक उच्च विद्यालय में नवम्‌वर्ग का छात्र था। पिताजी के मुख से मैं अक्सर दिनकर जी का नाम सुना करता था और अपनी हिन्दी की पाठ्य पुस्तक में मुझे दिनकर जी की 'शक्ति और सौन्दर्य' शीर्षक कविता पढ़ने को मिली थी तभी से उन्हें देखने की मेरे मन में उत्कृष्ट लालसा उत्पन्न हो गई थी। कविता की पंक्तियाँ-

तुम रजनी के चाँद बनोगे या दिन के मार्त्तण्ड प्रखर?
एक बात है मुझे पूछनी फूल बनोगे या पत्थर?
तेल-फुलेल क्रीम कंघी से नकली रूप सजाओगे?

मेरे मन में इस तरह बैठ गई थी कि जब कभी फुर्सत मिलती मैं मन ही मन उन्हें दुहराया करता। उस दिन जब मेरे पिताजी ने मुझे सायंकाल अपने साथ लॉज चलने के लिए कहा तो मैं हर्ष से फूला नहीं समाया।

सचमुच वह दिन मेरे जीवन का अत्यंत बहुमूल्य दिन था। लॉज में भव्य पंडाल और मंच सजाया गया था। एक-एक कविगण मंच पर आसीन हो चुके थे। जगमग रोशनी से सारा इलाका इन्द्रलोक-सा प्रतीत हो रहा था। कविता सुनने के लिए सहृदय श्रोताओं की भारी भीड़ वहाँ एकत्र हो गई थी। सभी 'दिनकर' की ही चर्चा कर रहे थे। निश्चय ही दिनकर जी युवा-वर्ग के बीच अत्यंत लोकप्रिय थे। सम्मेलन आरंभ हुआ। कविगण एक-एक कर अपनी कविता सुनाने के लिए माइक पर आने लगे। धीरे-धीरे हमारी उत्कंठा बढ़ रही थी और दिनकर जी के नाम की घोषणा हुई। भीड़ ने दिनकर जी को अपनी जगह से उठकर माइक की ओर आते हुए देखकर जोरदार करतल ध्वनि से उनका स्वागत किया। कवि दिनकर ने एक-दो कविताएँ सुनाई उसके बाद भीड़ ने उनसे 'व्याल विजय' कविता सुनाने का आग्रह किया। दिनकर जी ने कविता सुनाना आरंभ किया, सर्वत्र नीरवता व्याप्त हो गई। लोग मंत्र- मुग्ध होकर काव्य-पाठ सुन रहे थे, एक समां बँध गया था। कविता पाठ सुनने का यह मेरे लिए पहला अवसर था। मेरे मन पर दिनकर जी की जो छवि अंकित हुई थी उस दिन से वह चिरस्थायी हो गई है। कविता लिखने की प्रेरणा मुझे दिनकर जी से ही मिली थी। इस प्रकार दिनकर जी मेरे सबसे प्रिय कवि हैं। दिनकर जी जैसे युगपुरुष धरती पर कभी-कभी ही जन्म ग्रहण करते हैं। उनका जैसा अधिकार पद्य पर था वैसा ही गद्य पर भी था। 'संस्कृति के चार अध्याय' उनके ऐतिहासिक ज्ञान और चिंतन का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। दिनकर जी द्वारा प्रणीत बाल साहित्य भी अपने-आप में अनूठा है।

दिनकर छायावादोत्तर काल के एक सशक्त अग्रणी कवि थे। वे प्रगतिशील चेतना के कवि थे और शोषित-पीड़ित जनता के कर्णधार थे। उनकी कविता शोषण और दमन के विरुद्ध आग उगलती थी। वे सर्वहारा के संरक्षक तो थे ही साथ ही अंग्रेजो के जुल्म के अंत के लिए उन्होंने क्रांतिकुमारी का आह्वान किया। उन्होंने हिमालय को तपी के रूप में देखा था और उससे अपनी तपस्या तोड़कर लुट रही भारत की गरिमा को बचाने के लिए हुंकार करने के लिए ललकारा।

दिनकर जी ने कई कविताएँ लिखी जो उनकी पहचान बन गई। उनकी 'नई दिल्ली' कविता भारत की दुर्दशा का विद्रूप प्रस्तुत करती है। उन्होंने इतिहास की एक झलक हमारी आँखों के समक्ष उपस्थित करते हुए भारत की दयनीय दशा पर अफसोस और आक्रोश प्रकट किया है। उनकी कविता राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत है और सच्ची संवेदना से पूरित है।

राष्ट्रकवि की उपाधि से सम्मानित होकर दिनकर जी ने जहाँ राष्ट्र के गौरव को बढ़ाया वहीं बिहार का नाम भी ऊँचा किया। उन्हें उनकी कृतियों के लिए साहित्य अकादमी और ज्ञानपीठ जैसा अप्रतिम सम्मान प्राप्त हुआ, वहीं उन्हें पद्मभूषण की उपाधि से नवाजा गया।

वे राज्यसभा के सम्मानित सदस्य के रूप में भी देश का गौरव बढ़ाते रहे। एक महान् विभूति के रूप में वे सदैव पूजनीय बने रहेंगे।

7, दीपाली अपार्टमेंट, पोस्ट ऑफिस रोड
मानगो, जमशेदपुर (झारखंड) - 231012

दिनकर : एक संस्मरण

डॉ. निशा राय

वर्षों बीत गये - फिर भी दिनकर नाम लेने मात्र से उनका स्वरूप आँखों के सामने स्पष्ट हो जाता है। सन् 1973 में शायद कवि-सम्मेलन में भाग लेने दिनकर जी हमारे घर पधारे हुए थे। मैं उस समय बारहवीं कक्षा में पढ़ती थी। मेरे पिता जी के मित्र थे- अतः बहुत सारी बातें दिनकर के विषय में उनके मुँह से सुनने के लिए मिलती रहती थी। उनकी सेवा का सौभाग्य भी मुझे मिला था। दिनकर का बाह्य एवं अन्तः व्यक्तित्व दोनों एक-सा था। वे शरीर से स्वस्थ, सुन्दर, स्वभाव से हँसमुख एवं सरल व्यक्ति थे। वेश-भूषा से शुद्ध भारतीय विचार से आस्तिक। उनके श्रीमुख से कई कविताओं का पाठ सुनने को मिला था- अभी भी लगता है कि कानों में वह झंकृति सुनाई पड़ती है और दिनकर का स्वरूप सामने साकार हो उठता है। शरीर रोमांचित हो जाता है।

कविता की आत्मा ध्वनि है। अर्थात कविता वह नहीं है, जो कहा जाता है, बल्कि वह जिसकी ओर संकेत किया जाता है। 'नील कुसुम' की वह पंक्ति अभी भी याद है जो स्वयं दिनकर के मुख से सुनी थी। -

है यहाँ तिमिर, आगे भी ऐसा ही तम है,
तुम नील कुसुम के लिये कहाँ तक जाओगे ?
जो गया, आज तक नहीं कभी लौट सका,
नादान मर्द! क्यों अपनी जान गंवाओगे ?

कर्मठ पुरुष भूमि का पंक झेलता, विविध ताप को सहता, ज्योति-तिमिर में खेलता, बहता, मृत्तिका का पदयान करता, मानवता की जय दुंदुभी बजाता, जगत को कुछ आगे पहुँचा कर, कुछ रमणीय बनाकर इस धराधाम से विदा होता है। ज्ञान और कर्म मार्ग,दोनों दो दिशाओं में दौड़ने के कारण व्यक्ति द्विधा विभाजित होकर दुःख झेल रहा है। मन और तन का सामंजस्य आवश्यक है। जिस स्वर्ग की अनुभूति मन करता है, देह नहीं; वह व्यर्थ है। भुजा के उपार्जन में जब मन का हिस्सा है तो मन में भुजा का क्यों न हो ? मस्तिष्क और भुजा का समन्वय होना चाहिये। केवल ज्ञानमय निवृत्ति से दुविधा नहीं मिट सकती, जगत को छोड़ देने से तृष्णा नहीं घट सकती। भाग्यवाद, पलायनवाद और संन्यास से अलग हटकर मनुष्य को पुरुषार्थ, संघर्ष और कर्मयोग पर विश्वास करना पड़ेगा। तभी यह जगत सुन्दरतर से सुन्दरतम हो सकेगा -

हो जहाँ कहीं भी नील कुसुम की फुलवारी,
मैं एक फूल तो किसी तरह ले जाऊँगा
जूड़े में जबतक भेंट नहीं यह बाँध सकूँ
किस तरह प्राण की मणि को गले लगाऊँगा ?

दिनकर जी ने छायावादी, प्रगतिवादी एवं भोगवादी काव्यधारा के संगम पर खड़े होकर अपनी रचनाएँ लिखी हैं इन तीनों धाराओं का स्पष्ट प्रवाह इनकी कविताओं में परिलक्षित होता है। राष्ट्रकवि की प्रत्यक्ष दृष्टि लोकपक्ष का अंतर्भेदन करती हुई आविर्भूत होती है, वह अपने ज्योति चुम्बन से समस्त लोक को आलोकित करता है वह अपने क्षितिजालिंगन के द्वारा सम्पूर्ण जीवन को भुजाओं में भर लेता है। वह अपने अमृत से धरती को अमरावती बना लेता है। 'रेणुका' एवं 'रसवन्ती' आदि आरम्भिक कृतियों में यौवन एवं सौन्दर्य सम्बंधी भोगवादी भावनाओं का स्वरूप देखने को मिलता है-

पड़ जाता चसका जब मादक प्रेम सुधा पीने का,
सारा स्वाद बदल जाता है दुनियाँ में जीने का

कम शब्दों में, दिनकर जी की कविता कलापक्ष एवं भावपक्ष की सम्मिलित स्वर साधना है। इनकी कविता का

सफलतम स्वरूप उनके उच्चतम काव्य 'कुरुक्षेत्र' में सहज ही देखने को मिलता है। कवि ने कुरुक्षेत्र के 'निवेदन' में कहा है: *कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दोहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाए बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना, शायद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गई होती।* 'साकेत' की रचना जिस प्रकार बाल्मीकि के अनुकरण पर नहीं हुई है उसी प्रकार 'कुरुक्षेत्र' की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है। कवि के लिये अनुकरण आवश्यक नहीं है- अशोभन है। हाँ, पूर्ववर्ती कवियों के पात्रों से प्रेरणा ली जा सकती है। व्यास के युधिष्ठिर और भीष्म से इन्हें भरपूर प्रेरणा मिली है। सम्पूर्ण 'कुरुक्षेत्र' की वस्तु, दो शब्दों में, इस प्रकार कही जा सकती है-महाभारत की समाप्ति के बाद युधिष्ठिर के मन में घोर विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। पाँच व्यक्तियों के सुख के लिये इतना रक्तपात। वे पश्चाताप करते हुए भीष्म पितामह के पास चले आते हैं। भीष्म उनके कृत्रिम वैराग्य की भर्त्सना करते हैं। उन्हें कर्मयोग का उपदेश देते हैं। अनासक्त भाव से दुखी मानवता की सेवा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। कर्तव्य-मार्ग में आए हुए विघ्नों का वीरता के साथ सामना करना चाहिए। एक दिन मानवता दुःख से अवश्य मुक्त होगी- इस आशा का सम्बल लेकर सदा आगे बढ़ना चाहिए।

सच्चा कवि संवेग या अनुभूति को आत्मनिष्ठता के साथ अनुभव करता है और साथ ही वस्तुनिष्ठता के साथ उसका अभिव्यंजन भी। हम अपने आत्मनिष्ठ अनुभवों को वस्तुनिष्ठ बिम्बों के द्वारा स्पष्टतया प्रेषणीय बना सकते हैं कवि अपने संवेग के अनुरूप, समरूप बिम्ब वस्तुजगत से चुनता है और उसी वस्तुपरक बिम्ब के द्वारा अपनी आन्तरिक अनुभूति को प्रकट करने में सफल होता है। बिम्ब जितना ही साफ, स्पष्ट और ठोस होगा, वह भाव-संप्रेषण में उतना ही सफल सिद्ध होगा-

भोगो तुम इस भाँति मृत्ति को, दाग नहीं लग पाए।
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुम में विलीन हो जाए।

दिनकर ने इतिहास के आँसू को स्वर देने का स्तुत्य प्रयास किया है। कवि की कृपा से मूक वाचाल हो जाता है इनकी ऐतिहासिक भावना में अनुभूति का सौन्दर्य है, प्रसाद में कल्पना का। दिनकर की अनुभूति को आँख है। दिनकर की लेखनी की नोंक से इतिहास की कई सोयी सदियाँ जग गईं। यदि कवि की कृतियों का अवलोकन किया जाय तो इनमें सतयुग, त्रेता एवं द्वापर के महान व्यक्तित्वों का प्रत्यक्ष या सांकेतिक रूप से उल्लेख अवश्य मिलेगा। ऐतिहासिक काल के प्रमुख पुरुषों के दो-चार नाम इनकी रचनाओं में मिल ही जाते हैं दिनकर की ऐतिहासिक भावना का सही परिचय पाने के लिये आपको 'हिमालय' के निकट जाना पड़ेगा। कवि की यह भावना 'हिमालय' में सर्वाधिक पल्लवित हुई है। 'पौरुष के पूँजीभूत ज्वाल' में कवि की अतीत भावना का पौरुष पूँजीभूत, राशिभूत होकर प्रज्ज्वलित हो रहा है। इसमें पूर्व पुरुषों की वीरता, ओज, तपस्या और तेज की ओर संकेत किया गया है। अतीत कोई बुझती, टिमटिमाती ढिबरी नहीं, वह प्रज्ज्वलित होम शिखा है। उसके ताप और तेज से हमारा वर्तमान प्राणवन्त हो रहा है।

दिनकर ने प्रायः निजोन्मुखी प्रवृत्ति को लोकोन्मुख बनाने का प्रयास किया है। मानव समाज को तड़पते छोड़कर स्वयं चुपचाप आनन्दपूर्वक जी लेना मानवोचित नहीं है अपना निजी सुख पाना बड़ा आसान है, लेकिन समाज के करोड़ों को सुखी बनाना बड़ा कठिनः-

दुर्लभ नहीं मनुज के हित, निज वैयक्तिक सुख पाना,
किन्तु कठिन है कोटि-कोटि मनुजों को सुखी बनाना।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रकवि की रचना बहुजन हिताय है, स्वान्तः विनोदाय नहीं। बहुजन हिताय की भावना अत्यन्त तीव्र होने पर वह आप ही आप 'स्वान्तः सुखाय' में परिणत हो जाती है। इस बात के प्रतीक हमारी हड्डियों में सनसनी पैदा करते, हमारे खून में गंधक मिला देते और हमारे प्राणों में हर-हर बम-बम का मंत्रोच्चार भर देते हैं। अपनी संस्कृति की इस धार में तैरने वाले कवि ऐसे प्रतीकों को उपस्थित कर सहृदयों की संवेगात्मक प्रतीति को सद्यः जागृत करने में समर्थ होते हैं।

प्राचार्या, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

संस्मरण

डॉ. यतीन्द्र तिवारी

मैं दिनकर साहित्य का अध्येता रहा हूँ तथा 1974 में मैंने 'दिनकर की काव्य भाषा' विषय पर शोध कार्य किया है। मेरे शोध प्रबंध का आगामी शोधकर्ताओं ने अपने शोध प्रबंधों में पर्याप्त उल्लेख किया है। दिनकर युवा लेखकों तथा अध्येताओं को बहुत प्रोत्साहित करते थे। एक बार वे कानपुर स्वर्गीय महेन्द्र सिंह के यहाँ आये थे, साहित्यिक आयोजन था। संभवतः उन्हें लगा होगा कि मैं भी उस आयोजन में उपस्थित रहूँगा किन्तु किन्हीं कारणों से मैं नहीं जा सकता था। आयोजन समाप्ति के उपरान्त उन्होंने मेरे बारे में लोगों से पूछा, मेरे एक मित्र वहीं उपस्थित थे। उन्होंने बताया कि मैं अस्वस्थ हूँ। कितना अद्भुत था उनका स्नेह! मेरे मित्र के साथ दिनकर मेरे निवास आ गए। अनायास उनको अपने सामने उपस्थित पाकर मैं अवाक् और उनकी आत्मीयता से अभिभूत हो गया। कुछ समय रुकने के बाद वे चले गये किन्तु आज भी उनकी उपस्थिति अपने निकट अनुभव करता हूँ। और यही सोचता हूँ कि उनका हृदय कितना विशाल था। कितनी आत्मीयता थी! सभी को अपने में समो लेने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। निश्चय वे दिनकर के समान अपने स्नेह को ऊर्जा से ऊर्जस्वित करते थे।

10/392, खलासी लाइन, कानपुर (उ. प्र.)

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के संवाहक दिनकर

अभिषेक शर्मा 'नीलकंठ'

रामधारी सिंह 'दिनकर' मूलतः ऊर्जस्वित युग-चारण कवि के रूप में ही अधिक विख्यात हैं। 'रेणुका' (1940 ई.) के प्रकाशन के बाद 'दिनकर' जी को हिन्दी-काव्य जगत में पूर्ण स्वीकृति मिली। गद्य और पद्य विधाओं में समाभ्यस्त रहने वाले कवि दिनकर ने अपने साहित्य में सर्वहारा वर्ग की पीड़ा को प्रमुख रूप से मुखर किया। उनका अतीत प्रेम भविष्योन्मुखी है। उनका पौराणिक और ऐतिहासिक ज्ञान जनकल्याणकारी है, इसीलिए वे राष्ट्रकवि ही नहीं व्यापक स्वीकृति वाले एक जनकवि भी हैं। उनकी राष्ट्रीयता कट्टर राष्ट्रवादी न होकर रोमांटिकता से ओत-प्रोत है। राष्ट्र के नागरिकों को जागरूक बनाने के लिए राष्ट्रीयता-बोध उनका एक प्रमुख अस्त्र है, न कि एकमात्र अस्त्र। वे जानते थे कि सिर्फ ललकारने से ही राष्ट्र का आत्मोत्थान नहीं होगा, बल्कि इसके लिए राष्ट्र के नागरिकों को अपनी संस्कृति से भी मेल-जोल बढ़ाना होगा। कवि दिनकर की कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। कवि दिनकर सिर्फ राष्ट्रवादी ही नहीं, समन्वयवादी भी थे। उनके व्यक्तित्व में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और भगवती चरण वर्मा की विशिष्ट विशेषताओं की झलक एक उदात्त रूप में मिलती है। चतुर्वेदी जी के काव्य में भावानुकूल उच्छवास का प्रवाह अंत तक कायम रहा, जबकि नवीन का कवि एक राजनीतिक जीवन का बाई-प्रोडक्ट बन गया, किंतु दिनकर ने तो अपना संपूर्ण जीवन ही भारत माता के चरणों में समर्पित कर दिया। दिनकर का संपूर्ण साहित्य उनके आत्मसंघर्ष और भारतीय जनमानस की प्रताड़ना का ज्वलंत दस्तावेज है। लाख अभावों और असुविधाओं के बाद भी कवि ने अपने पराधीन देश से प्रेम करना नहीं छोड़ा...। हिन्दी और हिन्द देश के ऐसे ही राष्ट्रप्रेमियों के बारे में बहुश्रुत आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी लिखा है कि *मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सताने वाले पर नहीं चढ़ती, गाय-बैल और कुत्ते-बिल्ली को सतानेवाले पर भी चढ़ती है।* पशु की वेदना देखकर भी उसके नेत्र सजल होते हैं। बंदर को शायद बंदरियों के मुँह में ही सौंदर्य दिखाई पड़ता होगा, पर मनुष्य पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और रेत-पत्थर में भी सौंदर्य पाकर मुग्ध होता है। आइए, शुक्ल जी के इस कथन के आलोक में कवि 'दिनकर' की कुछ पंक्तियों को परखते हैं-

तुझको या तेरे नदीश गिरिवन को नमन करूँ मैं,
मेरे प्यारे देश देह या मन को नमन करूँ मैं,
किसको नमन करूँ मैं भारत, किसको नमन करूँ मैं?

इन पंक्तियों में उस राष्ट्रकवि का अंतर्द्वंद्व चित्रित है जहाँ सब कुछ वंदनीय और अभिनंदनीय है। भक्तिकालीन कवियों से दिनकर इन्हीं मामलों में कहीं-कहीं श्रेष्ठ हैं। उनके यहाँ गुरु और गोविन्द की वंदना का विधान है (*गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागउँ पाँवः* कबीर) जबकि इनके यहाँ संपूर्ण चराचर जगत पूजनीय है।

कवि दिनकर न तो बच्चन और अंचल जैसे व्यक्तिवादी हैं और न ही मुक्तिबोध जैसे प्रगतिवादी। वे अपने मार्ग के अकेले पथिक हैं। किंतु जब कभी वे इन दोनों धाराओं के मध्य में आते हैं, तब कुछ लोग उन्हें गांधीवादी विचारधारा का समर्थक मानते हैं और कुछ लोग उन्हें सशस्त्र क्रांति के संचालक सैनिक के रूप में संदर्भित करते हैं। इस संदर्भ में दिनकर का प्रबंध काव्य 'कुरुक्षेत्र' उल्लेखनीय है। इसका मूलाधार महाभारत की कथा और द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि है। इस रचना में दिनकर ने स्थायी शांति के लिए युद्ध की अनिवार्यता को विशेष रूप से रेखांकित किया है। 'कुरुक्षेत्र' मात्र कौरव-पांडव के मध्य होने वाला युद्ध न होकर संपूर्ण भारतीय गणराज्यों की बहुत दिनों से चली आ रही पारस्परिक बैर-भावना का महाविस्फोट है। इसमें कवि ने महात्मा गांधी के अहिंसा एवं क्षमा के सिद्धांतों को रेखांकित करते हुए लिखा है कि -

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दंतहीन; विषरहित, विनीत, सरल हो।

हुंकार कवि दिनकर की एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय काव्यकृति है। हिन्दी के आलोचकों ने इस ग्रंथ को *वैतालिक का जागरण* भी कहा है। इसमें राष्ट्रीय चेतना के प्रखर स्वर के साथ ही छायावादी रोमांटिकता का भी आभास मिलता है। वस्तुतः दिनकर एक कालजीवी कवि हैं। इसीलिए उनकी कविता प्राचीन होते हुए भी समकालीन है। उनकी कविता में यह समकालीनता उनके कालजीवी होने का प्रमाण है। दिनकर हिन्दी साहित्य के कालजयी कवियों में से एक हैं क्योंकि उन्होंने अपने युग को ईमानदारीपूर्वक चित्रित किया है। उनकी 'हिमालय' नामक कविता यह सिद्ध करती है कि *पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं!* और कवि की लेखनी सहसा ललकार उठती है-

कह दो शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार
सारे भारत में गूँज उठे
हर-हर बम-बम का महोच्चार।

सूत-पुत्र कर्ण के चरित्र के जरिए कवि ने समाज द्वारा प्रताड़ित शूद्रों और दलितों के बीच नयी चेतना जगाते हुए उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सावधान किया है। यहाँ कवि ने शौर्य, उदारता आदि गुणों से सम्पन्न कर्ण को तथाकथित कुलीन और संभ्रांत लोगों से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध किया है।

इसके अतिरिक्त कवि दिनकर ने भारत और चीन के ऐतिहासिक युद्ध को आधार बनाकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य की रचना की। इससे भारतीयों के प्रतिरोध में पैनापन आया। किंतु कालांतर में दिनकर अपनी कविता 'हारे को हरिनाम' के साथ आध्यात्मिकता की ओर भी उन्मुख होते हैं। जिस प्रकार भक्तिकालीन कवि तुलसी के आत्मसंघर्ष को जानने के लिए हमें उनकी 'विनय-पत्रिका' पढ़नी चाहिए, उसी प्रकार दिनकर के अंतर्विरोधों को समझने के लिए हमें उनकी काव्य कृति 'हारे को हरिनाम' पढ़नी चाहिए। हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने इस रचना को 'दिनकर की विनय-पत्रिका' कहा है।

अस्तु, दिनकर की कविता में सिर्फ सांस्कृतिक भाव ही नहीं, अपितु चराचर जगत् के प्रति विराट प्रेम भी निहित है। इनकी कविता में आमूलचूल परिवर्तन करने वाली सर्वहारा वर्ग की शक्ति समाहित है। रही बात राष्ट्रीयता की, तो उसका पूछना ही क्या है!

ब्वॉयज हॉस्टल, पूर्वपल्ली, शांतिनिकेतन, प. बंगाल - 731235

दिनकर लिखित एक लेख के अंश

प्रस्तुति : नलिनी मिश्र

आधुनिक हिन्दी में अनेक विद्वान और साहित्यकार बड़े ही उच्च कोटि के हुए हैं। फिर भी, यह संभावना है कि उनके समान अथवा उनसे बड़े विद्वान और साहित्यकार आगे भी उत्पन्न होंगे। केवल तीन व्यक्ति हैं, जिनके जोड़ आगे जनमेंगे या नहीं, यह विषय संदिग्ध है। हिन्दी की इन तीन दुर्लभ विभूतियों में हैं : पहला स्थान पंडित रामचन्द्र शुक्ल को देता हूँ, दूसरा स्थान महापंडित राहुल सांकृत्यायन को और अवस्थाक्रम की विवशता से तीसरे स्थान के अधिकारी आचार्य रघुवीर ठहरते हैं।

राहुल जी ने तिब्बत जाकर के बहुत-से ऐसे ग्रंथों का पता लगाया, भारत में जिनके नाम ही सुने जाते थे। इनमें से अनेक ग्रंथों की पांडुलिपियाँ खच्चरों पर लाद कर वे भारत ले आये और पटना म्यूजियम को उन्होंने मालामाल कर दिया। विख्यात भारत-विद्या-विशारद शेरवास्की ने स्वर्गीय डॉक्टर काशीप्रसाद जी जायसवाल को पत्र लिखा था कि राहुल जी ने विद्या के क्षेत्र में क्रांति उपस्थित कर दी है। उन्होंने जिन ग्रंथों का पता लगाया है, उनकी अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी की जानी चाहिए।

राहुल जी की खोज मध्य एशिया में विशेषतः तिब्बत में चली थी। किन्तु आचार्य रघुवीर उन सब देशों में गये, जहाँ पहले भारतीय संस्कृति पहुँची थी। उनका विशिष्ट कार्यक्षेत्र बर्मा, थाईलैंड, इंडोनेशिया, बाली, लाओस, वियतनाम, चीन, जापान और मंगोलिया था। यही नहीं, एक बार यूरोपीय यात्रा के क्रम में उन्होंने जिप्सी भाषा का भी अध्ययन किया और वे निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिप्सियों की मूल शाखा भारत से ही बाहर गयी थी। उन्होंने साइबेरिया जा कर वहाँ भी भारतीय प्रभाव की खोज की और सभी स्लाव भाषाओं को संस्कृत शब्दों से ओत-प्रोत पाया। बृहत्तर भारत के चित्र को स्पष्ट करनेवाली सामग्रियाँ उन्होंने सरस्वती विहार में इतनी एकत्र कर दी थीं कि डॉक्टर वासुदेवशरणजी अग्रवाल को कहना पड़ा - वृहत्तर भारत की जितनी सामग्रियाँ सरस्वती विहार की छतों के नीचे एकत्र हैं, उतनी संसार में और किसी एक स्थान पर नहीं मिलेंगी। उन्होंने अस्त्रा खान (बोल्गा) से 'पद्य-पुराण', बाइकाल (बैकाल) के निकट से सुभाषित रत्ननिधि और मंगोलिया से विक्रमादित्य और राजा भोज की कहानियों की पुस्तकें प्राप्त की थीं।

सरोजिनी निवास, एम- 1/63, सेक्टर-बी, अलीगंज, लखनऊ (उ.प्र.) - 226024

लोकतंत्र के लोककवि : दिनकर

राजेन्द्र वर्मा

दिनकर का नाम सुनते ही हमारे मानस-पटल पर ऐसे रचनाकार का चित्र खिंच जाता है जिसे अपने अतीत से प्रेम है, वर्तमान पर असन्तोष है और भविष्य से आशा है। वे एक युगद्रष्टा की भाँति हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं तथा अपनी रचनाओं से वह तोष प्रदान करते हैं जो उनके समकालीनों के यहाँ अलभ्य है।

दिनकर बहुविधा रचनाकार थे। उन्हें कविताएँ विशेष प्रिय थीं। उनका कवि उनके गद्यकार पर हावी रहा। साहित्यिक संसार भी उन्हें इसी दृष्टि से देखता है। यद्यपि उन्होंने 'संस्कृति के चार अध्याय', 'अर्धनारीश्वर', 'रेती के फूल' और 'उजली आग' जैसी कृतियों से हिन्दी गद्य को सम्पन्नता व सुष्ठुता प्रदान की, तथापि 'उर्वशी' 'सामधेनी', 'रश्मिरथी', 'रेणुका', 'द्वंद्वगीत', 'हुंकार', 'रसवंती', 'हारे को हरिनाम' जैसी काव्यकृतियों से वे अपेक्षाकृत अधिक सराहे और स्वीकृत किये गए। 'उर्वशी' को जहाँ ज्ञानपीठ मिला, वहीं 'संस्कृति के चार अध्याय' को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी अन्य कृतियाँ पुरस्कार-योग्य नहीं हैं।

गांधी, नेहरू, टैगोर, जयप्रकाश नारायण जैसी महान विभूतियों के विचारों को आत्मसात् करने वाले दिनकर किसी विचारधारा का झंडा लेकर नहीं चले। उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ानों की अपेक्षा युगीन सत्य की स्वर-लहरियाँ मुखर हैं। उनकी पक्षधरता सदैव गरीबों, मजदूरों, शोषितों और वंचितों के साथ रही। वास्तविक अर्थों में वे लोकतंत्र के लोककवि थे।

यद्यपि प्राकृतिक सुषमा,अनंतता एवं ऊर्जस्विता दिनकर के काव्य में समाविष्ट रही है, तथापि उनकी राष्ट्रीय भावना अद्वितीय है। उनकी रचनाओं में जीवनाग्नि की उपस्थिति उन्हें अनुपमेय बनाती है। लेखनी के दायित्व को लेकर उनकी यह अभिव्यक्ति आज भी मील का पत्थर बनी हुई है:

कलम, आज उनकी जय बोल।
जला अस्थियाँ बारी-बारी,
छिटकायी जिनने चिंगारी;
जो चढ़ गये पुण्य वेदी पर
लिये बिना गर्दन का मोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।।

इतिहास को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने वालों पर उनकी यह टिप्पणी प्रायः उद्धरणीय है:

अन्धा, चकाचौंध का मारा,
क्या जाने इतिहास बेचारा;
साक्षी हैं उनकी महिमा के
सूर्य-चन्द्र-भूगोल-खगोल।
कलम, आज उनकी जय बोल।।

कोई यदि कवि से उसका परिचय पूछे, तो कवि क्या कहेगा? उत्तर 'सामधेनी' के 'परिचय' के इन छन्दों में मिलेगा:

सलिलकण हूँ, कि पारावार हूँ मैं
स्वयं छाया, स्वयं आधार हूँ मैं;
बँधा हूँ, स्वप्न है, लघु वृत्त में हूँ
नहीं तो व्योम का विस्तार हूँ मैं।

अथवा

मुझे क्या गर्व हो अपनी विभा का,
चिता का धूलिकण हूँ, क्षार हूँ मैं।
पता मेरा तुम्हें मिट्टी कहेगी,
समा जिसमें चुका सौ बार हूँ मैं।।

स्वतंत्रता के पश्चात हुए मोहभंग को दिनकर ने जो स्वर प्रदान किया है, वह मार्मिक तो है ही, आज के मंचीय कवियों, जो मात्र नारेबाजी तक सीमित कविताएँ कर रहे हैं, के लिए दर्पणस्वरूप है:

निर्वाक है हिमालय, गंगा डरी हुई है।
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है।
पंचास्यनाद भीषण विकराल माँगता हूँ।
जड़ता-विनाश को फिर भूचाल माँगता हूँ।।

यह अकारण नहीं है कि कवि भूचाल माँग रहा है; प्रत्युत वह विवश है, क्योंकि अब पुनर्निर्माण हेतु सिवाय इसके और कोई विकल्प शेष नहीं है। आज जो भी स्थितियाँ दृष्टिगोचर हैं, वे भला कब अपेक्षित थीं?

शब्दचित्र देखिए:

धुँधली हुई दिशाएँ, छाने लगा कुहासा।
कुपली हुई शिखा से आने लगा धुआँ-सा।
कोई मुझे बता दे, क्या आज हो रहा है?
मुँह को छिपा तिमिर में क्यों तेज रो रहा है?
बेचैन हैं हवाएँ, सब ओर बेकली है,
कोई नहीं बताता, किश्ती किधर चली है?

हालाँकि दिनकर की काव्य-रचनाओं का प्रमुख स्वर राष्ट्रीयता है, फिर भी उनमें विषम-वैविध्य है। 'राष्ट्र' के साथ-साथ 'प्रकृति' उनका प्रिय विषय रहा है। 'हारे को हरिनाम' में एक रचना है- 'भगवान के डाकिए'। इसमें वे परम्परागत छन्द विधान भी तोड़ते हैं और भावभूमि के आधार पर वे देश ही के नहीं, विश्व के कवि बन जाते हैं:

पक्षी और बादल!
ये भगवान के डाकिए हैं
जो एक महादेश से दूसरे महादेश को जाते हैं।
हम तो समझ नहीं पाते हैं
मगर उनकी लायी चिट्ठियाँ
पेड़-पौधे, पानी और पहाड़ बाँचते हैं।
हम तो केवल यह आँकते हैं
कि एक देश की धरती
दूसरे देश को सुगंध भेजती हैं
और वह सौरभ हवा में तैरते हुए
पक्षियों की पाँखों पर तिरता है
और एक देश का भाप
दूसरे देश में पानी बनकर गिरता है।

दिनकर की सिद्धहस्तता उनके गद्य-लेखन में भी द्रष्टव्य है। उनकी स्पष्ट सिद्धांतता एवं सर्वांगपूर्ण विचारधारा किसी समालोचक की मुखापेक्षी नहीं। उनके गद्य-लेखन में उनका गहन-चिंतन, मानवतावादी दृष्टिकोण, सांस्कृतिक मूल्यों की खोज व स्थापना हमें अनेक ऐसे सन्दर्भों से जोड़ती है जो इतिहास की शुष्कता तजकर संस्कृति समरसता का पान कराती है। 'धर्म की साकार प्रतिमा- परमहंस रामकृष्ण देव' नामक लेख, जो 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था, में कहते हैं:

भारतवर्ष की परम्परा है कि यहाँ की जनता विद्या से आतंकित नहीं होती। वह पंडितों का सत्कार करती है, उनकी पूजा और भक्ति नहीं। हम तर्क से पराजित होने वाली जाति नहीं है। हाँ, कोई चाहे तो नम्रता, त्याग और चरित्र से हमें जीत सकता है!...

पंडित और सन्त में वही भेद होता है जो हृदय और बुद्धि में है। बुद्धि जिसे लाख कोशिश करने पर भी नहीं समझ पाती, हृदय उसे अचानक देख लेता है। विद्या समुद्र की सतह पर उठती हुई तरंगों का नाम है, किन्तु अनुभूति समुद्र के अन्तराल में बसती है!...

दिनकर की बहुचर्चित गद्यकृति, 'संस्कृति के चार अध्याय' हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है। इसमें भारतीय संस्कृति की खोज, उसका विकास व वर्तमान स्वरूप लिपिबद्ध है। यह ऐसा विषय है कि इसकी विवेचना करना हर किसी के बूते का नहीं। एक तो, यह विषय इतना व्यापक है कि इसे एक औसत पुस्तक में समेटना असंभव-सा है। दूसरे किसी देश के सांस्कृतिक विकास को क्रमशः प्रस्तुत करना अत्यंत चुनौतीपूर्ण एवं विवादास्पद कार्य है। लेकिन दिनकर ने इसे संभव कर दिखाया। इस पुस्तक की प्रस्तावना तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने लिखी, जिन्होंने स्वयं इस विषय पर 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' लिखी है। दिनकर की स्थापनाओं के बारे में नेहरू कहते हैं:

...जैसा कि दिनकर ने भी जोर देकर दिखलाया है कि भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहंजोदरो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान सभ्यता तक पहुँचता है। दूसरी ओर, इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत-ही गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आये थे।.. इस प्रकार हमारी संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया।...

पुस्तक के उपसंहार में दिनकर अपनी स्थापनाओं को निष्कर्ष-रूप में कुछ इस प्रकार रखते हैं कि पुस्तक के चारों अध्यायों का सार-संक्षेप पाठक के मनोमस्तिष्क में स्थायी स्थान बना लेता है। ये अध्याय हैं: प्रथम- आर्य जब भारतवर्ष आये, द्वितीय- महावीर और गौतम बुद्ध ने जब तत्कालीन धर्म या संस्कृति के विरुद्ध अवाज उठायी, तृतीय- इस्लाम जब विजेता के रूप में भारत पहुँचा, और चतुर्थ- भारत में जब यूरोप का आगमन हुआ। वास्तव में दिनकर की यह पुस्तक भारतीय संस्कृति, जो यहाँ के कण-कण में बिखरी हुई है, को चार सोपानों में प्रस्तुत करती है। स्वयं दिनकर ने इसका नाम 'भारतीय संस्कृति के चार सोपान' सोचा था, पर कालान्तर में पता नहीं क्यों, उन्होंने इसको 'संस्कृति के चार अध्याय' ही कहा।

इस कृति के अवगाहन से हम अपनी जड़ों से परिचित तो होते ही हैं, इस सत्य को भी आत्मसात् करते चलते हैं कि हममें कब, कहाँ, कैसे और कौन-सी खामियाँ व खूबियाँ चस्पा होती चली गयीं। कहना न होगा कि अतीत को सहेजने और भविष्य को सँवारने का नाम ही तो संस्कृति है। यह उद्यम दिनकर ने अत्यंत कौशल से पूर्ण किया है। हिन्दी साहित्य एतदर्थ उनका ऋणी रहेगा।

प्रसिद्ध रचनाकार-आलोचक, रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्दों में, *राष्ट्रीय कविता की जो परम्परा 'भारतेन्दु' से प्रारंभ हुई, उसकी परिणति हुई है दिनकर में।... हमारे क्रांति-युग का*

सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में, दिनकर कर रहा है। क्रांति को जिन-जिन हृदय-मंथनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता, उनकी सच्ची तस्वीर है।...

दिनकर के कृतित्व का जो मूल्यांकन उनके समकालीनों ने किया, लगता है, बाद के आलोचकों ने उन्हें केवल राष्ट्रवादी कवि कहकर उनसे पल्ला झाड़ लिया। उनकी कविताओं की उपादेयता दसवीं-बारहवीं की कक्षाओं में पठन-पाठन तक ही सीमित न रहे, इस दृष्टि से भी हमें पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया अपनाने की आवश्यकता है। यह मूल्यांकन चश्माविहीन हो, तभी कवि और उसकी कविता के साथ पूर्ण न्याय होगा।

क्रांतिकारी कवि, महान लेखक और सांसद दिनकर अपने अन्तिम समय में बहुत दुःखी थे। यह स्थिति उनके व्यक्तिगत कारणों से नहीं, बल्कि इस कारण थी कि राष्ट्र के निर्माण का जो स्वप्न उन्होंने और उनके जैसे असंख्य लोगों ने देखा था, वह शीघ्र-ही टूट गया। स्वार्थी नेताओं और भ्रष्ट नौकरशाहों की मिली-भगत ने स्वतंत्र भारत की सत्ता देखते-ही -देखते हथिया ली और देश अपनों का ही गुलाम हो गया। लिखना-पढ़ना, बहस-मुबाहिसा व्यर्थ साबित हुआ। हर तरफ लूट-खसोट, अमीरी का ख्वाब पूरा करने में लग गयी। न्याय स्वयं अन्यायी के हाथ का खिलौना बन गया। आम आदमी अथवा संवेदनशील रचनाकारों-कलाकारों के लिए अरण्य-रोदन के अतिरिक्त कुछ न शेष रहा।

यह स्थिति दिनोंदिन गहराती ही जा रही है। 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों हुआ इलाज' वाली हालत है। इसके निदान में दिनकर सरीखे कवियों की आज महती आवश्यकता है। हमें उनकी रचनाओं का रुदन-क्रंदन, गूँज-गायन और उसकी चाहना-उलाहना के मर्म को समझना तथा जीवन में उतारना होगा तभी हम उनके रचना-कर्म को हृदय से सम्मानित कर सकेंगे।

आखिरकार असीम संवेदना एवं राष्ट्रीय अस्मिता को संपूर्णता में जीने वाले महामानव दिनकर हम सबसे जुदा हो गए। पर वह आज भी अपनी कालजयी रचनाओं में हुंकार भरते हैं। हमें इस हुंकार को अनसुना नहीं करना है। यही उन्हें हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

3/29, विकास नगर, लखनऊ - 226022

साहित्य के पुरोधा

सुजीत कुमार

'दिनकर' स्वतंत्रता पूर्व के विद्रोही कवि के रूप में स्थापित हुए और स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रकवि के नाम से जाने जाते रहे। वे छायावादोत्तर कवियों की पहली पीढ़ी के कवि थे। ये पहले प्रगतिवादी कवि कहे गए। एक ओर उनकी कविताओं में ओज, विद्रोह, आक्रोश और क्रांति की पुकार है तो दूसरी ओर कोमल शृंगारिक भावनाओं की भी अभिव्यक्ति है। इन्हीं दो प्रवृत्तियों का चरम उत्कर्ष हमें 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' में मिलता है।

कुरुक्षेत्र की ओजस्विता और क्रांति हमें इन पंक्तियों में दिखती है - *जो जीत गया, वह पूज्य हुआ अंगारा ...।* वहीं उर्वशी में हमें शृंगारिक भावों की झलक मिलती है- 'यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो।' दिनकर की व्याख्या बिना 'रश्मिरथी' की चर्चा किए पूरी नहीं हो सकती। इस रचना में दया, करुणा, प्रार्थना के साथ-साथ क्रोध और क्रांति का भी आभास होता है।

'रश्मिरथी' में दिनकर श्रीकृष्ण के माध्यम से क्रोध दिखाते हुए कहते हैं कि - *हरि ने भीषण हुंकार किया, अपना स्वरूप विस्तार किया ...* दिनकर ने भारत की आजादी के लिए नौजवानों को कलम या तलवार उठाने के लिए आह्वान किया था। उन्होंने नौजवानों से कहा था कि : *दो में से क्या चाहिए, / कलम या तलवार।* वहीं उन्होंने उस समय अंग्रेजों के शोषण के विरूद्ध बिगुल फूँकते हुए कहा था कि - *हटो व्योम! के मेघ पंथ से, / स्वर्ग लूटने हम आते हैं।*

स्वतंत्र भारत में भी दिनकर की लेखनी भारत की स्वतंत्रता और संप्रभुता को बचाए रखने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रही। दिनकर की साहित्यिक चिंताएँ आजादी के बाद के भारत में समता आधारित समाज तथा विकास तक सर्वत्र व्याप्त थीं। साथ ही गाँवों में विकास के चिराग को पहुँचाने की भी उनकी चिंता थी। उन्होंने कई बार राज्यसभा में अपनी कविता के माध्यम से राष्ट्रीय नेताओं को चेतावनी भरे लहजे में कहा था कि आप दिल्ली की मखमली सेज के सुख-चैन में अपने को मत डुबोइये बल्कि आम जन की चिंता दूर करने और गाँवों में विकास के चिराग पहुँचाने की कोशिश करिए। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि सिर्फ दिल्ली की बिजली की चकाचौंध में मत खो जाओ, बल्कि इसे गाँवों में बस रहे भारत माता के सच्चे सपूतों तक पहुँचाओ, क्योंकि भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की सच्ची श्रद्धांजलि तभी संभव है, जब देश का हरेक नागरिक अपनी-अपनी धुन में मतवाला होकर राष्ट्र की एकता व अखंडता, स्वतंत्रता, समानता और अनेकता में एकता जैसे मूल्यों को समेकित संस्कृति के मूल मंत्र के माध्यम से अक्षुण्ण बनाए रखे। अगर ऐसा नहीं हुआ तो संभव है कि उनकी 'उर्वशी' प्रेम-प्रलापों से बाहर निकलकर 'संस्कृति के चार अध्याय' पलटकर पुनः उन्हें सम्यक् कर्तव्य निर्वहन के रास्ते सुझाए और अगर इससे भी भारतीय समाज का भटकाव और दिशाहीनता खत्म नहीं हुई तो वह 'हुंकार' भी भर सकती है।

गली नं.- 06, पोस्टल पार्क, पटना (बिहार) - 800001

कुरुक्षेत्र : एक युगान्तकारी रचना

डॉ. विद्या रानी

भारतवर्ष की पवित्र भूमि कुरुक्षेत्र जहाँ अन्याय के प्रतिकार में न्याय का युद्ध हुआ था, जहाँ समुदायगत राग द्वेष को महसूस करके अन्याय करने वालों को समाप्त किया गया था, वही कुरुक्षेत्र रामधारी सिंह 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' काव्य का वर्णन स्थल है।

दिनकर ने कुरुक्षेत्र के निवेदन में लिखा है- *कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है। और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना, शायद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतर कर मुक्तक बनकर रह गई होती।* कुरुक्षेत्र के बहाने कवि ने युद्ध, शांति, हिंसा, अहिंसा, वीरता, कायरता जैसे विषयों पर विचार किया है। कुरुक्षेत्र ओज और व्यंग्य से परिपूर्ण प्रबन्ध-काव्य है जो विचार के तारतम्य से रचित है, इसीलिए कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र का प्रबन्धत्व उसके विचारों से है, जिन्हें दिनकर ने अत्यंत कुशलता से व्यक्त किया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है : *काव्य का विचार तत्व रसतत्व के स्तर पर आरूढ़ हो सका है तो कुरुक्षेत्र काव्य की संज्ञा का अवश्य ही अहंकार है।*

विश्वयुद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवतावाद के समर्थक राष्ट्रकवि दिनकर को युद्ध और शांति, अहिंसा और हिंसा, कर्तव्य और वीरधर्म जैसे विषयों पर अपनी बातें कहने का एक प्लेटफॉर्म या मंच चाहिए था। विश्वयुद्ध ने मानवता को झकझोर डाला था, आधुनिक वैज्ञानिक आयुधों के प्रयोग की विभीषिका ने भी कवि को विज्ञान एवं कला पर विचारने के लिए बाध्य किया था। युद्ध की विभीषिका के चित्रण के लिए महाभारत से अधिक सुयोग्य कौन सी कथा हो सकती थी! इसलिए उन्होंने महाभारत के दोनों पात्रों को अपने विचार व्यक्त करने का आधार बना डाला है। युधिष्ठिर, जो धर्म के प्रतीक हैं किन्तु विध्वंस की विकरालता को देखकर विचलित हैं; भीष्म, जो अपने ही प्रण में बँधे शरीर से दुर्योधन के साथ एवं हृदय से पांडवों के साथ थे; वे धर्म के उद्घोषक के रूप में आए हैं।

कवि ने लिखा है :-

धर्म स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था
अतः एक को देह, दूसरे को दे दिया हृदय था।

अर्जुन से संधान करवा कर, जो भीष्म छह महीने तक शरशय्या पर रहे, उन्हें भी शायद इसी ग्लानि का पश्चाताप था कि उन्होंने आजीवन अन्याय का साथ दिया। *इसलिए हे अर्जुन! मेरा ये शरीर भी अब तुम्हारा है। इसे शर से बेध कर अन्याय का साथ देने का दंड दे डालो।* कवि ने पांडवों के प्रति भीष्म के स्नेह और प्रेम की मंदाकिनी पर बिल्कुल नये ढंग से सूक्ष्म दृष्टि डाली है।

कुरुक्षेत्र में मानव नियति एवं सामाजिक विषमता पर व्यंग्य एवं नस-नस में उत्साह की ज्वाला जला रखने की शक्ति से परिपूर्ण पंक्तियाँ मिलती हैं। दिनकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के सक्षम कवि हैं। कुरुक्षेत्र में ओज और व्यंग्य का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। भीष्म का एक-एक वाक्य उसके व्यक्तित्व की वीरता का परिचायक है। साथ ही, मानव हृदय की कोमलता एवं कायरता पर उन्होंने जो व्यंग्य किया है वह कवि की व्यंग्यार्थ शक्ति का द्योतक है। वहीं कवि विज्ञान के बारे में विचार करते हुए रसेल से एक कदम आगे बढ़कर कहता है :

सावधान मनुष्य यदि विज्ञान है तलवार
...खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार;
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।

युधिष्ठिर आश्चर्यचकित हैं कि ऐसी नृशंस लीला के प्रारंभ में ही उसकी बुद्धि ने साथ क्यों नहीं दिया था। युधिष्ठिर को अपनी दयनीय स्थिति पर क्षोभ होता है और वह व्यंग्य करता है कि भीषण युद्ध के बाद जो धरती मिली है उस पर राज्य कैसे किया जा सकता है। उन्हें दुर्योधन स्वप्न में कहता हुआ दीखता है कि :

आ गए हम पार, तुम उस पार हो,
यह पराजय या कि जय किसकी हुई,

युधिष्ठिर की दीनता को देखकर भीष्म व्यथित हो जाते है, वे अपने अनुसार वीर के धर्म की बात करते है-

कायरों की *बात कर मुझको न जला, आज तक*
है रहा आदर्श मेरा वीरता बलिदान ही
जाति मन्दिर में जलाकर शूरता की आरती,
जा रहा हूँ, विश्व से चढ़ युद्ध के ही यान पर।

कवि मानव जीवन का सबसे बड़ा धर्म यह मानता है कि वह प्रज्ज्वलित रहे और किसी का तनिक भी स्पर्श सहन नहीं कर सके। दिनकर ने निष्क्रियता एवं कायरता पर व्यंग्य किया है, अन्याय के प्रतिशोध के बदले संन्यास को अपनाने पर भी व्यंग्य किया है तथा यह व्यंग्य तीखे स्वर में सामाजिक व्यवस्था को बेधता है। कवि कहता है-

समर नित्य है धर्मराज पर, कहो शांति वह क्या है?
जो अनीति पर स्थित होकर भी, बनी हुई सरला है।

भीष्म के अनुसार जहाँ तलवार से शांति की स्थापना की जाती है वहाँ कभी न्याय नहीं हो सकता है। शांति की स्थिति जब अन्याय के विस्तार के लिए हो तो उस शांति को चुपचाप वरण करना कायरों का लक्षण है, वीर पुरुष अन्याय को नहीं सहता वरन् उसका प्रतिकार करने के लिए अपने प्राणों की बलि दे देता है। जिस प्रकार अर्जुन के मोह पर भगवान ने गीता का उपदेश दिया था, उसी प्रकार युद्ध के अंत में भीष्म युधिष्ठिर को कार्य का संदेश देते है। वे युद्ध की अनिवार्यता की परिस्थितियों और कारणों पर प्रकाश डालते हुए युधिष्ठिर को बतलाते हैं कि अन्याय के प्रतिकार के लिए युद्ध अनिवार्य है।

काव्य मानव मन का विश्लेषण कर अंदर की रसमय अनुभूतियों द्वारा उसे सरस रूप प्रदान करता है। *कुरुक्षेत्र* में आधुनिक जीवन के वास्तविक तथ्यों को कथानक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें जीवन की समस्याओं का चिन्तन एवं मनन है। वर्तमान युग के मानव जीवन में जो निष्ठुरता, उत्कट स्वार्थ लिप्सा, भोग-लालसा, हिंसा परायणता आदि की प्रवृत्तियाँ प्रबल रूप धारण कर रही हैं, उसी की ओर दिनकर की दृष्टि गई है। उसका सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण *कुरुक्षेत्र* में मिलता है। इसमें युग की भावनाओं का दर्शन मिलता है।

इन विचारधाराओं के पीछे कवि का सबल एवं तेजस्वी व्यक्तित्व तथा प्रगाढ़ चिन्तन झाँक रहा है। इसमें हिन्दी दर्शन मुखर हो उठा है। इस दर्शन में जीवन की महिमा का जयगान युगदर्शन के रूप में हुआ है और निवृत्तिमूलक धर्म की व्याख्या की गई है जो जगत और जीवन को मिथ्या एवं मायामय बताकर किसी कल्पना लोक में शांति का संधान करने की शिक्षा देता है। जीवन के इस तत्व का हृदयग्राही चित्रण मिलता है –

ऊपर सब कुछ शून्य-शून्य है कुछ भी नहीं गगन में,
धर्मराज, जो कुछ है वह है मिट्टी में जीवन में,
सम्यक विधि से इसे प्राप्त कर नर सब कुछ पाता है
मृत्तिजयी के पास स्वयं ही अंबर भी आता है।

जीवन की प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय कैसे हो सकता है, उसका सुन्दर समाधान निम्न पंक्तियों में है-

भोगो तुम इस भाँति मृति को, दाग नहीं लग पाये
मिट्टी में तुम नहीं, वही तुममे विलीन हो जाये,
और सिखाओ भोगवाद की यही नीति जन-जन को
करो विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को।

भीष्म कहते हैं –

जो अखिल कल्याणमय हो व्यक्ति तेरे प्राण में
कोखों के नाश पर है रो रहा केवल वही
किन्तु उसके पास ही समुदायगत जो भाव है
पूछ उनसे क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था।

व्यक्ति-धर्म एवं समाज-धर्म का विवेचन करते हुए वे फिर कहते हैं –

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।

इस प्रकार कवि ने हिंसा-अहिंसा, मनोबल, शास्त्र-बल और मनुष्यता जैसे प्रसंगों को उठाकर वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधाराओं को प्रतिबिम्बत किया है।

हिन्दी विभाग, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर (बिहार)

एक विनम्र श्रद्धांजलि

सतीश कुमार बत्रा

शास्त्र कहें कि जो नर सम्पूर्ण हो जाता है
तुम सम वो ब्रह्मलीन अमर हो जाता है
जन्म मृत्यु के चक्र से वह मुक्ति पा जाता है
और वह ईश्वर का अभिन्न अंश हो जाता है

काश कुछ कमी तो रह गई होती तुम में
यूँ ना रम गए होते राम तुम में
आज किसी रूप में हमारे बीच में तुम भी होते
और राष्ट्र आह्वान में पुनः जुटे होते

भ्रष्टाचारियों की सोई आत्माओं को जगाते
सोये राष्ट्र को कुंभकर्णी निद्रा से उठाते
जिस स्वतंत्रता हेतु वीरों ने बलिदान दिया
उसका सच्चा मूल्य तुम राष्ट्र को बताते

स्वतंत्रता के मद में हम सब खो गए हैं
कब कोई दिनकर हमारे नभ पर पुनः प्रकाश फैलाएगा
जो जन-मानस हृदय में पुनः राष्ट्र प्रेम जगाएगा

देखो क्षण-क्षण क्षणित होता भारत महान
फिर से आओ करने पुनः राष्ट्र का उत्थान
कोई कहता चेतना हमारी लुप्त हो गई है
कोई सोचता आत्मा हमारी मृत हो गई है

चेतना पुनः प्रकट हो सकती है
आत्मा पुनः जीवन्त हो सकती है
हटानी होगी तुम्हारे काव्य संग्रह पर से
वह धूल जो तुम्हारे जाने के बाद जम गई है।

रायपुर (छत्तीसगढ़)

राष्ट्रकवि दिनकर

गोविन्दसहाय वर्मा

सन् 1954-55 में ग्वालियर के तत्कालीन विक्टोरिया कॉलेज में स्नातक कक्षा का छात्र था। उन दिनों ग्वालियर साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र था। इस दौरान ग्वालियर में ही मैं लेखक वृन्दावनलाल वर्मा के संपर्क में आया और उनकी कृपा मुझ पर बराबर बनी रही।

ग्वालियर में हर वर्ष दिसम्बर-जनवरी मास में एक विशाल मेला आयोजित होता है। ग्वालियर मेले के काव्य मंच पर मुझे सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, रामधारी सिंह 'दिनकर', महाराजकुमार रघुवीर सिंह, सोहनलाल द्विवेदी, गोपालदास नीरज, भवानी प्रसाद मिश्र जैसी साहित्यिक विभूतियों की रचनाओं को सुनने का सौभाग्य मिला है। दिनकर जी का काव्य-पाठ सुनना, मेरे जीवन का अनोखा अनुभव था। उनका ओजस्वी स्वर, मंच और सभा कक्ष में जब गूँजता, तो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध-सा कर देता। वे भावना के उच्च शिखर पर कवि के साथ बहते और उसकी कल्पनाओं के साथ अपने व्यक्तित्व को समाहित कर देते थे। कवि सम्मेलन की समाप्ति पर उन्होंने मेरी डायरी में संदेश के रूप में निम्न पंक्तियाँ लिखीं:

महलों में गरुड़ न होता है,
कंचन पर कभी न सोता है,
बसता वह कहीं पहाड़ों में,
शैलों की फटी दरारों में।

कवि का यह संदेश मेरे जीवन का मार्गदर्शक बना। विद्यार्थी-काल में उनकी कविताएँ पढ़कर मेरे मन में कवि की जो छवि थी, उसकी पुष्टि हुई। व्याख्याता के रूप में मेरी पहली नियुक्ति भोपाल में हुई जहाँ मैं सन् 1959 से 1964 तक कार्यरत रहा। इस अवधि में नगर की साहित्यिक गतिविधियों से जुड़ा रहा। भोपाल में अनेक कवि-लेखक सक्रिय थे। नगर के हिन्दी-भवन में दिनकर जी का एकल काव्यपाठ आयोजित हुआ, जिसमें बड़ी संख्या में काव्यरसिक साहित्यप्रेमी उपस्थित हुए। दिनकर जी ने एक घंटे से अधिक समय तक काव्यपाठ किया, जिसका रसास्वादन कर लोग कृतार्थ हुए। 'परशुराम की प्रतीक्षा' और अन्य कविताएँ उन्होंने बड़े मनोयोग से सुनाईं। दिनकर की कविताएँ राष्ट्रीय-चिन्तन की, विचारशीलता की भावभूमि पर अवस्थित होने से गहराई तक हृदय को छूती हैं। कविता में अपने दृष्टिकोण को वे जिस कौशल से रखते हैं, वह अद्वितीय है। इस संदर्भ में कुछ कविताएँ उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती हैं:

है फर्क मगर, काशी में जब वर्षा होती,
हम नहीं तानते हैं, छाते बरसाने में।

निज से विरत, सकल मानवता के हित में अनुरत से,
भारत राजभवन में आओ सचमुच आज भरत से,
हवनपूत कर में सुदंड नव, जटाजूट पर ताज,
जगत देखने को आएगा, संन्यासी का राज।

कवि दिनकर की भावपरक अनुभूतियाँ, उनके व्यक्तित्व के एक अन्य पक्ष को उजागर करती हैं। अपनी बात को जितनी कलात्मकता के साथ वे रखते हैं, देखकर उनके बहुमुखी काव्य-व्यक्तित्व से हर कोई प्रभावित हो जाता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए:

तबीयत चाहती है बात कुछ तुमको सुनाऊँ,
मगर, तुम कौन हो जो मेरी पंक्ति पढ़ रहे हो?
कला के पारखी हो? चाँदनी के चाहने वाले?
हवा की साँस में जो दर्द है, उसको समझते हो?

गगन में घूमनेवालों? जिसे तुम खोजते फिरते
नहीं वह पूर्णता है शून्य का कीटाणु बनने में।
बढ़ाओ कल्पना का जाल तब भी व्योम बाकी है,
लगाओ तर्क के सोपान तब भी प्रश्न रहते हैं।

दिनकर जी की सन् 1933 में लिखी 'हिमालय' और 'दिल्ली' शीर्षक कालजयी कविताओं ने जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया। आज भी ये कविताएँ अप्रासंगिक नहीं हैं। अंग्रेजी कवि टी.एस. इलियट के काव्य-सिद्धांतों में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत, कविता और कवि-व्यक्तित्व के अलगाव पर आधारित है। दिनकर की कविताओं में उनकी ओजस्विता से भिन्न एक ऐसे कवि का व्यक्तित्व छिपा है, जिसने दुख, अवमानना और उपेक्षा का तीव्र दंश भोगा है। विपरीत परिस्थितियों, पारिवारिक असंतोष, साहित्य जगत की ईर्ष्या ने उन्हें टूटने नहीं दिया, बल्कि उनके संकल्प को दृढ़तर किया।

दिनकर की डायरी उनके व्यक्तिगत जीवन की हताशा, निराशा और संघर्ष का दिग्दर्शन कराती है। उनके लिए वज्र-से कठोर और कुसुम-से कोमल वाली युक्ति चरितार्थ होती है। काव्य-सृजन की प्रक्रिया भी कितनी पीड़ादायक हो सकती है, यह उन्हीं के शब्दों में देखा जा सकता है: *कल रात को उर्वशी काव्य पूरा हो गया। लगता है माथे पर से एक बोझ उतर गया। पहले कवि चाहता है कि कविता मुझे पकड़ ले और जब कविता उसे पकड़ लेती है, तब कवि से न सोते बनता है, न जागते बनता है। रचना का यह दर्द उर्वशी के प्रसंग में मैंने आठ वर्ष तक भोगा है।*

दिनकर जी ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' चीन के आक्रमण के दिनों में लिखी। इस बारे में उनका कथन है-*परशुराम की प्रतीक्षा रोज ही लिखी जाती रही। पटना में तिमंजिले पर बैठ जाता था, रोता रहता था और कविता लिखता जाता था। अंग सिहरते थे और रोमांच होता था।* एक दिन राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने पूछा, 'परशुराम का अर्थ समझते हैं? निष्कलुष वीरता, अनासक्त हत्या, धर्म को जीवित रखने के लिए तलवार का प्रयोग; किंतु यह गांधी मार्ग से भिन्न है।' दिनकर जी ने कहा - *अभी तो मैं भूल गया हूँ कि मैं कांग्रेसी हूँ। मैं केवल कवि के रूप में कार्य कर रहा हूँ। यही मेरा स्वधर्म है और उसी के रूप में मैं प्रभावी भी हूँ।* और अंत में उनकी डायरी का एक और पृष्ठ : *घर को आग ने चारों ओर से पकड़ लिया था। मेरा दुर्भाग्य खड्ग खोलकर मेरे सामने खड़ा है। दो महीने तक मैं उस घर में दम साध कर बैठा रहा, जिसमें विकराल लपट निकल रही थी। अंत में जब यह ज्ञात हुआ कि अब जलकर खाक हो जाऊँगा, तब घर छोड़कर मद्रास भाग आया हूँ। ऐसे में मृत्यु आ जाए तो उसे मैं वरदायिनी मानूँगा। लेकिन मृत्यु बुलाने पर नहीं आती। उसे जिस दिन आना होगा, वह बिना बुलाए ही आ जाएगी।* ऐसे में घर परिवार से दूर, समुद्र किनारे भगवान के मंदिर में 'हारे को हरिनाम' लिखने वाले कवि ने स्वयं को उन्हीं में समाहित कर संसार को अलविदा कह दिया।

गोवर्धन कॉलोनी, गोला का मंदिर, भिण्ड रोड, ग्वालियर (म. प्र.)

रिपु नहीं, अन्याय हमें मारेगा

संतोष कुमार

श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों में गम्भीर भावों की विलक्षणता का अक्षय भण्डार संग्रहित है, जिसमें मनोमुग्धकारी भाव रत्नों का कभी अन्त नहीं होता। कहा जाता है कि गीता के भावों को जिस रूप में समझें, चाहे वक्ता या श्रोता, उसे अपने-अपने स्वरूप का उसी के अनुसार बोध होता है। ठीक उसी प्रकार, दिनकर साहित्य (गद्य-पद्य सहित) को पढ़-समझकर पाठक जिस मान्यता के साथ उसका मनन करता है, उसे वही स्वरूप प्राप्त होता है; जैसे - गीता में कर्मयोगियों को भक्तिशास्त्र, ज्ञानयोगियों को ज्ञानशास्त्र एवं भक्त व श्रद्धालुओं को भक्तिशास्त्र दिखता है। दिनकर के 'संस्कृति के चार अध्याय' से लेकर 'उर्वशी', 'कुरुक्षेत्र', 'परशुराम की प्रतिज्ञा', 'हुंकार' और 'रेणुका' जैसी रचनाओं में सुधी पाठकों को अपनी रुचि, श्रद्धा एवं विश्वास तथा सुकून के साधन सुलभ हो जाते हैं।

दिनकर ने अपनी रचनाओं का विषय भारतीय ऐतिहासिक गौरव-गाथा को बनाया और 'बारदोली विजय', 'प्रणभंग', 'रेणुका' जैसी कृतियाँ सामने आयीं। इन रचनाओं ने राष्ट्रीयता की आँधी चला दी और दिनकर जी राष्ट्रवादी कवियों के ऊपरी पायदान पर विद्यमान हो गए। बाद की रचनाओं, जैसे-'कुरुक्षेत्र' और 'बापू' नामक कृति में वे सत्य, शांति एवं सद्भावना को काफी करीब से देखते हैं किंतु चीनी आक्रमण के बाद दिनकर जी की कलम ने आग उगलते हुए 'परशुराम की प्रतिज्ञा' के माध्यम से राष्ट्रीयता के स्वर को इतनी ऊँचाई प्रदान की कि राष्ट्र ने उन्हें राष्ट्रकवि की उपाधि से विभूषित किया।

दिनकर के रचना-संसार में 'रसवंती' एवं 'उर्वशी' जैसे प्रबंध-काव्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। 'उर्वशी' पर सन् 1973 में उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजा गया। अन्य रचनाओं में, 'इन्द्रजीत', 'सामधेनी', 'इतिहास के आँसू', 'धूप और धुआँ', 'रश्मिरथी', 'नील कुसुम', 'कोयला और कवित्व', 'हारे को हरिनाम' आदि उल्लेखनीय हैं। दिनकर जी ने जिस तरह राष्ट्रीय एवं समाजवादी विचारों को तरजीह दी; ठीक उसी प्रकार, उन्होंने किशोरों के लिए भी कलम चलायी। वे न केवल कवि थे बल्कि उच्च कोटि के गद्यकार भी थे। 'संस्कृति के चार अध्याय', 'मिट्टी की ओर', 'काव्य की भूमिका', 'कविता की खोज' आदि आलोचनात्मक पुस्तकें भी दिनकर ने लिखीं। यही नहीं, उन्होंने कुछ विदेशी कवियों की रचनाओं का भी अनुवाद किया।

अध्यक्ष, आर.सी.एस.एम., नई दिल्ली

दिनकर को लेकर

प्रांजल धर

एंडी, मूगा, टसर, हथकरघे का बाजार
ताम्बुल के वृक्ष, कसू से भरी हरी जमीन
जल्दी का सूर्योदय और निर्धन गृहस्थी की मार
असम की नम जमीन पर चलते हुए
अचानक दिनकर याद आ जाते हैं,
'...धर्मराज कर्मठ मनुष्य का पथ संन्यास नहीं है...'
और मिसिंग परिवारों का दैनिक संघर्ष भी
अनायास जीवंत हो उठता है।
मन फिर आगे बढ़ता है
और फिर राष्ट्रकवि दिनकर पर रुकता है।
मणिपुर, मिजोरम, नगालैण्ड और दिनकर में
एक बड़ी मोटी समानता है,
'राष्ट्रकवि' का गौरव देकर हमने
जिस तरह अपने कर्त्तव्य की इति कर ली
उसी तरह पूर्वोत्तर को भी
अनुदान देने के बाद भला कौन पूछता है?
ह्वांग-हो से सांग-पो तक चीन को चीरते हुए
हमारी ब्रह्मपुत्र आगे बढ़ती जाती है
अभावों के कसीदे पढ़ती जाती है
और असफलताएँ
शहतूत की कीड़ों-सी
जिंदगी पर चढ़ती जाती हैं।
पूरब में कहते हैं, आम लोग भी,
'पूब फाले बेलि ओलाय'
ठीक ही तो है, दिनकर या सूरज
पूरब में निकलता है।
केबुल लामजाओ, संगाई और लोकटक झील
दिनकर चले गए बहुत दूर, ...कई मील,
और लोकटक किनारे की मोइरंग वाली
पावन प्रेम-कहानी की तरह विस्मृत हो गए
यह अलग बात है कि खंबा और थोइबी[1]
आज भी पूजे जाते हैं
साहित्य में भी लोग निर्धन बालश्रमिकों को देख
एक गीत गाते हैं,
'माँ की छाती से चिपक-ठिठुर
जाड़े की रात बिताते हैं'।
लेकिन दिनकर बाँस की जमीन के
कोमल बिहुवान[2] हैं,
हिन्दी के मान हैं...
दिमाग घूमकर अचानक चकरघिन्नी हो जाता है
चिल्लाकर बेकार हो चुके हाथों वाले
मछुवारों का चिल्लाता 'सीन' याद आ जाता है
और संबलपुरी भी कोई तसल्ली नहीं दे पाता!
यथार्थ, जिसे चेखव ने बहुत भयंकर कहा था,
को सोचकर सवाल खड़े होते हैं
और दिनकर को लेकर हम वेगई[3] के किनारे
खड़े-खड़े रोते हैं, खड़े-खड़े रोते हैं।

1. **खंबा और थोइबी** : मणिपुर में मोइरंग नामक स्थान की एक प्रचलित पुरानी प्रेम कहानी। खंबा नायक है और थोइबी नायिका है।
2. **बिहुवान** : बिहुवान असम में गमछे को कहा जाता है क्योंकि बिहू पर्व में इसका महत्व बहुत बढ़ जाता है।
3. **वेगई** : तमिलनाडु की एक प्रसिद्ध नदी। यह भारत और श्रीलंका के बीच वाले समुद्र में गिरती है।

1209, तृतीय तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली - 110009
ई-मेल : Pranjaldhar@gmail.com

आत्मीयता की मूर्ति

लक्ष्मण प्रसाद

मैं स्वयं को बहुत भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे एक महान् कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' जी से व्यक्तिगत रूप से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह घटना सन् 1972 में सितम्बर माह की थी। नई दिल्ली से हावड़ा जाने वाली डीलक्स गाड़ी के प्रथम श्रेणी के वातानुकूलित कक्ष में बैठा था। गाड़ी छूटने से कुछ ही समय पूर्व एक अति सुन्दर, गौर-वर्ण एवं इकहरे बदन के महानुभाव ने कक्ष में प्रवेश किया। वे खादी के बहुत ही उजले वस्त्रों में अत्यन्त आकर्षक लग रहे थे। उनके नैन-नक्श इतने तीखे थे कि मानो किसी शिल्पकार ने उनको बहुत ही मेहनत के साथ तराशा हो और मुझे ऐसा लगा कि ईश्वर ने सारी सुन्दरता उन्हीं को ही दे दी हो। उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक था कि मैं उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सका।

गाड़ी चलने के उपरान्त मैंने साहस करके उनका परिचय प्राप्त किया और जैसे ही उन्होंने अपना नाम बताया मैं उनका नाम सुनकर गद्‌गद् हो उठा और उनके दर्शनमात्र से मेरा जीवन धन्य हो गया। उस समय मुझे उनकी एक वीर रस की कविता *मेरे नगपति! मेरे विशाल!...* याद आई जो आजादी से पूर्व हर विद्यार्थी की जुबान पर थी। मैंने उन्हें बताया कि जब मैं हाई-स्कूल एवं इन्टरमीडिएट की कक्षा में पढ़ता था तब उनकी कविताओं ने उस समय के सभी छात्रों में आजादी के प्रति एक नई उमंग का संचार किया था और सभी छात्र एवं छात्राएँ उनकी कविताओं को गुनगुनाते रहते थे। मैंने उन्हें यह भी बताया कि उस जमाने की 'अन्ताक्षरी' प्रतियोगिताओं में सदैव ही वीर रस एवं राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत कविताओं का ही अधिकतर पाठ होता था, जिनमें से प्रमुख कवियों, जैसे मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह 'दिनकर', महादेवी वर्मा, डॉ. सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि की कविताएँ उस जमाने के नौजवानों की जुबान पर सदैव रहती थीं जो बहुत ही लोकप्रिय थीं। वास्तव में उस जमाने के नौजवानों में विशेषरूप से दिनकर जी की वीर-रस की कविताओं के प्रति दीवानगी छायी हुयी थी।

थोड़ी-सी बातचीत के उपरान्त मैंने उनमें सादगी, सद्‌भावना, संवेदनशीलता, विनम्रता, आत्मीयता एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार जैसे गुण देखे जो वास्तव में महान विभूतियों में ही पाये जाते हैं। इसके अलावा वे वास्तव में राष्ट्रवादी तथा हिन्दी भाषा के विकास के लिए पूर्ण रूप से समर्पित थे। दिनकर जी की उत्सुकता को देखते हुए मैंने उनकी एक कविता 'हिमालय' की कुछ पंक्तियाँ सुनाईः

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार, दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पूँजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम-किरीट!
मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

इन पंक्तियों के अलावा इस कविता की शेष पंक्तियाँ याद न होने के कारण पूरी कविता मैं न सुना सका जिसके लिए मैंने खेद व्यक्त किया। मेरी वेदना को समझते हुए एवं उनकी रचनाओं के प्रति मेरी रुचि को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस कविता की सभी शेष पंक्तियाँ मुझे सुनायीं तथा इसके अलावा उन्होंने अपने अन्य काव्यों; जैसे 'पुरूरवा', 'उर्वशी', 'अभिनव मनुष्य', 'चाँद और कवि' आदि की कुछ-कुछ पंक्तियाँ भी सुनायीं, जिससे मैं उनकी कविताओं को सुनकर भाव-विभोर ही नहीं हुआ बल्कि आनन्दित एवं उल्लसित हुए बिना न रह सका। वे क्षण आज भी बहुत याद आते हैं और मन खुशी से भर उठता है।

3/6, मैरिस रोड, मैन्डू कम्पाउंड, अलीगढ़ (उ.प्र.) - 202001

तुम नयी पीढ़ी वाले भी...!

मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश'

सुनूँ क्या सिन्धु मैं गर्जन तुम्हारा
स्वयं युगधर्म की हुंकार हूँ मैं

ऐसी पंक्तियों से सिंहनाद और जयघोष करने वाले राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' अपनी मिसाल आप थे। राष्ट्रीयता का गीत गाने वाले आधुनिक हिन्दी कवियों - मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, श्यामनारायण पाण्डेय आदि की कड़ी में दिनकर जी की अपनी अलग पहचान थी, अलग व्यक्तित्व था। उनका ओज, तेज, तेवर, अदा और अंदाज; सब खास, अनूठा और निराला था। साथ ही वे सुदर्शन व्यक्तित्व के भी धनी थे।

दिनकर जी को सन् 1955-56 से ही, जब मैं नालंदा कॉलेज, बिहार शरीफ का छात्र था, देखने-सुनने का सुयोग-सौभाग्य मिलता रहा। महीने-दो महीने पर मैं अक्सर दो-चार बार पटना चला ही जाता और दो-चार दिन ठहर जाता। तब मैं बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन अवश्य जाता। शिव जी, नलिन जी आदि के दर्शन हो जाते। साथ ही जब-तब कवि सम्मेलन भी हो जाता। स्वर्गीय ब्रजकिशोर 'नारायण' की कृपा, स्नेह और हौसला-अफजाई से दिनकर, प्रभात, सुमन (शिव मंगल सिंह 'सुमन' और क्षेमचन्द सुमन दोनों) आदि के साथ मुझे भी कविता-पाठ का मौका मिलता और उनकी वाहवाही भी।

सन् 1960 के सितम्बर में मैं पटना सचिवालय के सांख्यिकी विभाग में नियुक्त हुआ और नाला रोड में एक किराये के मकान में रहने लगा। साहित्य और साहित्यकारों से सरोकार बढ़ता गया। वहीं आस-पास कुछ दूरी पर रह रहे साहित्यकार पं. रामदयाल पाण्डेय, ब्रजकिशोर 'नारायण', 'चाँद' के सम्पादक नन्दकिशोर तिवारी, हरेन्द्र देव नारायण, प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त', अनुपम लाल मंडल, आदि से मुलाकातें होती रहीं। कभी-कभी 'नारायण' जी मुझे साथ लेकर दिनकर जी से मिलने उनके आर्य कुमार रोड स्थित निवास पर भी जाते। कभी-कभी 'नारायण' जी के निवास पर ही मुक्त जी, नागार्जुन जी, सुहैल अजीमाबादी आदि से भेंट हो जाती और उनसे मेरा परिचय कराया जाता।

सन् 1962 में मैंने अनायास ही दो-चार चतुष्पदियाँ रच डालीं जो छोटे-बड़े सभी रचनाकारों को काफी पसन्द आयीं और उन्होंने इन्हें आगे बढ़ाने के लिए मुझे प्रेरित-प्रोत्साहित भी किया। उनसे प्रोत्साहन पाकर बड़ी तन्मयता से धीरे-धीरे तीन वर्षों के भीतर 1965 में मैंने एक सौ एक चतुष्पदियाँ पूरी कर लीं। सन् 1968 में जैन कॉलेज, आरा के हिन्दी प्राध्यापक वाल्मीकि प्रसाद सिंह के प्रयास से लक्ष्मी पुस्तकालय के प्रकाशक और मालिक परमेश्वर सिंह ने उसे पुस्तक रूप में छापने का मन बना लिया। आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री ने उसकी भूमिका लिख दी और प्रभात जी तथा नागार्जुन जी ने अपने उद्‌गार के दो शब्द लिख डाले। प्रूफ लेकर मैं दिनकर जी से भी दो शब्द लिखवाने हेतु राजेन्द्र नगर स्थित उनके निवास की ओर चला और डेरे का अता-पता पूछने ही वाला था कि मगही के युवा कवि बाबू लाल मधुकर अचानक मिल गये और उनके निवास तक मुझे पहुँचाकर चलते बने। मैंने दस्तक दी तो धोती ओर जनेऊ धारण किए उघरे बदन खड़ाऊँ खटखटाते दिनकर जी हाजिर हो गए। चौकी पर बैठते हुए मुझे भी बैठने को कहा। चाय पिलायी और आने का उद्‌देश्य पूछा। मैंने अपनी पुस्तक 'मोती मानसर के' की प्रूफ कॉपी दिखलाई और तत्काल उस पर दो शब्द लिख देने का उनसे अनुरोध किया। उन्होंने कहा कि प्रूफ की प्रति छोड़ जाओ और कल नहीं, परसों इसी वक्त आ जाना, सम्मति तैयार रहेगी, तुम्हें मिल जाएगी। मैंने बड़ी जिद की कि अभी-अभी, इसी वक्त लिख दीजिए न, क्या दिक्कत है? फिर बार-बार उनके कहने पर कि जरा इसे पढ़ भी लूँगा, तुम परसों आ जाना, सम्मति तैयार रहेगी, मैंने उनकी बात मान लेना ही उचित समझा।

मुझे आज भी उस घटना का स्मरण करके आश्चर्य और रोमांच होता है कि मेरे द्वारा इतनी जिद करने पर भी वे क्रुद्ध क्यों नहीं हुए, उनका पारा क्यों नहीं चढ़ा!

उसी दरम्यान बातचीत के क्रम में उन्होंने कुछ खास लोगों द्वारा क्लिष्ट और असहज शब्दों के प्रयोग की चर्चा की। मैंने कहा कि नलिन जी भी कुछ प्रयोग और चमत्कार अंग्रेजी शब्दों के विचित्र हिन्दी अनुवाद द्वारा किया करते थे। सुना है कि 'सन लाइट शॉप' का हिन्दी रूपान्तर 'भानु प्रकीर्णित वाटिका' उन्होंने किया है। दिनकर जी यह सुनते ही ठठाकर हँसे और बोले कि नलिन जी तो कौतुक किया करते थे।

तीसरे दिन नियत समय पर उनसे सम्मति लेने मैं हाजिर हो गया। वे बाहर आये और मुझे देखकर पुनः भीतर लौट गए।। अपनी खाट के सिरहाने तकिये के नीचे रखी गयी सम्मति लेकर उसी वेश और मुद्रा में खड़ाऊँ खटखटाते लौटे और वादे के मुताबिक हमारे हाथ में सम्मति थमा दी। चूँकि दिनकर जी को उसी दिन दिल्ली जाने की तैयारी करनी थी, मैं अपने निवास लौट आया।

15 अगस्त, सन् 1972 की बात है। स्वतंत्रता की रजत जयंती के अवसर पर अनुग्रह नारायण कॉलेज, बाढ़ में कवि-सम्मेलन आयोजित था। पटना कॉलेज से एक प्राध्यापक पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय और मुझे लिवा जाने के लिए आये हुए थे। कवि-सम्मेलन का विशेष आकर्षण यह था कि उसमें राष्ट्रकवि दिनकर जी को शरीक होना था। वे अपने गाँव सिमरिया आये हुए थे और वहीं से भाग लेने उन्हें बाढ़ आना था। दिनकर जी ने मुझे 'भीड़ का शहर' कविता पढ़ने का आदेश दिया, उन दिनों मेरी उस कविता की धूम थी और कवि-सम्मेलनों में उसकी फरमाइश जरूर होती। कविता मूड में पढ़ी गयी और जम गयी। फिर पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय ने अपनी कुछ खास भोजपुरी की कविताएँ सुनायी। बाद में दिनकर जी ने पूरे अंदाज में 'परशुराम की प्रतीक्षा' तथा कुछ अन्य कविताओं का पाठ किया। दिनकर जी के काव्य-पाठ ने ऐसा समां बाँधा कि पूरा सभागार धन्य हो उठा।

आयोजन और भोजन की समाप्ति के बाद रात्रि के ग्यारह बज चुके थे। कॉलेज के प्राध्यापक सहाय जी और मुझको स्टेशन छोड़ने जा ही रहे थे कि दिनकर जी ने आवाज दी, 'नर्मदेश्वर और करुणेश मेरे साथ ही मेरी गाड़ी से पटना चलेंगे, मुझे भी पटना ही जाना है।' हम दोनों के टिकट वापस कराये गये और दिनकर जी के एम्बेसडर कार में सवार होकर हमलोग पटना की ओर प्रस्थान कर गये। गाड़ी में आगे अकेला ड्राइवर और पीछे दिनकर जी, सहाय जी और मैं।

पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय जी को मुझ नाचीज में पता नहीं कौन-सी खूबी नजर आती थी कि उन्होंने दिनकर जी से कहा 'दिनकर तुमने करुणेश जी की चतुष्पदियाँ सुनी हैं या नहीं? अरे भाई, बड़ा अच्छा लिखते हैं, पढ़ते भी अच्छा हैं, भगवान ने स्वर भी अच्छा दिया है।' दिनकर जी ने कहा भाई पढ़ चुका हूँ उस पर अपनी राय भी दी है। सहाय जी ने कहा, 'कुछ सुनाइये भाई दिनकर को।' मैंने उनके आदेश का पालन किया। क्या बताऊँ, दिनकर जी अपनी कविता रचने और पढ़ने में जिस प्रकार डूब जाते थे, मेरी चतुष्पदियाँ भी उसी तल्लीनता से सुनते चले जा रहे थे। कभी-कभी तो किसी-किसी चतुष्पदी को आठ-आठ, दस-दस बार दुहराने को कहते और सच्चे हृदय से उसकी तारीफ करते। मुझे ऐसा लगता, शायद वे इसमें कुछ संशोधन या परिवर्तन करना चाह रहे हों, लेकिन ऐसी बात बिल्कुल नहीं थी। वे पंक्तियाँ उनकें हृदय को इस कदर छू जातीं कि वे उन्हें बार-बार दुहराने का आग्रह करते। ऐसा ही आग्रह डॉ. भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', कलक्टर सिंह केसरी और प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' में भी उन चतुष्पदियों के प्रति देखने को मिलता। उन तीनों महापुरुषों ने भी मेरी सारी चतुष्पदियाँ एक बैठकी में सुनी थीं।

मेरी चतुष्पदियाँ सुनने के बाद दिनकर जी सहाय जी के साथ महर्षि रमण और अरविन्द की चर्चा में मशगूल थे। मैं मौन श्रोता बना उनकी वार्ता का रसास्वादन कर रहा था। दोनों पुराने मित्र, समवयस्क और आपस में तुम-ताम वाले थे। एक समय था जब दिनकर जी, प्रभात जी और पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय तीनों बाढ़ मे ही पदस्थापित थे। दिनकर जी सब रजिस्ट्रार, प्रभात जी पुलिस सब इंसपेक्टर और सहाय जी स्कूल टीचर। खूब छनती थी तीनों में।

हाँ, तो महर्षि रमण और अरविन्द का प्रसंग चलते-चलते बात कबीर की भी चली कि ये आज भी प्रासंगिक हैं, आगे भी प्रासंगिक रहेंगे, प्रासंगिकता उनकी कभी मरेगी नहीं। इतना सुनना था कि दिनकर जी विस्मय से चौंकते और रोमांचित होते हुए बोल उठे-'तुम नयी पीढ़ी वाले भी इसे मानते हो न?' और मेरे स्वीकारात्मक शब्द 'बिल्कुल, क्यों नहीं' कहने पर वे प्रसन्नता से खिल उठे। बातचीत के प्रवाह में पता ही नहीं चला कि हम पटना पहुँच चुके हैं। गाड़ी चिरैयाटाँड़ पुल पार पहुँचकर पटना जंक्शन महावीर मंदिर के पास पहुँच चुकी थी। रात के करीब एक बज चुके थे। दिनकर जी ने कहा, *अब यहाँ से अपने निवास चले जाओगे न?*'मैंने कहा, चला तो जरूर जाऊँगा, मगर यारपुर गुमटी तक छोड़ दिया जाता तो गुमटी पारकर तुरंत डेरा पहुँच जाता। उन्होंने ड्राईवर को आगे बढ़ाने का आदेश दिया। यारपुर गुमटी पर छोड़ते हुए हिदायत दी, 'डेरा पहुँचकर सीधे सो जाना, रात काफी हो चुकी है, कविता मत करने लगना। मैं भी बैक होता हूँ और नर्मदेश्वर को सलीमपुर अहरा छोड़ता हुआ राजेन्द्र नगर निकल जाऊँगा।' और जब मैं डेरा लौट रहा था, दिनकर जी के शब्द बार-बार दिलो-दिमाग में कौंध रहे थे- 'तुम नयी पीढ़ी वाले भी?'

6/209, हनुमान नगर,
कंकड़बाग, पटना (बिहार) - 800020

राष्ट्रकवि दिनकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. अपराजिता सिंह

हिन्दी काव्य-जगत पर छाए छायावादी कुहासे को काटने वाली शक्तियों में दिनकर का अपूर्व योगदान रहा है। दिनकर में संवेदना और विचार का सुंदर समन्वय दिखाई पड़ता है। चाहे व्यक्तिगत प्रेम-सौंदर्यमूलक कविताएँ हों, चाहे राष्ट्रीय कविताएँ, सभी कवि की संवेदना से स्पंदित हैं। इनकी काव्य कृतियों में परिवेश से जोड़ने की तड़प आरंभ से ही दिखाई पड़ती है। इनमें सर्वत्र एक खुलापन, लोकोन्मुखता और सहजता है। दिनकर की सबसे बड़ी विशेषता है - अपने देश और अपने युग-सत्य के प्रति जागरूकता। चीनी आक्रमण (1962) के बाद राष्ट्रकवि ने सोए हुए भारतीय पौरुष को जगाने के लिए 'परशुराम की प्रतीक्षा' की रचना की और यह संदेश दिया कि जब देश पर संकट के बादल गहरा रहे हों और स्वतंत्रता संकट में हो, तो परशुराम जैसे योद्धा और विजेता की आवश्यकता होती है। इस प्रसंग में कवि क्षमा, दया, अहिंसा जैसी भावनाओं के स्थान पर बाहुबल, वीरता और बलिदान को वरीयता देने का आग्रह करता है। 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध की विभीषिका का वर्णन और मीमांसा अधिक हैं, परंतु स्वत्व की रक्षा और न्याय की स्थापना हेतु इसका प्रबल समर्थन भी दिखाई देता है।

'रसवंती' में जीवन के कोमल पक्ष का स्पर्श है परंतु 'द्वंद्वगीत', 'हुंकार', 'रेणुका' और 'सामधेनी' आदि में कवि देश और काल के सत्य को अनुभूति और चिंतन, दोनों स्तरों पर ग्रहण करने में समर्थ हुआ है। कवि ने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं, विषमताओं के प्रति भी जागरूक किया है। 'कस्मै देवाय' में आधुनिक सभ्यता का भीषण चित्र खींचा है -

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें,
बनती ही उन पर जाती हैं, वैभव की ऊँची दीवारें।

'बापू' में कवि गांधीवाद और अहिंसा से प्रभावित होकर अंतरात्मा की ज्योति को लोकमंगलकारी मानता है - 'आत्मा की यह ज्योति फूटती सदा विमल अंतर से'। दिनकर की विशिष्ट काव्य कृति 'उर्वशी' राष्ट्र के सर्वोच्च पुरस्कार (ज्ञानपीठ) से सम्मानित की गई। 1961 में जब 'उर्वशी' का प्रकाशन हुआ तब हिंदी जगत में एक विस्फोट हुआ और हिंदी का साहित्याकाश अद्‌भुत प्रकाश से जगमगा उठा। हिंदी के प्रसिद्ध मीमांसकों और आलोचकों ने आश्चर्य विस्फारित नेत्रों से 'उर्वशी' के सौंदर्य को देखा और मंत्रमुग्ध होकर अपनी टिप्पणियाँ कीं। डॉ. नगेन्द्र ने कहा, *उद्वेलक प्रभाव की दृष्टि से उर्वशी निश्चय ही अत्यंत प्रबल काव्य है। छायावादोत्तर युग में ऐसा प्रबंध हिंदी में दूसरा नहीं लिखा गया और जहाँ तक मेरा ज्ञान है, अन्य भारतीय भाषाओं में भी इतनी प्रबल सामयिक रचना कदाचित् नहीं है।* डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना था, *...'उर्वशी' दिनकर की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ समझी जाएगी। वह कवि के निगूढ़ चिंतन के मंथन से निकला हुआ नवनीत है।* कविवर सुमित्रानंदन पंत ने लिखा : *मेरी तो निश्चित धारणा है कि खड़ी बोली में इतनी सर्वांगपूर्ण काव्य-सृष्टि पहले नहीं हुई थी। स्वर्ग की इस आत्मा को धरती पर अवतरित आपकी ही प्रतिभा कर सकती थी। मैं उसे पढ़कर गंभीर विस्मय के आनंद में डूबा रहा।* कविवर बच्चन का विचार था : *खड़ी बोली हिंदी कविता की क्षमता जिस चरमबिंदु को छू सकती थी, उसे 'उर्वशी' ने छू लिया और 'न भूतो' मैं निःसंकोच कहना चाहूँगा। हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना मेरे मन में नहीं होती तो मैं यह कहता 'न भविष्यति'।* उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा ने लिखा -*आज के युग में इतना सुंदर, उदात्त और हृदयग्राही काव्य लिखा जा सकता है, इसे देखकर मैं चकित-सा हो गया हूँ। हिंदी के ही नहीं वरन् विश्व-महाकाव्यों में 'उर्वशी' का एक विशिष्ट और अद्वितीय स्थान होगा।* कवि दिनकर की हर रचना कालजयी है जो अतीत की नींव पर खड़ी है, वर्तमान की झाँकी दिखाती है तथा भविष्य के लिए संदेश देती है।

केम्पियन अकादमी, बुद्ध कॉलोनी
पूर्वी बोरिंग केनाल रोड, पटना-800001 (बिहार)

दहकते अंगारों का कोमल स्वप्न : दिनकर की कविता

डॉ. रतन कुमार पाण्डेय

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनकी समग्र रचनाधर्मिता का मूल्यांकन बहुत कठिन कार्य है। ऐसे में उनकी ही पंक्ति, जो 'हारे को हरिनाम' में उन्होंने लिखी थी, स्मरण हो रही है–

दहक उठे जो अंगारे बन गए,
कुसुम कोमल सपने थे,
...अधिक सबसे अपने थे,
अब चल उसके द्वार सहज जिसकी करुणा है।

राष्ट्रकवि दिनकर आरंभ में ओज, तेज, आवेश और आवेग के कारण दहकते अंगारे का निर्माण करते हुए, युग धर्म के प्रति अपने गंभीर दायित्व का पालन कर रहे थे। तदनंतर व्यष्टि और समष्टि के बीच समन्वय करते हुए, भारतीय संस्कृति के प्रति सचेत भाव रखते हुए, सपनों के कोमल सुकुमार कुसुम खिला रहे थे। वे व्यक्तिगत प्रेम तथा सौंदर्य चेतना और समष्टिगत दायित्वपरकता के द्वैत को सधे हाथों सँवारते रहे। उस समय दिनकर की काव्य-सरिता रति और उत्साह के दो फूलों के बीच प्रवाहित हो रही थी। 'रेणुका' के रचयिता दिनकर से काव्य सरिता की दो धाराएँ फूटीं– 'हुंकार' और 'रसवंती'।'हुंकार' का उत्साह 'कुरुक्षेत्र' तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा' में विकसित होता है तो रसवंती की रस की सुकुमारता 'उर्वशी' में परिपक्वता में फलीभूत होती है। उत्साह और रति ये दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं मनुष्य के संपूरक भाव हैं। 'रसवंती' में सुकुमार सपनों का अंकुर फूटता है और उर्वशी में फल लगते हैं। 'दिनकर' की कविताओं की शक्ति आस्था है। उस समय भी जब वे आवेग और आवेश रच रहे थे तब भी क्रांति और विप्लव उनके हाथों से छूटा नहीं था। 'हारे को हरिनाम' तक पहुँचते-पहुँचते आस्था और दृढ़ हो चुकी है।

दिनकर भारत की मिट्टी के कवि हैं। स्वदेश और स्वभूमि की हर धड़कन में उनका हृदय धड़कता है। कवि ने जब काव्य जगत में पदार्पण किया था, वह राष्ट्रीयता के उन्मेष की बेला थी। नवजागरण अपनी छटा बिखेर चुका था। भारतीय राष्ट्रीयता की भावना का जन्म नवजागरण की कोख से हुआ था। देश की मिट्टी और उसकी हर धड़कन से लगाव और अपनापन होने के कारण 'दिनकर' के भीतर देश और देशवासियों के प्रति अपार प्रेम भर उठा। वे उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध शंखनाद करते हुए आये। उपनिवेशवाद का सबसे पीड़क पक्ष है देश के स्वाभिमान का नाश तथा राष्ट्रीय अस्मिता का ध्वंस। 'दिनकर' की कविता 'हिमालय' इसी अस्मिता की तलाश और जागरण की रचना है। कुचले स्वाभिमान की व्यंजना– *है तड़प रहा पद पर स्वदेश* में मुखरित हुई है। हिमालय उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष के महाभाव का प्रतीक बनकर आता है। पूरे हिन्दी कविता जगत में 'हिमालय' नवजागरण की अत्यंत सशक्त रचना है। सदियों से जड़ता में सोये देश को झकझोरने और जगाने के लिए दिनकर ने लिखा–*ओ, मौन तपस्या लीन यती! पलभर को तो कर दृगुन्मेष।*

दिनकर नवजागरण के अग्रदूत के रूप में हिन्दी कविता में आते हैं। 'दिनकर' की कविताओं में अपने पूर्ववर्ती मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की समस्त चेतना एक साथ साकार होती है। गुप्त की श्रद्धा भावना माखनलाल चतुर्वेदी, की अल्हड़ता तथा नवीन की गर्मजोशी भरी फक्कड़पन की अदा, एक साथ देखी जा सकती है। 'रेणुका' में 'जागरण' शीर्षक कविता में कवि लिखता है – *मैं शिशिर शीर्णाचली अब, जाग ओ मधुमासवाली*। शिशिर शीर्णता पुरातनता के अवसान और मधुमास नवयुग के आगमन का सूचक है। दिनकर अतीत की उज्ज्वल परंपरा को मथते हैं। उनमें सांस्कृतिक परंपराओं की गहरी समझ और सोच विद्यमान है। इस कारण कविताएँ वर्तमान की पुकार से सचेत क्रांति का स्वागत करती हैं। दिनकर घोषणा करते हैं – *जब भी अतीत में जाता हूँ। मुर्दों को नहीं जलाता हूँ।*

इस वाणी में अतीत के प्रवास से वर्तमान आप्लावित होता है। अतीत की वेदनाएँ, हृदय को सालती रहती हैं। कवि कल्पना की दुनिया से दूर, अतीत के विस्तृत ऐतिहासिक आकार में उड़ान भरता है। इस उड़ान में स्वर्गीय आनंद की निमग्नता तथा शोक-विह्वलता दोनों साथ-साथ चलते हैं। अतीत उसकी वाणी को नया स्वर, नवस्फूर्ति और चेतना प्रदान करता है। अतीत की गौरव गरिमा, कला, संस्कृति, शौर्य, बलिदान, त्याग और ऐश्वर्य की यादें उसे कुरेदती हैं तो भूलुंठित गौरव और स्वत्व, पतनोन्मुख जीवन दशा, निस्तेजता, अशक्तता, देख शोक भी होता है।

'दिनकर' ने आगत में यात्रा, पौराणिक ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर, प्रायः महाभारत से उपजीव्य ग्रहण कर, अनेक यशस्वी प्रबंध एवं खण्डकाव्यों की रचना की। जैसे 'प्रणभंग', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी' आदि। ऐतिहासिकता का सहारा लेकर 'रेणुका' तथा 'हुंकार' जैसी रचनाएँ लिखीं। 'रेणुका' में जहाँ कवि की दृष्टि अतीतोन्मुख थी, वहीं 'हुंकार' में आकर वह अतीत के आकर्षण से मुक्त युगधर्म के प्रति अपने गंभीर दायित्व का पालन करती दिखाई देती है। 'रेणुका' में अतीत का भावुक रुझान तथा 'हुंकार' में दीप्ति का आवेग था तो सामधेनी तक आते-आते वे दुविधामुक्त हो उठते हैं। 'ओ, द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' नामक कविता में यह साफ दिखाई देता है। 1940 में स्वयं गांधी इस उधेड़बुन में थे कि आंदोलन आरंभ करें या न करें। वहीं कवि 1941 में गांधीवाद से ऊर्जा ग्रहण कर *कलिंग विजय* जैसी कविता भी लिखता है। *प्रणभंग* में श्रीकृष्ण के शस्त्र ग्रहण को भी कवि शंका की गहरी नजर से देखता है। यह वही समय है जब कांग्रेस से नरमदल के लोग शस्त्र ग्रहण को लेकर असमंजस की स्थिति से गुजर रहे थे। 'कस्मैदेवाय' नामक कविता में 'दिनकर' इतिहास या अतीत की यात्रा के बाद वर्तमान की ओर लौटते हैं। जब-तब अतीत में ही शांति की तलाश करते तथा इसमें उन्हें असफलता प्राप्त होती तत्पश्चात अपनी युगीन समस्याओं को उठाना ही उनका श्रेय था।

'कुरुक्षेत्र', 'दिनकर' की रचनाओं की एक महत्वपूर्ण पहचान है। यह रचना उपनिवेशवाद के विरुद्ध उनके आत्मसंघर्ष की काव्यात्मक परिणति है। महाभारत में भीष्म दुर्योधन की सेवा में थे। पर उनका हृदय पाण्डवों के साथ था। यही स्थिति ठीक दिनकर की भी थी। क्योंकि अंग्रेजी सत्ता की नौकरी में जो दायित्व उन्हें दिया गया था, उसमें युद्ध का प्रचार-प्रसार करना और उसे न्यायसंगत ठहराना था। उस स्थिति में भी उपनिवेशवाद का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा–

सुख समृद्धि का विपुल कोष संचित कर कल-बल से।
किसी क्षुधित का ग्रास लूट, धन लूट किसी निर्बल से ।
हिलो-डुलो मत हृदय-रक्त, अपना मुझको पीने दो ।
अचल रहे साम्राज्य शांति का, जिओ और जीने दो ।

'हिमालय', 'दिल्ली', 'हाहाकार', 'अनल किरीट', 'विपथगा' जैसी अनेक उपनिवेशवाद विरोधी रचनाएँ हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिप्रेक्ष्य में युद्ध की समस्या को उन्होंने उस समय सोचा और लिखा जब वे युद्ध प्रचार-विभाग में सरकारी मुलाजिम थे। 'रेणुका' से 'कुरुक्षेत्र' तक 'दिनकर' लगातार आग और तूफान से खेलते हैं – 'आग की भीख' नामक कविता में कवि लिखता है –

आगे पहाड़ को पा घटा रुकी हुई है,
बल पुंज केसरी की ग्रीवा झुकी हुई है,
निर्वाक है हिमालय गंगा डरी हुई है,
निस्तब्धता निशा की दिन में भरी हुई है ।
हम दे चुके लहू हैं तू देवता विभा दे,
अपने अनल विशिख से आकाश जगमगा दे ।

'दिनकर' की अपनी पीड़ा पूरे देश की पीड़ा है। 1942 में 'निमंत्रण' कविता में भी वे किसी ऐसे नायक की आकांक्षा करते हैं जो लोगों में ज्वाला प्रज्ज्वलित कर सके। दिनकर को यह भी पता है कि केवल साम्राज्यवाद ही नहीं सामंतवाद भी शोषण में पीछे नहीं है। सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण में दोनों समतुल्य हैं। सामंतों की स्वेच्छाचारिता एवं भोगविलासिता के प्रति आक्रोश से भरकर वे लिखते हैं –

युवती की लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।

'मुक्तिबोध' ने भी लिखा है कि कामायनी में देव संस्कृति का नाश इसी कारण हुआ है। विलासिता की बाढ़ में देव संस्कृति डूब चुकी थी। इसे वे सामंती संस्कृति का ही प्रतीक मानते हैं। 'रेणुका' में 'तांडव'– शीर्षक कविता में दिनकर स्वर्ग दहन की बात करते हैं। 'हाहाकार' कविता में स्वर्ग लूटने का आह्वान करते हैं। स्वर्ग के इस सम्राट को वे 'सामधेनी' में खबरदार भी करते हैं। 'दिनकर' का स्वप्न है कि 'गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो, आग लगे इस आडंबर में। लेनिन का भी मानना था कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की ही तरह एक विकसित अमानुषिक अवस्था का नाम है। 'दिनकर' की दृष्टि है कि गरीब के आँसुओं से नहाकर कोई नारायण बनता है। नारायण की यह नई परिभाषा है। कवि कहता है कि जब मातृभूमि पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ी हो जनता भूखों बिलख रही हो तब रूप-पूजा का अवसर नहीं होता।

दिनकर स्वत्व के संघर्ष के हिमायती थे स्वार्थ के संघर्ष के नहीं। जब पश्चिम बंगाल के नोआखाली में साम्प्रदायिकता शबाब पर थी, तब उन्होंने 'तकदीर का बँटवारा' शीर्षक कविता लिखकर अपना क्षोभ व्यक्त किया। वे बलिदान और कुर्बानी का समर्थन करते हुए लिखते हैं –

किसने कहा पाप है समुचित स्वत्व प्राप्ति हित लड़ना,
उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना मरना,

दिल्ली पहुँचकर दिनकर ने दिल्ली को ठीक से देखा और जाना। दिल्ली की चकाचौंध और विलासिता से भरा जीवन कवि को रास न आया। उन्हें अपने गाँव और गाँव की खुली प्रकृति निरन्तर लुभाती रही। एक तरफ है दिल्ली का अधुनातन जीवन जिसके बारे में कवि लिखता है –

है विकल देश सारा अभाव के तापों से,
दिल्ली सुख से सोई है नरम रजाई में ।

यहाँ एक आस्थावान स्वर गूँजा है जिसमें शक्ति है, विश्वास है, कर्तव्यबोध है तथा गति और दिशा का भान है। विपन्नता से कातर कवि की कविता एक करुण तस्वीर पेश करती है। लगता है मानो उनकी कविता हवा का एक झोंका बनकर आ जायेगी और भूखे-नंगे इंसान की लज्जा का वसन बन उनकी लाज ढकेगी। दिनकर ने गाँव की गरीबी, निर्धनता, अभाव, शोषण, अन्याय तथा अत्याचार भोगा तथा देखा था। रक्त शोषण दानवों द्वारा हो रहा था जनता मूक बनी शोषण झेल रही थी। दिनकर उनके पक्षधर बनकर लिखते हैं –

जिन्होंने पर्वतों को काटकर मैदान कर डाला,
नदी संकेत पर जिनके, समेटकर गति बदलती है,
सुबह से शाम तक खटकर, पुरुष जो लौटता घर को,
...प्रिया से भी नहीं कहता कि मेरी बाँह दुखती है।

ऐसा कर्मठ कर्मयोगी 'दिनकर' की आकांक्षाओं का नायक है। मनुष्य का कर्म और संघर्ष ही सत्य है। कर्म जीवन का स्वत्व है और संघर्ष जीवन की ज्वाला। कर्मयोगी संसार के इस संघर्ष के कार्य में मग्न रहता है वहीं इसका ताप झेलता है। तपता है और अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। संसार को विकास के पथ पर ले जाने का कार्य भी वही करता है। कुरुक्षेत्र में भीष्म कहते हैं –

क्रिया धर्म को छोड़ मनुज कैसे निज सुख पायेगा,
कर्म रहेगा साथ भाग वह जहाँ-जहाँ जाएगा।

वेदान्त की निवृत्ति की व्याख्या के विपरीत विवेकानंद ने कर्मठ वेदांत का सिद्धांत प्रतिपादित किया तथा उसे जनता के सुख-दुख, आशा-निराशा और हर्ष और शोक के साथ जोड़ दिया। उन्होंने लिखा –*जब पड़ोसी भूखा मरता है, तब मंदिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं पाप है।*

'दिनकर' ने मध्यकालीनता बोध के विपरीत कहा कि – मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में असमर्थ है। जो आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है। माँ-बाप से विहीन बच्चों के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता। दिनकर लिखते हैं –

धर्मराज कर्मठ मनुष्य का, पथ संन्यास नहीं है,
नर जिस पर चलता वह मिट्टी है, आकाश नहीं है।

देश में एक ओर गरीबी का शोक था तो दूसरी ओर आजादी का जश्न। लोग गम और आँसू पीने के लिए विवश थे। असन और वसन भी नसीब नहीं था। ऐसे समय सर्वहारा के उद्धारक के रूप में दिनकर का आना यदि न हुआ होता तो 'कस्मैदेवाय' कविता कैसे लिखी जाती, जहाँ कवि कहता है –

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है,
अरी! हृदय को थाम महल के लिए झोपड़ी बलि होती है।

अपनी इस जनता पर कवि को अपार विश्वास था। उसकी कर्मठता और कर्मशीलता में अटूट आस्था थी। ऐसी जनता जिस दिन जागेगी, आततायी व्यवस्था का सर्वनाश अवश्यंभावी है। 'दिनकर' मानो जनता की शक्ति का आख्यान लिखते हुए कहते हैं –

हुंकारों से महलों की, नींद उखड़ जाती है

ऐसे मानव दीप्त आत्मविश्वास की अभिव्यक्ति 'चाँद और कवि' शीर्षक कविता में भी हुई है। मनुष्य के सृजन और निर्माण की क्षमता स्वर्ग को चुनौती देती है। जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तब *परशुराम की प्रतीक्षा* की रचना संभव हुई। 'दिनकर' को यहाँ कहने में संकोच नहीं कि लोकतंत्र यदि प्रतिभातंत्र नहीं बनता तो देश का अस्तित्व ही संकटापन्न हो जाता है। दिनकर कहते हैं –

पर्वत पति को आमूल डोलना होगा,
शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा,
असि पर अशोक को मुंड तोलना होगा,
गौतम को जय जयकार बोलना होगा।

आस्था दिनकर के काव्य की धुरी है तथा असफलता और आघात से उनकी रचना हुई है। आस्था बाद में पिघलकर 'हारे को हरिनाम' बन जाती है। दिनकर लिखते हैं – *साहित्य में यह नहीं होता कि कवि ने सड़क पर एक थप्पड़ खाया और घर में आकर वह उसकी कविता बनाने लगा। जिन घटनाओं से कवि का जीवन-दर्शन बदलता है, जो आदमी के देखने की दिशा बदल देती हैं, उसे कविता बनने से पूर्व कवि के रक्त में घुलने के लिए समय चाहिए। जब यह दर्द मेरे अणु-अणु में फैल गया, मैं एक प्रकार की विचित्र कविता लिखने लगा।* यहाँ यह स्पष्ट है कि आस्था भाव के साथ आत्मनिवेदन सृजन का आधार है। यहाँ तक आते-आते दिनकर निराला की कविता 'रेत ज्यों तन रह गया' को साधते हैंः 'हारे को हरिनाम' लिखकर मैंने आशा की थी कि मेरी विनय पत्रिका पूरी हो गयी।

इस प्रकार रचनाकार अपने अनुभवों को चिंतन के बिना किसी व्यायाम की सहज भाषा में बाँध सका है। यथार्थ की पथरीली भूमि पर आज के दृढ़ और कर्मठ मनुष्य की भाँति वह अपनी सघन अनुभूति को नवीनता प्रदान करता है। काव्यानुभव भाषा की तनी हुई रस्सी पर नृत्य करने जैसा है। जीवन और जगत के साथ निरन्तर अपनी चेतना का संघर्ष करते हुए जो संवेदनात्मक विवेक अर्जित हुआ वही वस्तुपरकता और तटस्थता के साथ दिनकर की रचनाओं में भाषा के धरातल पर दिखाई पड़ा। कहीं भाषा में एक एनार्की (व्यंग्यात्मकता) है जो कटु जीवनानुभवों की गवाही देती है; तो कहीं व्यवस्था की विद्रूपता सपाट ढंग से भी प्रस्तुत हुई है।

7/177, शिवनेरी बिल्डिंग, सायन माटुंगा रोड, सायन पश्चिम
मुंबई (महाराष्ट्र) – 400022

दिनकर का कुरुक्षेत्र

अशोक कुमार सिंह

उत्तर-छायावादी युग के प्रमुख कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविता पर राष्ट्रीयता की छाप अधिक होने के कारण उन्हें 'राष्ट्रकवि' का सम्मान प्राप्त है। दिनकर का बाहरी व्यक्तित्व जितना प्रखर था, आंतरिक व्यक्तित्व भी उतना ही सजग, चिंतक और ओजस्वी था। ऐतिहासिक मिथक पात्रों के माध्यम से वर्तमान समस्या पर गंभीर चिंतन दिनकर के काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यहाँ हम दिनकर के काव्य-चिंतन को समझने के लिए 'कुरुक्षेत्र' को आधार बनाते हैं।

युद्ध मानव जीवन की एक त्रासदपूर्ण समस्या है और अपने प्रबंध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से 'दिनकर' ने भीष्म और युधिष्ठिर का आलंबन लेकर युद्ध के परिणाम की विवेचना करते हुए प्रेम, करुणा और क्षमा जैसे मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा की है। 'कुरुक्षेत्र' कविता पाठक के मन में उथल-पुथल मचाने की क्षमता रखती है, लेकिन यह भी सच है कि पाठक की सोच का दायरा बढ़ाती है और स्वतंत्र चिंतन के लिए प्रेरित करती है। इस कविता में युधिष्ठिर का द्वंद्व आधुनिक मनुष्य का द्वंद्व है। 'कुरुक्षेत्र' का आरंभ ही युद्ध समाप्ति के बाद होता है।

'कुरुक्षेत्र' पढ़ते समय प्रथम सर्ग की प्रथम पंक्ति है- *वह कौन रोता है वहाँ/ इतिहास के अध्याय पर।* यहाँ 'वह कौन' धर्मराज युधिष्ठिर तक ही सीमित नहीं है बल्कि यहाँ हर वह व्यक्ति रोने वाला है, जो युद्ध का विरोधी है। युद्ध के बाद लाशों के ढेर को देखकर विजयी पुरुष का मन धिक्कार उठता है खुद को, क्योंकि चंद दिनों के युद्ध के बाद जिंदगी वर्षों तक रोती है। इसी सर्ग की एक पंक्ति उपरोक्त बात सिद्ध करती है- *हर्ष का स्वर जीवितों का व्यंग्य है।*

दूसरे सर्ग में, युधिष्ठिर अपने व्यथित मन के साथ भीष्म के पास पहुँचते हैं। भीष्म उन्हें समझाते हुए कहते हैं कि इस संसार में जब तक भिन्न स्वार्थ हैं, युद्ध भी अनिवार्य है और इस अनिवार्यता पर खिन्न होना या पश्चाताप करना व्यर्थ है। भीष्म के माध्यम से कहा गया है- छीनता हो स्वत्व कोई *और तू/ त्याग बल से काम ले यह पाप है।* व्यक्ति के प्राणों के अंदर जो कल्याणकारी हृदय है, वही रक्तरंजित मानव समूह देखकर रोता है। मनुष्य के स्वाभाविक गुण धर्म, दया, त्याग, करुणा आदि हैं, परंतु समुदाय हित में उसे अपने उपरोक्त गुणों को छोड़ना पड़ता है।

युद्ध के कारणों पर चर्चा करते हुए तृतीय सर्ग में कहा गया है कि संसाधनों पर बराबरी का अधिकार ही शांति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। *न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिले, तो लड़ के तेजस्वी छीनते समर को/ जीत या कि खुद मर के।* इन पंक्तियों के माध्यम से मार्क्स के समाजवादी व्यवस्था की सार्थकता पर विचार किया गया है, जहाँ अन्याय से उपजे असंतोष की चिंगारी को आमने-सामने की लड़ाई ही बुझा सकती है। आवश्यकता पड़ने पर अनुनय-विनय की जगह पौरुषता का प्रदर्शन भी स्वत्व के अधिकार की रक्षा के लिए अनिवार्य हो जाता है। इस विषमतापूर्ण संसार में अधिकार प्राप्त वर्ग सुखभोग के लिए जिस शांति की दुहाई देता है, अंततः वही युद्ध का कारण बनता है। समय के गर्भ में चल रही कुछ गलतियाँ भविष्य में विकराल रूप धारण कर युद्ध का रूप ले लेती है। दिनकर कहते हैं कि महाभारत के युद्ध के पीछे भी शकुनि का दुस्साहस था। अंत में, युधिष्ठिर को महसूस होता है कि युद्ध ने कला, ज्ञान, विज्ञान और धर्म के सभी मूर्तिमान आधार को छीन लिया है और विजय के रूप में उनके हाथ सौंपा है – 'कुरुक्षेत्र' का विशाल मृत्यु प्रदेश और मरघटी उदासी। 'कुरुक्षेत्र' की पंक्तियाँ कहती हैं- *एक शुष्क कंकाल, युधिष्ठिर के जय की पहचान/ महाभारत का अनुपम दान।* विजयी युधिष्ठिर के हाथ लगी है करुणा, दुख-दीनता और खोखली समृद्धि। दिनकर कहते हैं कि युद्ध-विजय के लिए धर्मराज को भी अनीति और प्रपंच का सहारा लेना पड़ता है, इसे युधिष्ठिर से बेहतर कौन जान

सकता है? पर यही अनीति विजय के बाद भी मनुष्य को चैन से विजय का वरण नहीं करने देती और सब कुछ पाकर भी विजयी हाथ खाली रह जाता है।

छठे सर्ग में, युधिष्ठिर का व्याकुल मन दिनकर का ही व्याकुल मन है, जो भगवान से पूछता है कि इस दुनियाँ में दया और धर्म का दीपक कब जलेगा? आज की दुनियाँ द्वापर युग को काफी पीछे छोड़ चुकी है और विज्ञान का आश्रय लेकर आधुनिक मनुष्य प्रकृति को अपने नियंत्रण में करने लगा है। मनुष्य के लिए कुछ भी अलभ्य नहीं रह गया है, किन्तु यहाँ भी मनुष्य की अपनी सीमाएँ हैं। ज्ञान के शहर में आकर हृदय का गाँव कहीं छूट गया है, इस खतरे का संकेत दिनकर ने बड़ी खूबसूरती से अपनी इस कविता में दिया है। दिनकर की दृढ़ धारणा है कि ज्ञान के साथ-साथ मनुष्य के हृदय में दया, प्रेम, सहिष्णुता और कोमलता का भाव हो ताकि यह धरती जीने योग्य हो सके। इन पंक्तियों में यह भाव स्पष्ट है- *बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय/ जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय/ लक्ष्य क्या? उद्देश्य क्या? क्या अर्थ?/ यह नहीं ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ।*

दिनकर का कोमल मन मनुष्य से मनुष्य के संबंध को सर्वोपरि मानता है और इसे ही शांतिमय विश्व के लिए काम्य मानता है। मानवता में घोर आस्था रखने वाले कवि की पंक्तियाँ *अन्त नहीं नर पंथ का, कुरुक्षेत्र की धूल/आँसू बरसे, तो यहीं खिले शांति के फूल /* जीवन की राह दिखाती प्रतीत होती हैं। कर्मवादी कवि मनुष्य के भाग्य का निर्धारक उसके श्रम और शक्ति को मानता है। यह वसुधा मनुष्य के श्रम से ही उर्वर बनी है, किन्तु मनुष्य के स्वार्थ ने ही उसे दूसरे मनुष्य का वैरी बना दिया है। आज मनुष्य सबसे ज्यादा डरा रहता है, तो मनुष्य से ही और एक दूसरे के प्रति अविश्वास ही उसे अकेला बना रहा है। दिनकर 'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से कहते हैं कि या तो व्यक्ति अपना हित साधकर खुद सुखी बन जाए या औरों को भी साथ लेकर आगे बढ़े और सर्व कल्याण के लिए प्रयासरत हो। पहली स्थिति में, व्यक्ति चाहे अपना इच्छित प्राप्त कर ले, पर उसके हाथ खालीपन ही लगेगा, लेकिन दूसरी स्थिति में उसे अपार शांति मिलेगी।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कुरुक्षेत्र' युद्ध की निराशा पर ही विचार नहीं करती, बल्कि युद्ध के बाद बचे जीवन को भी पुनः सँवारने की बात करती है। दिनकर मन के भीतर के शत्रु पर विजय पाने की बात करते हैं, जिसे संयम, निष्काम कर्म और शांति से जीता जा सकता है। दिनकर ने युद्ध को साध्य माना है, साधन नहीं। 'कुरुक्षेत्र' का अंतिम लक्ष्य है- प्रेम, करुणा और क्षमा पर आधारित मानवतावाद। दिनकर की यह विचारपरक कविता वर्तमान युग में अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करती है और मनुष्य में जीवन के प्रति आशा का संचार करती है।

ग्रा.-पड़वा, पो.-नोनसारी, जिला-रोहतास, (सासाराम) बिहार-802215

संस्मरण

देवव्रत प्रसाद श्रीवास्तव

वर्ष 1950 में मैंने लंगट सिंह महाविद्यालय में नामांकन कराया। उस समय हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद पर निष्णात विद्वान पं. श्री रामदीन पाण्डेय जी कार्यरत थे। किन्तु दो-तीन माह में ही सेवानिवृत्त होकर वे कॉलेज से विदा हो गये। शीघ्र ही उस पद पर श्री 'दिनकर' जी की नियुक्ति की सुखद सूचना से सभी छात्रों तथा हिन्दी विभाग में उल्लास की लहर दौड़ गई।

तीसरे दिन ही विराट् व्यक्तित्व के धनी दिनकर जी का शुभागमन हुआ और उन्होंने अपना कार्यभार ग्रहण कर लिया। दो-तीन दिनों के बाद ही वे हिन्दी ऑनर्स के तृतीय वर्ष की कक्षा में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अध्यापनार्थ आये, जिसका मैं छात्र था। उस दिन की उनकी अतिशय आकर्षक विद्वतापूर्ण अध्यापन कला से हम सभी छात्रों का एकमत से यही निष्कर्ष था कि दिनकर जी एक महान राष्ट्रकवि ही नहीं अपितु साहित्य मर्मज्ञ एवं पाठ्य विषय के अप्रतिम, निष्णात विद्वान भी हैं।

दूसरे दिन, वे हमारे वर्ग में डॉ. श्यामसुन्दर दास लिखित 'साहित्यालोचन' पुस्तक का अध्यापन कर रहे थे। पढ़ाते समय अनेक आर्य ग्रंथों, उपनिषदों एवं रस सिद्धांत के सहारे नीरस विषय को भी रसमय बनाने में वे सिद्धहस्त थे। उनके अध्यापन से यह भी ज्ञात हुआ कि वे आर्य ग्रंथों के अद्भुत अध्येता एवं रस-सिद्धांत मर्मज्ञ महापंडित भी हैं। एक बार रस सिद्धांत की विवेचना करते हुए उन्होंने कहा- *ब्रह्म से अद्यावधि उद्भूत असंख्य आत्माएँ भी पूर्ण हैं। उसके बाद भी उस पारब्रह्म परमात्मा की पूर्णता में किंचित भी कमी नहीं हुई ओर वह पूर्ण ही हैं।* उपनिषद् में अंकित यह श्लोक दिनकर जी को शायद याद नहीं था। वे जानते थे कि मुझे संस्कृत साहित्य का स्वल्प ज्ञान है। उन्होंने कहा- *देवव्रत! यदि तुम्हें उक्त श्लोक याद हो तो सुनाओ।* मैंने कहा महोदय! मुझे स्मरण है और सुना दिया।

'दिनकर' जी की अपने छात्रों से केवल लेखन में ही भाषा की शुद्धता की अपेक्षा नहीं थी, अपितु वे पारस्परिक वार्तालाप में भी भाषा की शुद्धता के पक्षधर थे। एक बार मैंने उनसे जाकर पूछा - *महोदय हमलोग जो टेस्ट की परीक्षा दिये थे, उसमें प्राप्त अंक जानना चाहता हूँ।* उन्होंने कहा -*फिर बोलो, क्या बोला था।* मैं समझ गया और कहा- *हमलोगों ने जो टेस्ट परीक्षा दी थी, उसके प्राप्तांक जानने की इच्छा है।* उन्होंने मुस्कुराकर कहा- *हमें बोल चाल में भी भाषा की शुद्धता पर ध्यान देना चाहिए।* उनके सानिध्य के अत्यल्प दो वर्षों के और भी अनेक संस्मरण हैं।

मुजफ्फरपुर, बिहार - 842001

उन्होंने आशीर्वाद दिया, राष्ट्र-सेनानियों पर लिखते रहो

शिवकुमार गोयल

राष्ट्रकवि श्री दिनकर जी की कविताएँ पढ़-पढ़कर मैं राष्ट्रभक्ति व भारतीयता की प्रेरणा किशोरावस्था से ही लेता रहा हूँ। सन् 1962 में, चीन द्वारा भारत की सीमा पर किए गए आक्रमण ने दिनकर जी के हृदय को झकझोर डाला था। उन दिनों दिनकर जी राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत राज्यसभा सदस्य थे। एक दिन दिनकर जी हिन्दी सेवी बाबू गंगाधर जी सिंह तथा प्रखर सांसद प्रकाशवीर शास्त्री के साथ संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष में बैठे हुए थे। चीन के आक्रमण से सभी क्षुब्ध थे। दिनकर जी ने अपने दोनों मित्रों से कहा; *भाई आत्मा नोच रही है कि दिनकर तू कवि होते हुए भी मौन क्यों है? क्या यह कवि-धर्म के साथ देश के साथ विश्वासघात नहीं है?*

और उसी के बाद, दिनकर जी ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' महाकाव्य का लेखन शुरू कर दिया। उन्होंने अपने इस महाकाव्य में अहिंसा के नाम पर देश को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली न बना पाने वाले शासकों को आड़े हाथों लिया था। उन्होंने लिखा था; अहिंसा कायरों का नहीं, वीरों का आभूषण होती है। उन्होंने राष्ट्र की रक्षा के लिए हिंसा को भी राष्ट्रधर्म की संज्ञा दी थी।

सन् 1966 में पहली बार, श्री प्रकाशवीर शास्त्री के केनिंग लेन, नई दिल्ली स्थित निवास स्थान पर मुझे अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रेरणा देने वाली इस महान विभूति के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं 'हिन्दुस्तान समाचार' (संवाद समिति) के दिल्ली मुख्यालय में रिपोर्टर था। शास्त्री जी के साथ रहता था। मैं उनके चरणस्पर्श कर अभिभूत हो उठा था। मैंने अपनी लिखी 'हिमालय के प्रहरी' पुस्तक उन्हें भेंट की, तो उन्होंने पीठ थपथपाकर मुझे आशीर्वाद दिया कि राष्ट्र की स्वाधीनता और सुरक्षा के लिए बलिदान देने वाले असली राष्ट्रभक्तों पर कुछ न कुछ निरन्तर लिखते रहो।

अरे, युद्धभूमि में संघर्ष करते-करते प्राणोत्सर्ग करने वाले ही तो देश के असली प्रहरी होते हैं। तुमने चीन के आक्रमण का मुकाबला करते-करते प्राणोत्सर्ग करने वालों की सच्ची कहानियाँ 'हिमालय के प्रहरी' में लिखी हैं- उससे तुम्हारा लेखन सार्थक हो गया है। उनके इन शब्दों ने मुझे लेखन क्षेत्र में बहुत प्रेरणा दी थी।

सन् 1965 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान, लाहौर के डोगराई क्षेत्र में अनेक पाकिस्तानी टैंकों को चकनाचूर कर, शौर्य-प्रदर्शन करते हुए मेजर आशाराम त्यागी ने वीरगति प्राप्त की। मेजर आशाराम त्यागी को अनुपम शौर्य-प्रदर्शन के लिए राष्ट्रपति द्वारा मरणोपरान्त महावीर चक्र से विभूषित किया गया। आशाराम त्यागी, गाजियाबाद जनपद के मोदीनगर क्षेत्र के ग्राम फतेहपुर में चौ. सगुवा सिंह त्यागी के पुत्र के रूप में जन्मे थे। एक दिन प्रकाशवीर शास्त्री जी, दिनकर जी तथा तारकेश्वरी सिन्हा आदि को गाँव में आयोजित हुई श्रद्धांजलि सभा में ले गए। पत्रकार के नाते श्री रामावतार त्यागी तथा मैं भी फतेहपुर गाँव उनके साथ गये। दिनकर जी ने शहीद आशाराम के माता-पिता के चरणस्पर्श किए। दिनकर जी ने आशाराम त्यागी को श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए कहा था- *तुमने दिया राष्ट्र को जीवन, राष्ट्र तुम्हें क्या देगा?/ अपनी आग तेज करने को, नाम तुम्हारा लेगा।* दिनकर जी की ओजस्वी वाणी से उपरोक्त पंक्तियाँ सुनकर आँखें सजल हो उठी थीं। आदरणीय दिनकर जी से मेरा परिचय बस इतना ही था।

एक दिन वे आध्यात्मिक विभूति आनन्दमयी माँ के दर्शन करने के बाद दिल्ली लौटे और प्रकाशवीर जी के निवास स्थान पर पहुँचे। मुझे देखते ही बोले, आनन्दमयी माँ के पास तुम्हारे पिता श्री (भक्त रामशरणदास जी) से भेंट हुई थी। मैं तो उनके धर्म व पुनर्जन्म संबंधी लेख 'कल्याण' में निरन्तर पढ़ता रहा हूँ। उन्होंने माँ को पुनर्जन्म की एक घटना सुनाई, मैंने भी आँखों देखी एक अनोखी घटना उन्हें सुनाई।

प्रकाशवीर शास्त्री के निवासस्थान पर प्रायः साहित्यकारों, पत्रकारों की गोष्ठियों का आयोजन होता रहता था। गंगाबाबू, दिनकर जी, धर्मयुग के संपादक डॉ. धर्मवीर भारती, शंकर दयालसिंह जी, रघुवीरसहाय, डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, अक्षयकुमार जैन, गोपाल प्रसाद व्यास, भवानीप्रसाद मिश्र, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी व रमानाथ अवस्थी आदि की उपस्थिति गोष्ठियों को गरिमा प्रदान करती थी। मुझे इन सबकी सेवा-सुश्रुषा करने का सहज ही में सुयोग प्राप्त हो जाता था और इन विभूतियों के संस्मरण लिखने का अवसर मिल जाता था। जब कभी धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादम्बिनी, नंदन आदि में मेरा लेख या साक्षात्कार प्रकाशित होता, तो दिनकर जी यदा-कदा मेरा उत्साहवर्द्धन करने के लिए उसकी चर्चा कर दिया करते थे। वे कहते, *स्वाधीनता सेनानियों के त्याग-बलिदान के प्रसंग युवा-पीढ़ी में राष्ट्रभक्ति की ऊर्जा पैदा करते हैं, ऐसे संस्मरण निरन्तर लिखते रहा करो।* उनके ये शब्द मेरे लिए प्रेरणा स्रोत थे। मैंने उन्हें अपनी लिखी 'अमर सेनानी वीर सावरकर' पुस्तक भेंट की। उन्होंने तीसरे दिन, जब मैं उनके दर्शन के लिए गया था, कहा, *मैंने पुस्तक पर निगाह डाली थी। ऐसे महान क्रांतिकारी राष्ट्रभक्तों पर लिखा ही जाना चाहिए। सावरकर तो असंख्य क्रांतिकारियों के प्रेरणास्रोत हैं। उन्होंने अपनी जवानी कालापानी में तिल-तिल कर गला दी। उन पर महाकाव्य लिखा जाना चाहिए।* सन् 1970 में, पाञ्चजन्य (साप्ताहिक) ने 'भारत मेरा देश' विशेषांक प्रकाशित करने की घोषणा की। श्री दिनकर जी तथा आचार्य जे.बी. कृपलानी से साक्षात्कार की जिम्मेदारी मुझे सौंपी गई। मैंने दूरभाष कर उनसे समय माँगा तो बोले-*अरे, शिवकुमार! तुम्हारे लिए तो मेरे द्वार सदैव खुले रहते हैं।* उन्होंने अगले दिन (31 मई 1970) का समय दिया। पूरे एक घन्टे तक, वे मेरे प्रश्नों का उत्तर देते रहे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि धर्म, जाति, भाषा गौण हैं। राष्ट्रहित को सर्वोच्च महत्व दिया जाना चाहिए।

22 जून 1970 के पाञ्चजन्य के विशेषांक में, मेरा उनसे लिया साक्षात्कार प्रकाशित हुआ। मैं उन्हें विशेषांक भेंट करने पहुँचा। देखते-देखते उन्होंने पूरे अंक के पन्ने पलट डाले। बोले, राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत अच्छी सामग्री का संकलन किया गया है।

एक बार बाबा मुक्तानंद परमहंस तथा आनन्दमयी माँ पर मेरे लेख किसी पत्रिका के विशेषांक में प्रकाशित हुए। दिल्ली से पटना जाते समय ट्रेन में उन्होंने लेख पढ़ डाले। दिल्ली लौटने पर भेंट हुई, तो बोले, वास्तव में इन दोनों विभूतियों ने मुझे भी प्रभावित किया है। इन दोनों के चरणों में बैठते ही अनूठी आत्मिक शांति की अनुभूति मैं कर चुका हूँ। वास्तव में, दिनकर जी जैसी साहित्यिक विभूतियाँ ही हमारे देश की वास्तविक धरोहर हैं। उनकी राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत ओजपूर्ण कविताएँ युगों-युगों तक युवा पीढ़ी को प्रेरणा देती रहेंगी।

भक्त रामशरणदास भवन, बीचपट्टी, पिलखुवा, गाजियाबाद- 245304 (उ0प्र0)

उर्वशी की कथा

रंजना भाटिया

एक मिथ-कथा को लेकर 'उर्वशी' की रचना की गयी है। पुरूरवा चंद्रवंशी राजकुल का प्रवर्तक था और उर्वशी स्वर्गलोक की अप्सरा। मित्र और वरुण देवताओं के शाप के कारण उसे पृथ्वी पर उतरना पड़ा। पृथ्वी पर उतरते वक्त पुरूरवा ने उसको देखा और उस पर आसक्त हो गया। बाद में उर्वशी भी उसकी सुंदरता, सच्चाई, भक्ति और उदारता जैसे गुणों के कारण उस पर मुग्ध हो गयी। दोनों पति-पत्नी बन गये। बहुत दिनों तक सुख से रहने के बाद एक पुत्र को जन्म देकर उर्वशी वापस स्वर्गलोक चली गयी। पुरूरवा उसके वियोग में पागल हो गया। उर्वशी प्रसन्न और द्रवित होकर वापस धरती पर लौटी और एक और पुत्र को जन्म दिया। इस तरह उनके पाँच पुत्र हुए पर वह बार-बार स्वर्ग चली जाती थी। लेकिन पुरूरवा तो उसको जीवनसंगिनी बनाना चाहता था। गंधर्वों के अनुसार उसने यज्ञ किया और उसका मनोरथ पूरा हुआ। दिनकर जी ने *विक्रमोर्वशीयम्* और रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचना *उर्वशी* पढ़ी थी, पर इसमें किसी का दोहराव नहीं है। *उर्वशी* में लगातार एक द्वंद्व चलता है। पुरूरवा पूछता है-

रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है?
स्नेह का सौंदर्य को उपहार
रस चुंबन नहीं तो क्या है?

उर्वशी में पुरुष और स्त्री के बीच प्राकृतिक आकर्षण, काम भावना के कारण उत्पन्न प्रेम और फिर इस प्रेम के विस्तार को मापने की कोशिश की गयी है। इस संबंध में कवि ने जो कुछ कहा है, वह बहुत उपयोगी है:

काम का उपयोगी पक्ष गौण, उसका ललित पक्ष प्रधान है। काम का ललित पक्ष क्या है? प्रेम...फिर प्रेम क्या है? प्रेम संतानोत्पादन के साथ-साथ आनंद का उत्कर्ष भी है वह शारीरिक होने के साथ रहस्यवादी अनुभूति भी है, प्रेम का यही दूसरा पक्ष कवि को अपनी ओर खींचता है।

उनके अनुसार एक आत्मा से दूसरी आत्मा का गहन संपर्क अध्यात्म की भूमिका बन सकता है। पुरूरवा में उर्वशी को देखकर कामाग्नि प्रज्ज्वलित होती है। वह ताप का अनुभव करता है, जो सुख उसको उर्वशी के साथ रहने में मिलता है वह उसको खुलकर प्रकट नहीं करना चाहता। यही मानव का स्वभाव भी है! पुरुष में आग है, नारी में शीतलता है। पुरुष की काम चेतना उसको निरंतर रूप के आस्वादन का निमंत्रण देती है। रूप के इस आस्वादन के बाद ही यह आग ठंडी होती है। विडम्बना यही है कि नारी के स्पर्श के बाद भी पुरुष का मन बेचैन रहता है। यह एक सामान्य मनोविज्ञान है। पुरूरवा में यह उथल-पुथल मानसिक तौर पर चलती रहती है। वह प्रेम के साथ उससे परे सूक्ष्म अनुभूति को पाने की भी इच्छा रखता है।

सी-1/121, लाजपत नगर, नई दिल्ली - 110024

दिनकर : एक बलंद आवाज

दिव्याभ नंदन

कहीं दूर नक्षत्रों से वह चेहरा
संकेत अनेक प्रेषित करता है
अपने देदीप्यमान संस्कारों के,
करवटें बदला करता है...
समझें जो अभिव्यक्ति उसकी
आधार विनय का वह देता है...

व्यक्तित्व था वह क्षितिज सकल
अप्रतिम ज्ञान की दीर्घ लकीर
वैशिष्ट्य ओजमय काव्य दृष्टि से
भारत का जिसने सुप्रभात देखा
सिमरिया गाँव से टाँग वह झोला...

बीज क्रांति का लिए हृदय में
दिनकर बन, वीरों का आह्वान किया
हिन्दी की गौरव मशाल जलायी
भावी जगत का उद्घोष किया
उत्साह विद्यार्थियों का कलमबद्ध कर
राष्ट्राभिमान भवितव्य की ओर मुखरित किया...

उर्वशी की आत्म-सौन्दर्य से संस्कृति
के कई गंभीर अध्याय लिखे...
कुरुक्षेत्र में बिखरी ज्ञान महिमा को
चुनकर बनाया अध्यात्म महल
चिंतन जो बन गये अक्षर...शोध
संस्कृति में व्याप्त होकर उद्देश्य
लिए राष्ट्र पीढ़ी का उत्थान...

गूँज रही आज-भी काव्य शैली उनकी
चंचल किशोरों के तन-मन में
हुंकार करता हुआ नवयुवक अग्रसर है
अपने दिव्य क्रांति के पथ पर
जीवन लक्ष्य साध्य हुआ था
शब्द खिला जब पंखुड़ियाँ बनकर
गहन आदर्श शांत ज्वाला का
संधान किया कर्ण बनकर...

रश्मिरथी है वह मनोविज्ञान
कविवर का अंतर्दृष्टि विस्तार
युवकों के भीतर नित्य होते महाभारत
कुंठित उमंग अज्ञान भूमि में
चैतन्य का वह महा-अवसान
रुँधा हुआ कल आच्छादित भविष्य
रोज ही करते एक विषपान...
खोला द्वार कर्ण के द्वारा
विचलित मन को शांत किया
जख्मों से फूटते फव्वारे... लेप स्नेह का
लगाकर उपासना से मानवता में मुस्कान दिया...

पीढ़ी-दर-पीढ़ी जब कभी सुनेगी उनकी
रचनाओं के हर्ष गीत
प्रेरणा पंकिल शब्दों में ऊर्जा की
अभिव्यक्ति उड़ेल उदासी शिखर पर
कर्मठ स्वरूप निहित वीरता का सूत्रधार करेगी...

राष्ट्रकवि वह नूतन दीपक,
भारत का सच्चा महानायक
सागर जैसी गर्जना थी उनमें
विद्यार्थियों के लिए नया जागरण
सत्य... कोलाहल बनकर उफनता था
साहस का समर बाँधे हुए...
आवाज भविष्य की मौन प्रेम का
गौरव और प्रतीक शांति का
अवर्णनीय सक्षम उद्यमी कदम बढ़ाया
तीसरे विश्व... नई राह की ओर...

उद्घोषक थे क्रांति के वह शाश्वत ज्ञान की पराकाष्ठा भी
समग्रता के प्रतिबिंब थे वह, आत्म-सिक्त आगाज भी
याद करें उनकी कार्यशैली और गहराई टटोलें आत्मा की
लेकर चलें कलम उनकी ही, जोड़ें कड़ी अभिनव जीवन की।

हमारे दिनकर चाचा

डॉ. महेन्द्र कुमार बेनीपुरी

महान साहित्यकार, स्वतंत्रता सेनानी, समाजवादी चिंतक श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के परिवार में उनके सबसे छोटे पुत्र के रूप में जन्म लेने के कारण मेरा बचपन, हमारी किशोरावस्था तथा कुछ हद तक जवानी भी क्रांतिकारियों, लेखकों, कवियों और राजनीतिज्ञों के सानिध्य में ही बीती। दिनकर चाचा हमारे परिवार के एक अभिन्न अंग थे। बाबूजी से उनकी अपार अंतरंगता थी।

अभी भी उनका गोरा चेहरा, लम्बी काया और हँसमुख व्यवहार याद है। जब हम बच्चे थे, हमें प्रतीक्षा रहती थी उनके आने की। जब भी आते, कवितायें सुनाया करते -मिर्च का मजा, आजादी का जश्न आदि कवितायें हमने उनके मुँह से सुनीं और उनके साथ उनका मजा लिया था। चीनी आक्रमण के बाद जब वे 'परशुराम की प्रतीक्षा' की पांडुलिपि लेकर बाबूजी के पास आये और उन्हें सुनाया तो बाबूजी ने बड़ाई करते हुए कहा था कि लगता है मेरा दिनकर फिर पुराना क्रांतिकारी दिनकर हो गया है।

बचपन की एक शैतानी जिसके कारण मुझे बाबूजी का थप्पड़ खाना पड़ा था, अभी भी याद है। दिनकर चाचा जब भी हमारे घर आते, मुझे देखते ही कहते *कहिए बेटा परमबाज राय!* इस वाक्य का अर्थ न तो उस समय जान पाया था और न तो आज तक जान सका हूँ। एक बार मैंने भर कुल्ला पीक उनके कुर्ते पर फेंक दी। पहली बार बाबूजी ने मुझे मारा था। बाद में भाभी ने कैसे-कैसे कर उनके कुर्ते का दाग छुड़ाया था।

आई.एस.सी. पढ़ने मैं राँची, फिर आगे की पढ़ाई करने मुजफ्फरनगर गया। इसलिए पटना से ही नहीं, दिनकर चाचा से भी मेरी दूरी बढ़ती गयी। बाबूजी का साहित्यिक अवदान दिनकर चाचा कभी नहीं भूले थे। उन्होंने लिखा है : *नाम का दिनकर मैं था, असली सूर्य बेनीपुरी थे। अगर बेनीपुरी नहीं होते तो दिनकर भी नहीं होता।*

जब दिनकर चाचा नवगठित भागलपुर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए, तब पटना डेरे पर आये थे। बाबूजी ने उनसे कहा, एम.एस.सी. की परीक्षा मैंने प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की है। वे गद्‌गद् हो गए। उन्होंने बाबूजी से कहा था कि मक्कू (मेरा घर का नाम) को मैं भागलपुर ले जा रहा हूँ, व्याख्याता में नियुक्ति करने। मैं भौंचक! फिर मैंने उन्हें बताया कि मैंने मेडिकल की पढ़ाई बाबूजी की इच्छा और बेनीपुर की सेवा के लिए छोड़ी थी। मैं मुजफ्फरपुर में ही प्रोफेसरी करूँगा। वे बहुत खुश हुए थे कि तू पूरा पितृभक्त है।

एक बार मेरे ममेरे भाई जमुना भैया ने दिनकर चाचा की ही कविता *कलम आज उनकी जय बोल* की पैरोडी सुना दी, जो उन्हें बहुत नागवार लगी। पहली बार मैंने उनका गुस्सा देखा था।

दिनकर चाचा को मैंने दो बार रोते हुए भी देखा था। पहली बार पारिवारिक कलह से ऊबकर बाबूजी के सामने रोये थे, दूसरी बार बाबूजी के दिवंगत होने पर अपनी पोती की शादी पर पाँच लाख रुपयों की माँग पर दुखी होकर। दिनकर चाचा से मैंने बाबूजी पर छोटी-सी कविता बनाकर देने का आग्रह किया था, जो उन्होंने झट स्वीकार कर लिया। कागज माँगा और तुरंत अपनी कलम से लिखा था-

जीवन से हम उतना प्यार नहीं करते
जितना मौत से डरते हैं।
जीने वालों का मोल थोड़ा होता है,
कीमती वो हैं जो मर जाते हैं।
जीवन ऊपर-ऊपर आनंद भोगता,
गहरी व्यथा केवल मृत्यु जगाती है।
बच्चन के साथ मैं हँसता-खेलता हूँ
याद मुझे बेनीपुरी की आती है।

बाद में यही लघु कविता या श्रद्धांजलि, आप जो कह लें, कादम्बिनी में छपी। ऐसे थे, हमारे प्यारे दिनकर चाचा!

473, द्वितीय तल, अशोका इन्क्लेव, III, सेक्टर-35, फरीदाबाद-121003 (हरियाणा)

दिनकर : साहित्य के सूर्य

रामविलास

दिनकरजी का व्यक्तित्व दिनकर का ही पर्याय था, जो स्वयं अहर्निश तपकर जीव जगत् में ऊर्जा का संचार किया करता है। दिनकरजी के शौर्य की चमक दिनकर की ही तरह युग-युगान्तर तक जन-जीवन को आलोकित करती रहेगी।दिनकरजी आजीवन आर्थिक कठिनाइयों से जूझते रहे। उन्होंने पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वहन बड़ी मुश्किल से किया। तमाम परेशानियों के बावजूद हिमालय-सा ऊँचा उनका उदात्त व्यक्तित्व कभी विचलित नहीं हुआ। वे सदैव एक धीर-वीर योद्धा की भाँति जीवन के कुरुक्षेत्र में डटे रहे। दिनकरजी ने स्वयं 'रश्मिरथी' में लिखा है-

बाधाएँ कब रोक सकी हैं, आगे बढ़ने वालों को;
विपदाएँ कब मार सकीं हैं, मरकर जीने वालों को।

दिनकर जी का व्यक्तित्व उनके द्वारा रचित महाकाव्य 'रश्मिरथी' के नायक दानवीर कर्ण की भाँति है, जो जीवन के द्वंद्व से बाहर निकलकर कर्तव्यपथ पर अपने आपको बलिदान कर देता है। राष्ट्रकवि दिनकर आजीवन अन्याय, अत्याचार, शोषण और विषमता के विरुद्ध हुंकार भरते रहे। आर्थिक असमानता को वे समाज का दीमक मानते थे। देश के सर्वांगीण विकास के लिए सामाजिक एवं आर्थिक समानता को एक अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार करते थे।

सामाजिक समस्याएँ यथा स्त्रियों का शोषण और बच्चों की भूख दो ऐसी चीजें हैं, जो दिनकरजी को क्रांति के लिए सबसे अधिक प्रेरित करती रहीं। 'हाहाकार' शीर्षक कविता में भूख और दूध के लिए बच्चों की तड़प और चीत्कार का उन्होंने ऐसा वर्णन किया है, जो पत्थरदिल को भी पिघला सकता है।

कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है,
दूध-दूध की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है।

दिनकर जी केवल कवि ही नहीं, उच्चकोटि के मनीषी विचारक भी थे। 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध के विध्वंसकारी परिणाम पर विचार कर उन्होंने अपने वैदुष्य का अच्छा परिचय दिया है। 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर कविवर दिनकर के अभ्यान्तर संवाद के दोनों पक्षों के प्रतीक हैं और उनके विचार-विमर्श को ही काव्य की भाषा में प्रस्तुत करते हैं। जीवन की उन समस्याओं की गहराईयों में उतरकर दिनकरजी ने 'कुरुक्षेत्र' में विचार किया है, जो उस युग में शांति, अहिंसा, विश्वप्रेम और मैत्री की पुकारों के बीच भी हिंसा, युद्ध और शत्रुता को बढ़ावा देती हुई प्रतीत होती हैं। दिनकर ने न्याय प्रक्रिया की विसंगतियों पर कटाक्ष करते हुए लिखा है-

चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर! स्वप्न की अन्वेषणा पातक नहीं है।

दिनकर ने युद्ध और शांति से परे जाकर भी ऐसी अनेक समस्याएँ उठायी हैं, जो मानवता के सामने यक्ष प्रश्न बनकर आज भी खड़ी है। दिनकर जी मानवधर्मी कवि थे। मानव कल्याण की विभिन्न प्रक्रियाओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखना उनका स्वभाव था।'संस्कृति के चार अध्याय' नामक अपने गहन चिन्तन एवं मननपूर्ण ग्रंथ में उन्होंने भारतीय संस्कृति की दीर्घकालीन यात्रा का भी शोधपरक दृष्टि से संधान किया है। कवि होने के वावजूद दिनकरजी ने जिस बारीकी से अनुसंधान किया है, वह अनोखा है। उन्होंने न केवल संस्कृति बल्कि भारतीय समाज के निर्माण, पुनर्निर्माण, जागरण, पुनर्जागरण का जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

सही मायने में, दिनकरजी नवजागरण के अग्रदूत, क्रांति के उद्‌घोषक एवं युग चेतना के सशक्त प्रतिनिधि कवि हैः

तुमने दिया देश को जीवन,
देश तुम्हें क्या देगा।
अपनी आग तेज करने को,
नाम तुम्हारा लेगा।

राजगीर, नालंदा (बिहार)

कोलकाता मित्र परिषद् भवन में दिनकर जी कविता पाठ करते हुए (16 दिसम्बर, 1973)

दिनकर जी, साथी कलमकारों के साथ

सुनहरे क्षण...

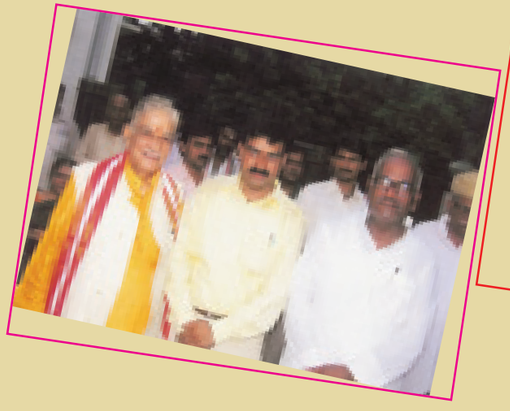

हृदकृतियों का सम्मान, कलाकी जयहो